स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्य

[परम्पराओं और प्रयोगों के परिपार्श्व में]

राजस्थान विश्व-विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

डॉ० बनवारीलाल शर्मा

एम० ए० ; पी-एच० डी०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग

राजकीय महाविद्यालय

राजगढ़ (अलवर)

राजस्थान

रामा पब्लिशिंग हाउस

जयपुर-२

प्रकाशक :
राम अवतार अग्रवाल
संचालक,
रामा पब्लिशिंग हाउस
ई-131 एम० जी० डी० मार्केट
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर-2

प्रथम संस्करण–1972

मूल्य : पैंतीस रुपये मात्र

मुद्रक :
रामनारायण शर्मा
जयपुर मान प्रिंटर्स,
बागवानों का दरवाजा, जयपुर-३

दो शब्द

डॉ० बनवारीलाल शर्मा मेरे उन छात्रों में से हैं जो परिश्रम जो देवता और सिद्धि का आधान मानते हैं। उनसे मैं विगत १८-१९ वर्ष से परिचित हूँ और मैं यह भली-भांति जानता हूँ कि उन्होंने जो काम अपने हाथ में लिया उसको पूर्ण मनोयोग के साथ पूरा किया। उनको भक्त-हृदय मिला है। इसलिए वे फलाकांक्षा से प्रेरित होकर काम नहीं करते, अपना कर्त्तव्य समझकर उसे करते हैं। उन्होंने मुझसे कितनी ही वार कहा है—"गुरुजी, भगवान ने हमें जिस रूप में जो शक्ति दी है उसका पूरा सदुपयोग करके ही हम भगवान की ओर देखें। जो लोग पहिले से ही भगवान की ओर देखने लगते हैं उनकी क्रियाशक्ति शिथिल हो जाती है।" भक्ति-भाव का यह अनूठा आग्रह मुझे भी कई वार प्रेरणा दे चुका है। इस भाव में 'कर्मण्येमाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन' की सच्ची भाव-छाया दृष्टिगोचर होती है।

अपने शोध-प्रबन्ध के सम्बन्ध में भी उनकी क्रियाधर्मिता की पृष्ठभूमि में उक्त भाव ही प्रेरक तत्व के रूप में दिखाई पड़ा। आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों से सम्बन्धित अपनी रुचि को उन्होंने कभी शिथिल नहीं होने दिया और समय-समय पर मेरी रुची और परामर्शों का लाभ उठाकर इन्होंने जो प्रबन्ध योजना अन्तिम रूप में प्रस्तुत की वह मेरे लिए बड़ी तोषक सिद्ध हुई। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्ध काव्यों पर अधिक शोध ग्रंथ नहीं लिखे गये हैं, किन्तु परम्परा और प्रयोग के परिपार्श्व में इस क्षेत्र में स्फुट रूप से लेख भले ही लिखे गये हों, शोध-प्रबन्ध कोई नहीं लिखा गया। अतएव डॉ० बनवारीलाल ने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्य के अध्ययन को एक ही साथ दो दिशाएं दीं। एक ओर तो उन्होंने परम्परा को

भूमिका पर अज्ञेय रचनाओं का अनुशीलन किया और दूसरी ओर प्रयोगों के परिपार्श्वों में उनको देखा। इन दोनों कामों के लिए लेखक ने अपनी दृष्टि को सूक्ष्म बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इसमें 'सब कुछ है', मैं यह तो नहीं कहता किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसमें बहुत कुछ मिल सकता है, मेरी यह मान्यता है।

यह तो जानी-मानी बात है कि परम्परा एक पद्धति और प्रयोग एक दृष्टि है। इन दोनों के संयोग से ही कवि-मार्ग प्रशस्त होता है। यह कहने की भी आवश्यकता नहीं है कि सूरदास और तुलसीदास जैसे कवियों ने एक परम्परा का ही अनुसरण किया था किन्तु दोनों की मौलिक दृष्टियों का मूल्यांकन भागवत और वाल्मीकि-रामायण आदि ग्रंथों को सामने रखने पर ही किया जा सकता है।

इस ग्रंथ के लेखक ने दूसरों के मतों को भी दिया है और उनके सम्बन्धों में उचित तर्कों से आस्था-अनास्था भी व्यक्त की है किन्तु गवेषणा और आलोचना का समन्वित रूप उनकी तर्क दृष्टि में ही व्यक्त हुआ है। मुझे विश्वास है कि शोध ग्रंथों में ऐसी तर्कदृष्टि सम्मानित होने के लिए यह ग्रंथ प्रेरणास्पद सिद्ध होगा।

इस शोध-ग्रंथ में लेखक ने बड़ी मार्जित और संयत भाषा का प्रयोग किया है। संयत से मेरा तात्पर्य है ऐसी भाषा जिसमें सशक्त अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक शब्दों का ही प्रयोग है। भाषा में प्राञ्जलता का गुण सभी लेखक नहीं ला पाते हैं, डॉ० बनवारीलाल शर्मा ने इस गुण को आग्रहपूर्वक निर्वाहित किया है।

शोध ग्रंथ के समग्र नौ अध्याय इस प्रकार से जुड़े हुए हैं कि प्रबन्ध-कार्य की प्रबन्धपटुता साकार होकर सुपाठक के समक्ष आ जाती है। भूमिका और उपसंहार के बीच में व्यवस्थित सातों अध्याय भी एक दूसरे से बड़े कौशल के साथ सम्बद्ध किये गये हैं। प्रत्येक अध्याय में उसके अपने निष्कर्ष हैं और जिनमें लेखक का व्यक्तित्व उभरकर सामने आ जाता है।

यह कृति डा० शर्मा की शोध-कृति है जो पी० एच० डी० की उपाधि के लिए लिखी गई है किन्तु मैं इसे उनके लेखन का प्रारम्भ ही मानता हूं और आशा करता हूं कि डा० शर्मा अपने लेखन क्रम को सुरुचि से निभायेंगे।

मैं यह कामना करता हूँ कि उनका बुद्धिवैभव अपनी समग्र क्षमताओं से आविर्भूत होकर उनकी कीर्ति और सम्मान की अर्जना करें।

एक अध्यापक की अपने शिष्य की इस अर्जना से बढ़कर और क्या इच्छा हो सकती है।

अरुण कुटीर
जयपुर
दिनांक २-४-१९७२

सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
एम.ए; पी-एच.डी; डी लिट.
आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

अपनी बात

परम्परा और प्रयोग का काव्य के सृजन में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। ये दोनों ही साहित्य की धारा को निरन्तर गतिशील और प्रवहमान करते रहते हैं। परम्परा का सम्बन्ध अतीत से रहता है और प्रयोग का सम्बन्ध वर्तमान से। वस्तुतः परम्परा और प्रयोग एक दूसरे से विच्छिन्न और पृथक् नहीं कहे जा सकते। काव्य में जो आज परम्परा के स्थान पर है वही कभी प्रयोग के रूप में था और जो आज प्रयोग है वही भविष्य में परम्परा का स्थान ग्रहण कर लेगा। इस प्रकार परम्परा और प्रयोग दोनों सापेक्ष हैं और काव्य में दोनों की स्थिति अपना स्थान परिवर्तित करती रहती है।

अब समय है, जबकि हमें नये ढंग से भी सोचना और समझना चाहिये। यही कारण है कि 'परम्परा और प्रयोग' दोनों ही शब्दों की महत्ता को समझना अनिवार्य-सा हो गया है। हम न तो पूरे परम्परावादी ही होकर जी सकते हैं और न पूरे प्रयोगी होकर ही। इन दोनों का उपयुक्त और आवश्यक संयोग जीवन को नयी 'दृष्टि' और साहित्य को स्वस्थ एवं [illegible] गति दे सकता है।

स्वतंत्रता के उपरान्त हिन्दी काव्य में अनेक दिशाओं में आशातीत प्रगति हुई है। पराधीनता की शृंखला से मुक्त, स्वतंत्र देश का कवि उन्मुक्त वातावरण प्राप्त कर स्वतंत्र चिन्तन की ओर स्वभावतः ही अग्रसर हुआ है। परिस्थिति, दृष्टिकोण के अनुरूप कथ्य और शिल्प में भी परिवर्तन हुए।

[illegible] प्रवृत्तियों में परिवर्तित [illegible] स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। [illegible] प्रवृत्तियों का आगमन भी प्रचुर मात्रा में

विषयानुक्रमणिका

कैकेयी, सावित्री, शकुन्तला, शल्यवध, अन्धायुग, पांचाली, पार्वती, विदुलोपाख्यान, सति सावित्री, दमयन्ती, ऋतंवरा, एकलव्य, दशानन, कचदेवयानी, सेनापति कर्ण, ऊर्मिला, तारकवध, दानवीर कर्ण, कनुप्रिया, प्रेमविजय, रामराज्य, भूमिजा, उर्वशी, सारथी, अनंग, सदाशिवचरितामृत, गुरु दक्षिणा, कौन्तेयकथा, संशय की एक रात, पापाणी, कूबरी, आत्मजयी ।

(ख) अवैदिक परंपरा की कथावस्तु वाले प्रबंधकाव्य :— वर्द्धमान, अमृतपुत्र ।

(ग) ऐतिहासिक कथावस्तु वाले प्रबंधकाव्य:–विक्रमादित्य, देवार्चन, तप्तगृह, झांसी की रानी, तात्यांटोपे, विष्णुप्रिया, बाणाम्बरी, रत्नावली, प्रतिपदा आदि ।

२—आधुनिक एवं अर्वाचीन कथावस्तु वाले प्रबंधकाव्य :—

(अ) चरितात्मक-जननायक, जगदालोक, युगस्रष्टाः प्रेमचंद सरदार भगतसिंह, मानवेन्द्र ।

(ब) भावात्मक व चिन्तनात्मक कथावस्तु वाले प्रबंधकाव्य-मेधावी, ज्योतिपुरुष, कामिनी, लोकायतन ।

वस्तुगत प्रयोगों की मीमांसा—(१) प्राचीन परंपरागत मान्यताओं का पालन करने वाले प्रबंधकाव्य (२) अंशतः नवीन प्रयोग अपनाने वाले प्रबन्धकाव्य (३) सर्वथा नवीन प्रयोगों को अपनाने वाले प्रबन्धकाव्य ।

चरित्र-चित्रण

वैदिक परंपरा की कथावस्तु से सम्बन्धित पात्र-रामायणी पात्र-राम, सीता, लक्ष्मण, ऊर्मिला, कैकेयी, रावण, मन्दोदरी, धन्य मालिनी, सुलोचना, शूर्पणखा, कैकसी, अहल्या । पुराण एवं महाभारत से सम्बन्धित पात्र-कृष्ण, कर्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, शल्य, जयद्रथ, नल, एकलव्य, पुरूखा, नचिकेता, शृंगी-ऋषि, द्रौपदी, गान्धारी, कुंती, हिडिम्बा, दमयन्ती, पार्वती, राधा, उर्वशी ।

भूमिका

१ | भूमिका

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ युग और इतिहास ने नई करवट बदली। देश ने दुर्भाग्य और सौभाग्य को एक साथ देखा। भारत स्वतन्त्र हुआ, साथ ही उसको दो टुकड़ों में विभक्त होना पड़ा। कवियों का उत्तरदायित्व बढ़ा। अब तक कवियों का ध्यान स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर लगा हुआ था और वे राष्ट्र के हृदय में नवीन चेतना की उद्भावना में प्रयत्नशील थे, परन्तु अब उनका ध्यान राष्ट्रीय चेतना की ओर से हटकर व्यक्तिगत मान्यताओं की ओर जाने लगा।

नयी चेतना

स्वातंत्र्योत्तर काल साहित्य की दृष्टि से परिवर्तन-काल है। प्रबन्ध-काव्य प्रायः परिवर्तन-काल (ट्रांजिशनल पीरियड) में ही अधिक मिलते हैं। इस युग में प्राचीन शैली नवीन शैली को अधिकार सौंपती जाती है।[1] वस्तुतः इस काल में प्रबन्ध काव्यों का प्रणयन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इनमें नये आदर्श तथा शिल्प की दृष्टि से कतिपय नये प्रयोग मिलते हैं। इनमें आधुनिकता का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। पौराणिक आख्यान और पात्रों को निमित्त बनाकर आधुनिक मानव-जीवन के परिवेश और उसकी समस्याओं को अंकित करने व सुलझाने की दिशा में कवियों के प्रयत्नों की मौलिकता अविस्मरणीय है। 'मेधावी', 'कनुप्रिया', 'आत्मजयी', 'अन्धायुग', 'संशय की एक रात', 'उर्वशी', 'लोकायतन' आदि इस पद्धति की प्रमुख कृतियां हैं। इनमें गृहीत समस्याओं का रूप सार्वभौम और विश्वजनीन है। 'युद्ध' और 'प्रेम' को विभिन्न कवियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा है। इनके प्रणेता वर्तमान में जीते हैं और इसीलिये पौराणिक आख्यानों और पात्रों के माध्यम से अपनी मान्यताओं और व्यक्तिनिष्ठ अहंभाव को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं।

---

१. देखिये, डा० श्री कृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ९७।

परम्परा और प्रयोग की भूमिका

फिर भी यह कहना उचित न होगा कि स्वतन्त्रता के पश्चात् कवि ने परम्परा को ताक में उठाकर रख दिया है। परम्पराएं अपनी कड़ियों में ग्रथित नहीं हैं, वे नवीनता का सत्कार करती हुई आयी हैं। अतएव जहाँ कथा-वस्तु ने कवि-भावना को आन्दोलित किया है वहाँ शैली भी उसके सौन्दर्य-बोध को आलोकित कर देती है। नये युग के नये संदर्भों ने इस युग के कवि को नया जीवन-दर्शन दिया है। इस प्रकार स्वतन्त्रता ने कवि के सांस्कृतिक प्रवाह में नये मोड़ एवं नयी तरंगें पैदा करके उसे जो कुछ दिया है, वही तो स्वतन्त्रता के पश्चात् की कविता की अभिनव कहानी है।

परम्परा

परम्परा अत्यधिक विस्तृत शब्द है। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सन्निहित है। साहित्य, कला, धर्मशास्त्र एवं समाज-विज्ञान के क्षेत्र में परम्पराओं के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

"परम्परा में स्वीकृत विधियों, प्रथाओं तथा प्रणालियों का अनुसरण एवं दीर्घकाल से चली आती हुई विचारधाराओं की अभिव्यक्ति होती है। यदि किसी युग के मनुष्यों की कुछ अद्भुत एवं विचित्र बातों को तथा किसी दूसरे समाज से आई हुई अनुकरणमूलक प्रथाओं को छोड़ दें तो सामाजिक जीवन की सम्पूर्ण बातें परम्परा के क्षेत्र में समाविष्ट हो जाती हैं, जिनको समाज पीढ़ियों से ग्रहण करता चला आया है। परम्परागत आचार, व्यवहार, संस्था, भाषा, धर्म, विधि, नीति एवं लोकवार्ता, सब परम्परा ही के अंग हैं।"[1]

राष्ट्र, सम्प्रदाय, समाज, वर्ग, संस्था अथवा किसी जाति के संगठन में परम्पराओं तथा रूढ़ियों के तत्त्व विद्यमान होते हैं जो उन्हें युग-युग से अनु-शासित करते रहते हैं। टी॰एस॰ इलियट के अनुसार 'जिनसे एक ही देश के लोगों की जातीयता का भाव प्रकट होता है, जिनसे पारस्परिक समानता और एकरूपता स्थापित होती है, वे स्वभाव, स्वाभाविक कार्य, सामाजिक प्रथाएँ, धार्मिक विधियाँ, अभिवादन करने की प्रणालियाँ—सब परम्परा के अन्तर्गत हैं।'[2] इसमें सामाजिक विधि एवं निषेध का भी अन्तर्भाव हो जाता है। इस

---

1. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेज, जिल्द १५, पृ० ६६।
2. टी. एस. इलियट : सिलेक्टेड प्रोज़ : ट्रेडिशन, पृ० ९० एडीटेड बाई जान हेवार्ड।

प्रकार परम्परा, रूढ़ि, प्रथा, आचार, मान्यता, विश्वास, रीति सब एक ही वस्तु के रूपान्तर हैं। आशय यह है कि जिस क्षेत्र में कुछ विशिष्ट बंधी-बंधायी रीतियाँ, रूढ़ियाँ एवं प्रणालियाँ प्रस्थापित हो जाती हैं, उन्हीं को परम्परा में ग्रहण किया जा सकता है।

जान लिविंग्स्टन के मत से परम्परा में मूलतः दो तत्त्व प्रधान हैं—मान्यता और भ्रान्ति। इन दो तत्वों की ही आधार–शिला पर काव्य–क्षेत्र की समस्त परम्पराओं का प्रस्फुटन हुआ है। व्यक्ति दूसरों पर अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का आश्रय ग्रहण करता है। ये शब्द-ध्वनि संकेत हैं। इन शब्द–ध्वनियों से ही मनुष्य अपना अभिप्राय प्रकट करने में समर्थ होता है। ध्वनि से जिस वस्तु का परिज्ञान होता है, उसके साथ शब्द का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। शब्द जिस अर्थ को प्रकट करता है, वह कल्पित है। उसका आधार है, मात्र स्वीकृति। विभिन्न शब्दों से जो अर्थ व्यक्त होते हैं, उनका एकमात्र कारण है—दीर्घकालीन सार्वजनिक मान्यता। इसी के द्वारा व्यक्ति इच्छित (अभीप्सित) अर्थ को ग्रहण करता है। शब्द और संकेतित अर्थ में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। कोई तर्क–सम्मत एकात्मता नहीं है।

परम्परा में दूसरा तत्त्व है, भ्रान्ति। काव्य का समस्त अप्रस्तुत–विधान इसी पर अवलम्बित है। काव्य की रचना में उपमान एवं प्रतीकों द्वारा जिस भाव को अभिव्यक्त कराया जाता है, उसके मूल में भ्रान्ति का या कल्पना का तत्त्व है। इसके द्वारा पाठक को देश–काल सम्बन्धी वस्तुओं का ज्ञान सरलता से हो जाता है। परम्परा में भ्रामक कल्पना का जो तत्त्व विद्यमान रहता है, वह काव्य के कल्पित अथवा प्रतीयमान सत्य को अभिव्यक्त कराने में पूर्ण सक्षम होता है। कवि का साधन सीमित है, शब्द और अर्थ मात्र।[1] शब्दों से भौतिक, वस्तुगत सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अतएव कल्पना का अवलम्बन लिया जाता है। इसके द्वारा अलक्षित एवं परोक्ष वस्तुओं को लक्ष्य कराया जा सकता है।

मैथ्यू आर्नाल्ड ने भाव, भाषा और वस्तु—कवि के तीन साधनों को स्वीकार किया है।[2] काव्य सम्बन्धी परम्पराओं का विकास इन सभी में पाया जाता है। धीरे-धीरे काव्य के वर्ण्य, भाषा, शैली, रीति तथा काव्यादर्शों में भी परम्परायें स्थापित हो जाती हैं। अतएव गिलबर्ट मरे ने कहा है कि प्राचीन

---

१. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। भामह

२. जान लिविंग्स्टन: कन्वेंशन एण्ड रिवोल्ट इन पोइट्री, पृ० १० ।

सम्यता से जो पूर्ण प्रवाह निकलकर आया है तथा जिसने हमें काव्य का रूप तथा एकान्विति प्रदान की है, वही आदर्श-परम्परा है।[1]

काव्य क्षेत्रीय परम्पराएं

काव्य-क्षेत्र की परम्पराओं और काव्यशास्त्रीय विषयों को एक ही समझने की भूल कभी नहीं करनी चाहिये। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्य के स्वरूप, रस, ध्वनि, गुण-दोष, अलंकार आदि की विवेचना रहती है। विभिन्न काव्य-शास्त्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में इन काव्यांगों की विस्तार से विवेचना की है। 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण', 'रसगंगाधर' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विभिन्न काव्यांगों की युक्तियुक्त विवेचना करते हुए अपने-अपने मतों की स्थापना पर बल दिया गया है। इस प्रकार काव्यशास्त्रीय विषय (काव्यांग-विवेचन) में विद्वानों के तर्कों द्वारा अलग-अलग मान्यताओं का विनिवेश हो जाता है। काव्य-परम्पराओं की स्थिति और स्वरूप इनसे भिन्न है। जिस क्षेत्र में कुछ विशिष्ट बँधी-बँधायी रीतियाँ, प्रणालियाँ एवं रूढ़ियाँ स्थापित हो जाती हैं, उन्हें ही परम्परा में लिया जा सकता है। काव्यक्षेत्रीय परम्पराएँ उन प्रवृत्तियों, प्रस्थापनाओं, रीतियों, प्रणालियों तथा आदर्शों के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं जिन्हें अपने पूर्ववर्ती कवियों से उत्तरवर्ती कवि प्राप्त करते हैं। कवि-समाज में ये परम्पराएँ स्वीकृत होकर स्वतः प्रचलित हो जाती हैं। जहां काव्यांगों का विवेचन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्थान पाता है, वहां काव्यपरम्पराएँ प्रायः मौखिक चलती हैं। उदाहरणस्वरूप हिन्दी काव्य में 'भ्रमरगीत' का विषय काव्य-परम्परा के रूप में दीर्घकाल से चला आता रहा है। इसी प्रकार 'सतसई' निर्माण की परम्परा भी बहुत प्रचलित रही है। इसके अतिरिक्त वस्तु, पात्र, रस, प्रकृति-चित्रण व काव्य-रूप सम्बन्धी मान्यताओं की पूर्ववर्ती प्रचलन के अनुसार ग्रहण करना भी काव्य परम्परा के अन्तर्गत है।

कवि-समय

काव्य में ऐसी भी बहुत सी बातें प्रायः मिलती हैं जो वास्तविक जगत् में सत्यता नहीं रखतीं, किन्तु कवि समाज में ये बाहुल्येन प्रयुक्त की जाती हैं। ये 'कवि-समय' के नाम से प्रसिद्ध हैं।[2] सभी कवियों ने अपने-अपने काव्यों में इनका प्रयोग निःसंकोच किया है।

काव्य की परम्परा में 'कवि-समय' का स्थान अविस्मरणीय है। साहित्य में ऐसी अनेक मनगढ़न्त बातें पाई जाती हैं, जो कवि-समाज में स्वीकृत होकर

---

१. द क्लेसिकल ट्रेडीशन इन पोइट्री (गिलबर्ट मरे), पृ० ५।

२. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, ७।२३।

रूढ़ हो गयी हैं। कवि-सम्प्रदाय में वे परम्परा से चली आ रही हैं। असत्य होने पर भी उनमें किसी ने अविश्वास प्रगट नहीं किया है। आकाश और पाप में कृष्णवर्णता, यश, हास और कीर्ति में शुभ्रवर्णता, क्रोध और अनुराग में रक्तवर्णता, श्वेत और नील कमल का नदी समुद्रादि में अस्तित्व, समस्त भुवन-वर्ती जलाशयों में कलहंस किंवा चक्रवाक आदि का अवस्थान, चकोर पक्षी के द्वारा अंगार-भक्षण, वर्षाकाल में हंसों का मानसरोवर के प्रति प्रस्थान, रमणियों के पाद-प्रहार से अशोक का कुसुमित होना और उनके मुखोच्छिष्ट मद से बकुल का विकसित होना, युवक और युवती के अंगों में मुक्ताहार, वियोग में सन्ताप से हृदय का विदीर्ण हो जाना, कामदेव की प्रत्यंचा के रूप में भ्रमर-पंक्ति, काम के धनुष और वाण के रूप में पुष्प, काम–वाण और नारी-कटाक्ष से युवा प्रेमियों के हृदय का विदीर्ण होना, दिन में कमल का खिलना, रात में कुमुद का विकसित होना, मेघ-गर्जन के समय मयूरों का नाच उठना, अशोक में फल का अभाव, वसन्त में मालती का न खिलना, चन्दन में फूल और फल का न होना, कोल, कमठ और शेष का पृथ्वीधारण, हंस का क्षीर-नीर विवेक, शिव के भाल पर द्वितीया के चन्द्रमा की स्थिति, रात्रि में चकवा-चकवी का वियोग, चन्द्रमा का शशलांछन और कामदेव का मकरकेतन नाम, विष्णु का क्षीरसागर-शयन आदि अनेक बातें कवि-समय के नाम से प्रसिद्ध हैं[१] तथा उन पर सर्वसम्मत्ति की मुद्रा लगी हुई है। इसीलिए ये काव्य-परम्परा के रूप में प्रचलित हैं तथा महाकवियों तक ने इनको काव्य में स्थान दिया है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में कवि-समयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। वे कहते हैं "शास्त्र और लोक से बहिर्भूत, केवल कवि-परम्परा में प्रचलित जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते हैं—वह कवि-समय है।[२]" इससे कवियों का उपकार होता है, तथा यह काव्य-मार्ग का प्रदर्शक है। अतएव सदोष होते हुए भी सभी कवियों ने इसका उपयोग किया है। वर्ण्य विषय को रोचक और हृदयग्राही बनाने के लिए कवि-समयों का उपयोग किया जाता है।

कवि-सम्प्रदाय में परम्परा से प्रचलित बातों का ही कवि-समयों में वर्णन हुआ है। अतएव ये वास्तविक अर्थ में काव्य–परम्परा से अन्तर्गत हैं। राजशेखर ने इसके तीन आधार बतलाए हैं —(१) शास्त्र से बहिर्भूत होना

---

१. साहित्य दर्पण। ७।२३-२४-२५ पृ० ६२६, व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह।

२. "अशास्त्रीयम् लौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कवि-समय। राजशेखर: काव्यमीमांसा अध्याय, १४ (अनुवादक, केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पृ० १६०)

(२) अलौकिकता और (३) परम्परा । शास्त्र से बहिर्भूत होने क
है कि काव्य-शास्त्र में इनका विचार नहीं हुआ है । अलंकार-शास्त्र
का विवेचन तो विस्तार-पूर्वक किया गया है, काव्य-परम्पराओं का
भी कवि-सम्प्रदाय में इनका प्रचलन है । इससे मान्यता एवं विश्वा
स्वतः सिद्ध है । शास्त्रीय ज्ञान और अनुभव के आधार पर वि
परम्पराओं का प्रवर्तन किया है, वे अलंकार-शास्त्र में अपरिगणित
मान्य हैं । इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि राजशेखर के दृष्टिको
परम्परा का प्रथम आवश्यक तत्त्व मान्यता या विश्वास है ।

दूसरा तत्त्व अलौकिकता है । इससे वे बातें अभिप्रेत हैं, ज
ज्ञान से बहिर्भूत, अद्भुत और विचित्र हैं । विलक्षण वस्तुओं के
मनोवैज्ञानिक औत्सुक्य का भाव पैदा हो जाता है, क्योंकि विल
आश्चर्य की वृत्ति निहित रहती है । यह कल्पना के आश्रित है ।
जितनी उत्तम और श्रेष्ठ होगी, कवि उतना ही विलक्षण एवं अ
का वर्णन करने में अग्रगामी होगा । इससे प्रकट है कि परम
तत्त्व कल्पना या भ्रान्ति है ।

तीसरा तत्त्व परम्परा है । इसका अभिप्राय है, पूर्वकाल
चली आती हुई परिपाटियों एवं काव्य-प्रवृत्तियों का अनुगमन । ि
कल्पना के अभाव में मौलिक रूप से ही परम्पराओं का अनुसरण
है । इस प्रकार परम्परा में गतानुगति एवं अनुकरण का तत्त्व विद्य

इस प्रकार राजशेखर की दृष्टि में काव्य-परम्पराओं के
तत्त्व हैं—(१) मान्यता (२) कल्पना और (३) अनुकरण ।
जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है जान लिविंस्टन के मत से
मूलतः दो तत्त्व प्रधान हैं—(१) मान्यता और (२) भ्रान्ति अथव
वस्तुतः गम्भीर विचार के अनन्तर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं
तथा अनुकरण की प्रवृत्ति का आधार मान्यता ही है । नवोन्मेषशालि
को कल्पना कहा गया है । परन्तु कल्पना में नूतन उन्मेष के साथ ह
भी विद्यमान रहता है । कल्पना जिस अंश में रूढ़ हो जाती है, उसे
ग्रहण किया जाता है । वास्तव में देखा जाय तो कल्पना एक रूढ़ि
अनुसार चलना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य हो जाता है ।
चन्द्रमुख, कमल-नयन से ओष्ठ, मुख तथा नेत्र के लिए क्रमशः बिम्ब
और कमल के उपमान लाये जाते हैं । यह बात सभी को अच्छी तरह वि
प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुतों की योजना कवि-परम्परा के अनुसार चल

वे सब भ्रामक, कल्पित और अविश्वसनीय हैं, परन्तु कवि-सम्प्रदाय में प्रचलन प्राप्त कर लेने के कारण सर्वमान्यता को प्राप्त हो गये हैं, क्योंकि सम्पूर्ण कल्पना-विधान रूढ़ि पर अवलम्बित है। इन रूढ़ियों का जैसा काव्य में प्रचलन है, वैसा ही अन्य कलाओं में भी है। मूलरूप से इनका आधार सार्वजनिक मान्यता ही है। अनुकरण की प्रवृत्ति भी भावुकतापूर्ण मान्यता पर अवलम्बित है। इससे स्पष्ट है कि कवि-समय, काव्य-रूढ़ि या कवि-परम्परा का एकमात्र आधार सर्वमान्यता है।

इस प्रकार अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर आते है कि काव्य-परम्पराओं का किसी शास्त्रीय ग्रन्थ में प्रतिपादन नहीं किया गया है। गतानुगतिक न्याय से इनको मान्यता प्राप्त होती रही है। साहित्य के क्षेत्र में जिन आदर्शों, प्रवृत्तियों, परिपाटियों एवं मार्ग-सरणियों की प्रस्थापना पूर्ववर्ती कृतिकारों ने कर दी, उनको उत्तरवर्ती काव्यकारों ने बिना किसी हिचक के स्वयमेव ग्रहण कर लिया। अतएव इनकी मान्यता व्यवहार पर अवलम्बित है, किसी सिद्धान्त पर नहीं; कवि-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकार कर लिया जाना ही इनकी प्राथमिक अनिवार्यता है। इसके लिए सर्वस्वीकृति, सर्व-सम्मति एवं सर्व-मान्यता नितान्त आवश्यक है।

संस्कृत-साहित्य में कवि-शिक्षा पर अनेक पुस्तकें उपलब्ध होती हैं, जिनमें काव्य-परम्पराओं एवं रूढ़ियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। क्षेमेन्द्र के 'कवि-कण्ठाभरण', देवेश्वर की 'कविकल्पलता' तथा अरिसिंह की 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' में कवि-शिक्षाओं का विशद वर्णन है। इनमें काव्य-रचना के व्यावहारिक अभ्यास बताये गये हैं। इनके अध्ययन से प्रकट होता है कि काव्य-निर्माण के लिए बहुत सी रचना-सम्बन्धी परम्पराओं की स्थापना हो चुकी थी, जिसका परिज्ञान होना अनिवार्य माना जाता था। वास्तव में इनमें काव्य-रूढ़ियों की अक्षय-निधि संचित है, जो कवि-समाज में प्रचलित हो जाने से सबके द्वारा स्वीकृत हो चुकी थी। मान्यता एवं अनुकृति ही इसमें प्रमुख कारण थे। हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों में भी इनका वर्णन हुआ है। केशव की 'कवि-प्रिया' में काव्य-रूढ़ियों का ही निरूपण है। इनके अध्ययन से प्रमाणित होता है कि काव्य-परम्पराओं के मूल में स्वीकृति, अनुकृति एवं मान्यता का भाव विद्यमान है।

प्रयोग

मूल शब्द विज्ञान की अन्वेषण कार्यविधि से लिया गया है। इसकी प्रकृति में यह तथ्य निहित है कि किसी भी वस्तु की मान्य प्रकृति का ज्ञान प्रयोग द्वारा पुनः अनुभव किया जा सकता है और नई उपलब्धियाँ प्राप्त की

जा सकती हैं। प्रयोग की प्रक्रिया द्वारा मान्य एवं निर्धारित तथ्यों के अतिरिक्त नये तथ्य भी प्राप्त किये जा सकते हैं। साथ ही प्रयोग यह मानकर किया जाता है कि प्रयोगकर्ता की उपलब्धियां सही भले ही न हों, किन्तु महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। इसलिए प्रत्येक प्रयोग का महत्त्व है और प्रयोगकर्ता की स्थापनाओं का उपयोग है। दूसरे शब्दों में प्रयोग का उद्देश्य है मान्य सत्य का परीक्षण और फिर परीक्षण द्वारा सत्य के नये आयामों का अन्वेषण। विज्ञान में परीक्षण की प्रक्रिया में प्रयोगकर्ता किसी भी वस्तु को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके व्यवहार का अध्ययन करता है, उसकी वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी सीमा और सम्भावनाओं को आँकता है। इन समस्त परिस्थितियों के अध्ययन के अनन्तर वह कुछ निष्कर्ष निकालता है और उन निष्कर्षों द्वारा सत्य के नये आयामों का साक्षात्कार करके उन्हें स्थापित करता है। आधुनिक मानव-जिज्ञासा वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण है, इसलिए आज ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में इसके महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि-वाला व्यक्ति किसी भी परम्परा को बिना उसकी समसामयिकता जाँचे वहन नहीं करता। वह परीक्षण, अन्वेषण, सीमा और सम्भावना को अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण मानता है।

इस प्रकार प्रयोग परीक्षण एवं विभिन्न तथ्यों के अन्वेषण करने की विधि है। परीक्षणों के आधार पर ही प्रयोग किसी निष्कर्ष तक पहुँचता है। निष्कर्ष ही उपलब्धि के रूप में कार्य करता है। इन्हीं कारणों से प्रयोग किसी भी सत्य को 'अन्तिम सत्य' स्वीकार नहीं करता, वह तो प्रत्येक सत्य को परिस्थितियों की सापेक्षता में देखने का प्रयास करता है। परीक्षण प्रयोग की जिज्ञासा है, अन्वेषण उपलब्धि है। प्रयोग स्वयं सत्य के नये आयामों को जानने का माध्यम है। वैज्ञानिक दृष्टि के साथ-साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि आज का ज्ञान केवल परम्परा और रूढ़ि के बल पर पूर्ण नहीं हो सकता। सर्वमान्य सत्य की भी परीक्षा की जा सकती है, उसको नये सन्दर्भ में, आधुनिकता के सन्दर्भ में रखकर उसका वास्तविक तथ्य जाना जा सकता है। जिस सीमा तक हम इस वैज्ञानिक दृष्टि को स्वीकार करते हैं, उस सीमा तक हम प्रयोग के समर्थक कहे जा सकते हैं। प्रयोग को इस रूप में स्वीकार करने के बाद ही उसकी उपयोगिता का ज्ञान हो सकता है।

अस्तु, प्रयोग की मूल प्रवृत्ति परम्परागत स्थापनाओं से आगे बढ़कर नयी दिशाओं की स्थापना है। साथ ही प्रयोग यथार्थ को जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखने का साधन है। प्रयोग की वास्तविक दृष्टि विवेक के आधार पर विक-

सित होती है। विवेक की प्रवृत्ति परीक्षण और उपलब्धि का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसीके द्वारा सत्य के नये माध्यम को जाना जा सकता है।

संस्कृत वाङ्मय में प्रयोग 'उदाहरण' का पर्याय है। व्याकरण के अनुसार सिद्ध हुए रूपों को वहां प्रयोग कहा गया है जो सूत्रों के नियमों किंवा लक्षणों के उदाहरण हैं। साध्य दशा में इसी 'प्रयोग' का नाम 'प्रक्रिया' है।[1] यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि रूप या उदाहरण पहले से ही सिद्ध होता है, परन्तु जब उसे सैद्धान्तिक प्रक्रिया (साध्यावस्था) से समझने का प्रयत्न किया जाता है तभी उसका रूप सिद्ध रूप प्रयोग कहलाता है। संस्कृत के अनेक शब्द 'लोक' और 'वेद' में पहले से सिद्ध थे, जिन्हें पीछे व्याकरण के नियमों से सिद्ध किया गया था। इस प्रकार 'प्रयोग' शब्द अपनी सैद्धान्तिक प्रक्रिया से अलग नहीं समझा जा सकता और चूंकि उसके सिद्धान्त को किसी प्रक्रिया से समझने का प्रयत्न किया जाता है इसलिए प्रयोग शब्द अपने स्थूल अर्थ में प्रयत्न भी कहलाता है। अंग्रेजी का एक्सपेरीमेन्ट (EXPERIMENT) शब्द अपने अभिधान में इसी 'प्रयत्न' के अधिक पास पड़ता है।

स्पष्ट है कि हमारा 'प्रयोग' शब्द और अंग्रेजी का 'एक्सपेरीमेण्ट' शब्द बहुत कुछ सजातीय हैं। मौलिक अन्तर केवल इतना है कि 'प्रयोग' शब्द प्रयत्न, प्रक्रिया (साध्यावस्था) और उदाहरण (सिद्धावस्था) इन तीनों की सीमाओं में समान रूप से अभिव्याप्त है जब कि 'एक्सपेरीमेण्ट' शब्द उदाहरण (सिद्धावस्था) का कोई विशेष आग्रह न करके खाली प्रक्रिया (साध्यावस्था) के अन्तर्गत प्रयत्न के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और चूंकि प्रयत्न कभी २ असफल भी हो सकता है, इसलिए एक्सपेरीमेण्ट भी सदा सफल नहीं हुआ करता। प्रयत्न उसी समय तक प्रयत्न है जब तक वह पूर्ण नहीं होता, इसलिए 'अपूर्णता' ही 'प्रयत्न' का सामान्य लक्षण ठहरता है। यह 'प्रयत्न' अंग्रेजी के 'एक्सपेरीमेण्ट' के अर्थ में तो है ही, हमारे उपर्युक्त 'प्रयोग' की भी प्रक्रिया (साध्यावस्था) में पड़ता है। परिणामस्वरूप न तो 'एक्सपेरीमेण्ट' ही अपने प्रयत्न में कभी पूर्ण हो सकता है और न प्रयोग ही।[2]

---

१. ह्रस्ववर्णस्य प्रयोग (परिनिष्ठित सिद्ध रूप) संवृतम्। प्रक्रियादशायां (साधनिकावस्थायां) तु विवृतमेव।
सिद्धान्त कौमुदी, सूत्र १।१।८ की व्याख्या।

२. डा० शंकरदेव अवतरे: हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग, पृ०९-१०।

यह है हमारे 'प्रयोग' शब्द का अर्थ, जो अपने सिद्ध रूप में पूर्ण होते हुए भी उसे समझने और करने की सैद्धान्तिक प्रक्रिया में कभी पूर्ण नहीं हो सकता, पर पूर्ण होने का प्रयत्न भी कभी नहीं छोड़ सकता। अतः एक दृष्टि से प्रयोग का अर्थ अपूर्ण है, पर सीमित किसी भी दृष्टि से नहीं। एक ही वस्तु पर अनेक वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं। उनमें से कुछ पूर्ण भी रहे हैं, कुछ अपूर्ण भी। कुछ सफल भी रहे हैं और कुछ असफल भी, पर पूर्ण और सफल प्रयोगों पर भी आज प्रयोग हो रहे हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उस वस्तु की पूर्णता तक पहुँचने की पूर्ण सफलता अभी नहीं मिली और न कभी मिलेगी। परिणामस्वरूप किसी प्रयोग की पूर्णता और असफलता का अर्थ उस वस्तु की पूर्णता या उसे पूर्णतया समझने की असफलता नही हैं, जिस पर वह प्रयोग पूर्ण सफल समझ लिया जाता है वल्कि प्रयोग करने वाले की वैसी समझ के आधार पर ही वैसा कहा जाता है।

"साहित्य के क्षेत्र में भी प्रयोग शब्द का यही तात्पर्य है। यदि कोई कलाकार साहित्य के किसी रूप पर प्रयोग करता है और उस पर उसे पूर्ण सफलता भी प्राप्त हो जाती है तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसके आगे कोई दूसरा कलाकार उस रूप पर कोई दूसरा प्रयोग नहीं करेगा। यहां भी वही बात है कि किसी प्रयोग की पूर्णता और सफलता इस बात का प्रमाण नहीं है कि साहित्य के उस रूप की पूर्णता और सफलता की वह सीमा है, वल्कि कलाकार की ही सीमाओं की वह पूर्णता और सफलता का प्रमाण है। और जब प्रयोग का यही अर्थ है तो प्रयोग की मीमांसा करने वाले आलोचक ही यह कैसे कह सकते है कि अमुक कलाकार से अच्छा प्रयोग कोई कलाकार नहीं कर सकता या साहित्य के सम्बन्ध में अमुक आचार्य के द्वारा दी गई परिभाषा से अच्छी कोई परिभाषा नहीं हो सकती।[1]

साहित्य में जो भी मोड़ आये हैं और भविष्य में जो भी आवेंगे वे सब के सब प्रयोग हैं और प्रयोग कहलायेंगे। साहित्य में कोई भी मोड़ तब उपस्थित होता है जब वह परम्परा-प्राप्त साहित्यिक धारा को विरोधी या अविरोधी रूप में अपनी पृष्ठभूमि बना लेता है। प्रयोग प्रबुद्ध चेतना की विकास प्रवृति का परिचायक है जिसके आधार पर नये मूल्यों, नये आयामों और नई प्रवृत्तियों का विकास होता है। वह विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है और मानवीय चेतना के नूतन स्तरों को विकसित करने का अप्रतिम माध्यम है। जहां प्रयोग नहीं है, लीक छोड़कर चलने की परम्परा नहीं है, वहां निष्क्रि-

---

१. डा० शंकरदेव अवतरे : हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग, पृ० १०।

यता का प्रादुर्भाव होता है भोंडापन और खोखलापन अपनी चरमसीमा को प्राप्त हो जाता है।

इसलिए प्रयोग की नवीनता में वह संभावनाएँ छिपी रहती हैं जो परम्परा और रूढ़ि के प्रति विद्रोह करके अपना नूतन पथ प्रशस्त करने में सक्रिय हैं। प्रयोग का आधार दृष्टि की नवीनता है जिससे हम प्राचीन वस्तुओं को नये-नये रूपों में प्रस्तुत करने में सक्षम होते हैं। जिस कलाकार की वृत्ति में इस नूतनता का अभाव होता है वह ललित साहित्य की कोटि में कभी नहीं आ सकता, और चाहे जो हो। प्रयोग काव्य के परम्परागत उपकरणों का सदैव प्रत्याख्यान करता है। वह काव्य-सत्य को पाने के लिए नये-नये प्रयत्नों में विश्वास करता है। इसलिए वह काव्य-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए नूतन प्रवृत्तियों का निर्माण करता है और नये-नये मार्गों का अन्वेषण करता है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध छायावाद ने यही साहस प्रदर्शित किया था, जिसका अभिनन्दन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"वह दिन सचमुच ही हिन्दी कविता की मुक्ति का दिन था. वह कवि के परिपाटीविहित रसज्ञता और रूढ़ि समर्थित काव्यकला को [illegible] थी। मर्यादा विषयक अज्ञान और उपेक्षा दोनों ने उसकी मुक्ति में सहायता की। यद्यपि वह मुक्त होकर ठीक रास्ते नहीं गया, पर मुक्त वह निःसन्देह हो गया। पुराने पंडितों ने झुंझला कर रोष प्रकट किया, मजाक उड़ाया, गालियाँ देकर उसे हतोत्साह करना चाहा, पुराने शास्त्रों की [illegible] करके उसे दबाना चाहा, पर वह उससे विचलित नहीं हुआ। प्रसाद, निराला, पन्त, सियारामशरण गुप्त, महादेवी वर्मा आदि कवियों ने [illegible] अपनी बात कही।"[1]

परम्परा तथा प्रयोग का सम्बन्ध

परम्परा में से नये प्रयोगों की सृष्टि होती रहती है। जिस परम्परा में आगे प्रयोग करने की प्रेरणा नहीं होती, वह उतनी ही निरर्थक है, जितना कि वह प्रयोग जो नई परम्पराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता है।[1]

परम्परा में प्रयोग की व्यवस्था

प्रत्येक युग का साहित्य किसी न किसी रूप में अपने पूर्ववर्ती साहित्य का ऋणी रहता है। वर्तमान के क्षणों में ही अतीत की प्रतीति सम्भव है। चूँकि अतीत के संस्कार ही वर्तमान की अभिव्यक्ति होते हैं। परम्परा का सम्बन्ध अतीत से है तो प्रयोग का वर्तमान से। हर नवीनता प्राचीनता का संस्कार है और हर नवीनता और मौलिकता का आगमन प्रयोगों की सृष्टि है। प्रायः हम देखते हैं कि प्रत्येक नये युग के कवियों के कंठ से निसृत नये गीतों की कड़ियों में या तो पुरानी 'धुन' का आभास होता है या नूतन ध्वनि में पुराने भावों की अभिव्यक्ति होती है। अतः किसी भी काल के साहित्य को सर्वथा प्रयोगशील नवीन और मौलिक कहने में उतना ही सत्य है जितना कि किसी नये लहराते पौधे को देखकर उसकी जड़ में दम तोड़ने वाले बीज के महत्व को नकारना। साहित्य की परम्परा रूपी खाद में ही अपने बीज का अस्तित्व विलीन कर प्रयोग के पौधे पनपते हैं।

किसी भी युग के किसी भी साहित्य में यदि भावगत या शैलीगत प्रयोग न हो तो साहित्य की नवीनता और मौलिकता के अभाव में वह साहित्य जीवित नहीं रह सकता। साहित्य में होने वाले नूतन प्रयोग ही एक युग के साहित्य को दूसरे युग से भिन्न बनाते हैं। नूतन प्रयोगों से साहित्य को नित्य नवीन बनाने की साहित्यकारों के मन की यह आकांक्षा यदि नष्ट हो जाए तो साहित्य की धारा का विकास ही रुक जाये और नये साहित्यकारों की आवश्यकता ही नहीं रह जाये। प्राचीनता में नवीनता की व्यवस्था ही परम्परा में प्रयोग की व्यवस्था है।

स्वतन्त्रता के पूर्ववर्ती प्रबन्ध-काव्यों में परम्परा और प्रयोग

हिन्दी में प्रबन्ध-काव्यों के निर्माण की परम्परा बहुत लम्बी रही। आदिकाल से लेकर अब तक प्रबन्ध-काव्यों की रचना-शृंखला कभी छिन्न नहीं हो पाई है। 'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'रामचरित-मानस', 'रामचन्द्रिका', 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' आदि प्रबन्ध-काव्य हिन्दी गौरव के वृद्धिकर्ता हैं।

---

१. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ० १६२।

परम्परा और प्रयोग के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को दे
यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रबन्ध-काव्यकार अपने
परम्पराओं और प्रयोगों की सहायता अवश्य लेता है। परम्पराएँ अप
मान अवस्था में प्रयोग के नाम से जानी जाती हैं और सिद्ध अवस्था
लेने पर वे परम्परा के रूप में परिवर्तित हो लेती हैं। इस प्रकार आज
कल परम्परा का वेश धारण कर लेते हैं।

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में परम्परा और प्रयोग की अव
सम्यक्तया दृष्टिपात करते हुए हम यह सरलता से ज्ञात कर सकते हैं वि
युग के पूर्ववर्ती प्रबन्ध-काव्यों में परम्पराओं का ग्रहण ही अधिक
का आग्रह अल्प रहा है। इसका कारण भी स्पष्ट है। पाश्चात्य शि
कृति के सम्पर्क व बुद्धिवादी प्रवृत्तियों के उदय ने आधुनिक मानव
बनाकर प्रत्येक परम्परागत तथ्यों, आदर्शों व रूढ़ियों पर विश्लेषण
डालने की ओर प्रेरित किया। पाश्चात्य प्रभाव ने जन-मानस में
भावना भी अत्यधिक मात्रा में भरदी। इन्हीं कारणों से आधुनि
प्रबन्ध-काव्यों में कवि नित्य नवीन प्रयोगों की ओर उन्मुख दिखलाई
परम्परा से चले आते हुए आदर्शों, धारणाओं, मान्यताओं व विश्वास
आधुनिक कवि ने कठोर प्रहार कर उन्हें ध्वस्त करने का प्रबल प्र
है। इसके स्थान पर अपने वैयक्तिक चिन्तन और सार्वजनीन मानवता
नाओं से प्रेरित आज के कवि ने युग-युग से कलंक का भार ढोते चले
पात्रों व कथानकों को नवीन प्रकाश में ला रखने का प्रयत्न किया।

बीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलनों और पुनरुत्थान की
भावनाओं से पौराणिक-सामन्ती संस्कृति को तर्कबुद्धि से परिमार्जित व प
करके अपनाने की प्रवृत्ति को अधिक बल मिला। पाश्चात्य संस्कृति व
के साथ हिन्दी पर बँगला के सीधे प्रभाव ने भी हिन्दी काव्य में अनेक
ताओं व परिवर्तनों को जन्म दिया।

आधुनिक युग में स्वतन्त्रता से पूर्व प्रणीत प्रबन्ध-काव्यों में 'प्रिय
'वैदेही-वनवास', 'साकेत', 'साकेत-सन्त', 'कामायनी', 'कृष्णायन', 'नू
'आर्यावर्त', 'कुरुक्षेत्र', 'जयद्रथ-वध', 'हल्दीघाटी', 'जोहर' आदि प्रमु
इनकी विषयवस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सां
राष्ट्रीय व सामाजिक पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है।

उपर्युक्त प्रबन्ध-काव्यों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है वि
रचयिताओं ने प्रायः प्रबन्ध-काव्य सम्बन्धी प्राचीन शास्त्रीय नियमों व

अवहेलना एवं नवीन उद्भावनाओं की अवतारणा की ओर इनमें अधिक आग्रह परिलक्षित होता है। इस काल के कवियों ने आधुनिक युग की परिवर्तित परि-स्थितियों और युगावरण से प्रभावित होकर युगीन विषमता से उत्पन्न समस्याओं के निदान पर व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किए हैं। एतदर्थ इन्होंने अपने प्रबन्धकाव्यों में पौराणिक व ऐतिहासिक कथाओं से इतिवृत्त चुने हैं, किन्तु इनमें संस्कृत, अपभ्रंश व हिन्दी के आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल के प्रबन्ध-काव्यों में परम्परागत विधि निषेधों व नियमों के पालन में उदासीनता अथवा प्रत्यक्ष विद्रोह की भावना ही अधिक मुखर हुई है। इनके अन्दर रचना-कार का आग्रह विभिन्न प्रयोगों व नवीन परम्पराओं के शिलान्यास की ओर अधिक उन्मुख दिखलाई पड़ता है।

अभिनव प्रयोगों के प्रयत्न में तत्पर कवियों ने इन कृतियों में प्रबन्ध-काव्य के बाह्य व आन्तरिक दोनों ही अंगों को नवीन उद्भावनाओं के लिए चुना है। वैचारिक क्रान्ति से परिव्याप्त युग के वातावरण ने प्रबन्ध-काव्यों के अन्तरंग व बहिरंग में गम्भीर परिवर्तन उपस्थित किया। इस युग में सर्गों के बन्धन ढीले पड़े, चरित्रों के परम्परागत आदर्श बदले, छन्द-योजना के भिन्न-भिन्न रूप सामने आये, भाषाशैली में अनेक नवीन प्रयोग होने लगे, प्रकृतिवर्णन की परम्परागत प्रणाली में गहरा परिवर्तन हुआ तथा वस्तु-दृश्यवर्णन के कितने ही पुरातन प्रसंगों का लोप हो गया।

के व्यापक विस्तार व दोषों के प्रति सहानुभूति परक दृष्टिकोण के उदय ने भी प्रबन्धकवियों को नूतन उद्‌भावनाओं तथा क्रमागत परम्पराओं के परिष्कार की ओर प्रेरित किया। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्रता से पूर्व आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों में प्राचीन व नवीन का, पौरस्त्य व पाश्चात्य का एवं यथार्थ व आदर्श का अभूतपूर्व समन्वय हुआ।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रतापूर्व के आधुनिक प्रबन्धकाव्यों में पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, राष्ट्रीय, सामाजिक सभी क्षेत्रों से प्रेरणाएँ ग्रहण कर नवीन प्रयोगों की अवतारणा हुई। तत्कालीन प्रबन्धकाव्यों के अन्तर्गत स्थान पाने वाले ये प्रयोग आगे चलकर प्रबन्ध-रचना में प्रवृत्त होने वाले कवियों के लिए सिद्धावस्था प्राप्त कर लेने के कारण परम्परा का रूप धारण कर चुके थे, क्योंकि परम्परा और प्रयोग एक दूसरे से पूर्णतः अवच्छिन्न दशा में नहीं रहते। किसी भी क्षेत्र में पहले प्रयोग होता है और वह अपनी साध्यमान अवस्था पार कर लेने पर सिद्ध रूप ग्रहण कर परम्परा बन जाता है। अतः स्वतन्त्रतापूर्व के प्रबन्धकाव्यों में आधुनिक युग की बदली हुई परिस्थितियों व वैचारिक क्रान्ति के कारण जिन अभिनव प्रयोगों को स्थान मिला वे स्वातन्त्र्योत्तर काल तक आते-आते परम्परा रूप में गृहीत हो गए थे। कुछ प्रयोग जो स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती काल में साध्यमान अवस्था में थे, स्वतन्त्रता के पश्चात् और अधिक विस्तार और प्रसार प्राप्त करने लगे।

स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती काल में रचित आधुनिक युग के प्रबन्धकाव्यों में अतीत-गौरव के प्रति उत्कट प्रेम की भावना होते हुए भी इनमें प्राचीन नियमों और परम्पराओं की जो अवहेलना हुई उसका मूल आधुनिककाल की उदारता-पूर्ण मानवतावादी भावना के प्रसार में है। अपने प्राचीन गौरव की रक्षा में पूर्ण सावधान रहते हुए कवियों ने वर्णभेद, शोषण, जातिगत वैषम्य आदि का सबल विरोध करते हुए मानवीय संवेदना के धरातल पर ही प्रायः अपने प्रयोगों की आधारशिला रखी।

आधुनिक युग विज्ञान के अतिशय प्रभाव के कारण बौद्धिकता से अधिक ग्रस्त हुआ है। अतः आधुनिक कवियों ने प्राचीन पौराणिक व धार्मिक कथानकों में समाविष्ट अलौकिकता को लौकिक रूप देकर बुद्धिगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। 'प्रियप्रवास' में 'कृष्ण' के अलौकिक कार्यों की बुद्धिग्राह्य व्याख्या में हम इसी प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं। मानवतावादी विचारधारा के व्यापक प्रसार और उदारतापूर्ण दृष्टिकोण के उदय ने कवियों के हृदय को उपेक्षित व अनादृत पात्रों के ऊपर सहानुभूतिपरक दृष्टि डालते हुए उन्हें प्रकाश प्रदान

करने व उनके दोषप्रक्षालन की ओर प्रेरित किया। 'साकेत' में 'ऊर्मिला' और 'कैकेयी' के चरित्रांकन में इस प्रवृत्ति ने ही प्रमुख रूप से कार्य किया है। आधुनिक मानव ने नारी गौरव की दिशा में नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया। प्रियप्रवास की 'राधा' साकेत की 'ऊर्मिला', 'सीता' व कामायनी की 'श्रद्धा' के समुज्जवल चरित्रों के द्वारा आधुनिक कवि ने नारी को त्याग, तप, पवित्रता, कोमलता, सहिष्णुता, करुणा, सदाशयता आदि मानवीय उच्च गुणों की मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया। वाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष के मनोवैज्ञानिक चित्रण (कामायनी में), आदर्शवादी की अपेक्षा यथार्थवाद को अधिक महत्त्व (कुरुक्षेत्र में) आदि नवीन प्रयोगों ने भी आधुनिक प्रबन्धकाव्यों में स्थान पाया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में जिन प्रयोगों को स्थान मिला, उनके बीज स्वतन्त्रता से पूर्व ही आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों में रचित प्रबन्धकाव्यों में बो दिये गये थे। स्वतन्त्रता के परवर्ती काल तक आते आते इन प्रयोगों में और अधिक विस्तार हुआ है साथ ही नवीन प्रयोगों की ओर से भी कवियों ने दृष्टि नहीं फेर ली है।

प्रबन्धकाव्य-परिचय

२ | प्रबन्धकाव्य-परिचय

काव्य-भेद:—

काव्य का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया गया है। संस्कृत के प्रमुख आचार्य भामह ने प्रतिपाद्यवस्तु तथा बन्ध के आधार पर इसका वर्गीकरण किया है।[1] वामन ने छन्द और बन्ध ये दो आधार लिये हैं।[2] इसी प्रकार दण्डी, राजशेखर, विश्वनाथ आदि ने काव्य का वर्गीकरण करते हुए इन आधारों की संख्या बहुत अधिक बढ़ा दी है। इन सब में आचार्य विश्वनाथ का वर्गीकरण सर्वाधिक युक्ति संगत लगता है। इन्होंने काव्य को इन्द्रियों को प्रभावित करने के आधार पर श्रव्य और दृश्य इन दो भेदों में विभक्त किया है।[3] जो काव्य श्रवण मात्र से श्रोताओं को आनन्द प्रदान करता है, उसे श्रव्य काव्य और जिसे रंगमंच पर नेत्रों के द्वारा अभिनीत होता देखकर आनन्द प्राप्त किया जा सके वह दृश्य काव्य कहलाता है।

श्रव्य काव्य के पुनः तीन भेद किये गये हैं—गद्य-पद्य और चम्पू। छन्द रहित रचना गद्य कहलाती है। छन्द से युक्त पद्य और गद्य-पद्य मयी रचना चम्पू कहलाती है।

पद्य काव्य का विभाजन भी काव्यशास्त्रकारों ने अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। महर्षि व्यास ने अग्निपुराण में पद्य-काव्य को सात भेदों में विभाजित किया है—महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष।[4] परन्तु साहित्य में इन भेदों का अधिक प्रचलन नहीं हो सका। वामन ने बन्ध की दृष्टि से पद्य-काव्य को दो भागों में विभक्त किया है—प्रबन्धकाव्य

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र: वाङ्मय-विमर्श पृ० १४।
२. महर्षि व्यास: अग्निपुराण ३३७-२३,२४।
३. वामन: काव्यालंकार (सूत्र हिन्दी) टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ५६।
४. महर्षि व्यास: अग्निपुराण ३३७-२३,२४।

और निबन्धकाव्य या मुक्तककाव्य ।[1] अग्नि पुराण के उपर्युक्त सभी भेदों का अन्तर्भाव इन्हीं दोनों में किया जा सकता है। प्रबन्धकाव्य के पद्य सापेक्ष होते हैं, इसमें किसी कथा–सूत्र अथवा क्रमबद्ध वर्णन द्वारा पद्यों को एक सूत्र में बांध दिया जाता है। इसके विपरीत मुक्तक–काव्य में प्रत्येक पद्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। प्रबन्ध और मुक्तक इन दोनों शब्दों में ही इनके विशिष्टता बोधक उपसर्ग हैं। और बन्ध अनेक पद्यों में परस्पर सम्बन्ध–सूत्र पिरोने वाला तत्व है। प्रबन्धकाव्य में कथा का बन्धान एक विशेष प्रकार से होता है। उसमें शृंखलाबद्ध वर्णन अपेक्षित है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कोई प्रसिद्ध या काल्पनिक कथा का उसमें वर्णन होता है। कथा–सूत्र कहीं भी भंग नहीं होता। इसी प्रकार मुक्तक–काव्य में कवि ऐसे किसी बन्धन से पूर्ण मुक्त होता है। पूर्वापर सम्बन्ध की वहां कोई आवश्यकता नहीं होती।

प्रबन्ध और मुक्तक का अन्तरः—

मुक्तक–काव्य में कवि की केवल एक ही मनः स्थिति की अभिव्यक्ति मिलती है जबकी प्रबन्ध–काव्य में जीवन के सर्वांग पर दृष्टिपात करता हुआ कवि विविध मनोभावों के प्रकाशन में समर्थ हो जाता है। अतः प्रबन्धकाव्य के समान महत्ता मुक्तक–काव्य को नहीं दी जा सकती।

प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में प्रबन्धकाव्य की महिमा अत्यधिक रही है। बिना प्रबन्धकाव्य लिखे कोई महाकवि की उपाधि से विभूषित नहीं हो सका है। प्रबन्धकाव्य की इस गरिमा के कई कारण हैं। काव्य में जीवन की जिस व्यापकता का समावेश सम्भव है वह मुक्तक–काव्य में नहीं। प्रबन्ध-काव्य में जीवन का सर्वांग समग्र रूप से अभिव्यंजित होने के कारण मानव के हृदय को विभिन्न रसों से आप्लावित होने का अवसर सहज ही मिल जाता है। लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से प्रबन्धकाव्य मुक्तक–काव्य से अधिक महत्वपूर्ण है। प्रबन्धकाव्य अपने विस्तृत और वैविध्यपूर्ण फलक के कारण केवल आनन्द रस की अजस्र धारा ही प्रवाहित नहीं करता, अपितु पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का साधन भी बनता है और व्यक्ति को रसानन्द की अनुभूति के साथ–साथ पारलौकिक मोक्ष की प्राप्ति में भी विशिष्ट योग देता है।

प्रबन्धकाव्य का क्षेत्र अत्यधिक विस्तीर्ण और व्यापक होता है। उसके विस्तृत कलेवर में प्रगीत और मुक्तक भी समाहित हो जाते हैं। आचार्य वामन

---

१. वामनः काव्यालंकार (सूत्र हिन्दी) टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर,पृ०५६।

ने तो प्रबन्धकाव्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए मुक्तक काव्य को उसका एक सोपान मात्र माना है। उनके विचार से कवि सर्व प्रथम काव्य निर्माण के अभ्यास के रूप में मुक्तक काव्य की रचना करता है और उसमें दक्षता प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्रबन्धकाव्य की रचना के लिए सचेष्ट होता है। इसीलिये उन्होंने इन दोनों की स्थिति माला और मौर (मुकुट) के समान मानी है—"क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्"[1] (१,३,२८) अर्थात् जिस प्रकार पुष्पमाला के गूंथने के पश्चात् ही उससे मौर (पुष्प मुकुट) की रचना में प्रवृत होना सम्भव है, उसी प्रकार मुक्तक रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही प्रबन्ध रचना में सफलता मिल सकती है। इन दोनों की सिद्धि क्रमशः स्थिति रखती है। प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य की तुलना करते हुए पुनः वामन ने स्पष्ट रूप से मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य की श्रेष्ठता का कथन किया है।[2]

"असंकलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः॥"

—॥ १,३,२९ ॥

अर्थात् जैसे अग्नि के परमाणु अलग-अलग नहीं चमकते उसी प्रकार असंकलित रूप (मुक्तक) काव्यों में वह चारुता नहीं आ पाती जो प्रबन्धकाव्य में आती है।

मुक्तक का कलेवर अत्यन्त सीमित होने के कारण उसमें रस परिपाक के सहायक सभी अंगों–विभावादि–का ठीक प्रकार से निरुपण नहीं हो सकता और रस पूर्ण उत्कर्ष रूप को नहीं प्राप्त कर पाता। परन्तु प्रबन्धकाव्य में रस परिपाक पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसका कलेवर विस्तृत और व्यापक होने के कारण रस के उत्कर्ष विधायक सभी अंग उसमें यथेष्ट स्थान प्राप्त कर सकते हैं। मुक्तक काव्य में रसानुभव के लिए पूर्व पीठिका की कल्पना आवश्यक होती है जो सभी व्यक्ति समान रूप से नहीं कर पाते। प्रबन्धकाव्य रसानुभव को सभी के लिये समान रूप से सहज और सरल कर देता है। इसी कारण अभिनव गुप्त ने लिखा है—"तत्र (रसास्वादोत्कर्षकारकविभावादीनामप्राधान्यम्) प्रबन्ध एव"[3] अर्थात् रस के आस्वादन के उत्कर्ष विधायक विभावादि की समान प्रधानता प्रबन्धकाव्य में ही मिल पाती है।

---

१. वामन: काव्यालंकार सूत्र, हिन्दी टीका, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ५६।
२. वामन: काव्यालंकार सूत्र, हिन्दी टीका, आ० विश्वेश्वर, पृ० ६०।
३. अभिनवगुप्त: अभिनव भारती, पृ० २२८।

आचार्य कुन्तक ने प्रबन्धकाव्य को श्रेष्ठ कवियों का कीर्तिकन्द माना है- 'प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषुकिं पुनः ॥४-२६-४३॥'[1] आचार्य कुन्तक का यह कथन वस्तुतः पूर्ण सत्य है। प्रबन्धकाव्य में मानव जीवन की चिरन्तन भावनाओं का समावेश होता है। इसी कारण प्रबन्धकाव्य की महिमा चिरस्थायी होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को श्रेष्ठ माना है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थाई भाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मन्त्र मुग्ध-सा हो जाता है।"[2] आचार्य शुक्ल के इस कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि मुक्तक काव्य का महत्त्व अल्पकालीन होता है और प्रबन्धकाव्य का दीर्घकालीन। जिस प्रकार गुलदस्ता व्यक्ति को कुछ क्षणों तक ही आह्लाद प्रदान करके मुरझा जाता है, उसी प्रकार मुक्तक काव्य का प्रभाव भी क्षणिक होता है। परन्तु प्रबन्धकाव्य उस विस्तीर्ण वनस्थली के समान है, जिसमें नित्य नवीन नानाविध पुष्प प्रस्फुटित होकर अपनी सुगन्ध और सौन्दर्य के द्वारा निरन्तर जन-मानस को मुग्ध करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार प्रबन्धकाव्य से भी अविराम अनेक रस स्रोत झरते रहते हैं जो श्रोता अथवा पाठक को रसानन्द में सर्वदा मग्न किये रहते हैं। अतएव प्रबन्धकाव्य शाश्वत, चिरन्तन व सार्वयुगीन महत्त्व का अधिकारी है।

प्रबन्ध विस्तार का द्योतक है और उसमें निरन्तर गति की आवश्यकता है। प्रबन्धकाव्य वैविध्य और व्यापकता को इस प्रकार अपने में समाविष्ट किए रहता है कि उसमें मुक्तक और प्रगीत को भी अन्तर्भूत किया जा सकता है। जिस प्रकार विविध पुष्पों से युक्त वनस्थली में गुलदस्ते के पुष्पों

१. आचार्य कुन्तकः हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० ५४१।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७।

की सुरभि और सुषमा का आनन्द भी मिल जाता है उसी प्रकार प्रबन्ध के व्यापक कलेवर में मुक्तक का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

प्रबन्धकाव्य के तत्त्व :—

प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्रकारों ने रूपक का विवेचन करते हुए वस्तु, नेता और रस इन तीन तत्त्वों का कथन किया है। प्रबन्धकाव्य के सम्बन्ध में भी इन्हीं तीन तत्त्वों को आधार मानकर विचार किया जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्य को समझने के लिए तथा उसके प्रबन्ध की परीक्षा के लिए उसके दो पक्षों का उल्लेख किया है[1] —इतिवृत्तात्मक और रसात्मक। यहाँ पर इतिवृत्तात्मक तथा रसात्मक पक्षों से उनका तात्पर्य क्रमशः वस्तु एवं रस योजना से ही है। वस्तु और उसकी योजना पात्रों के माध्यम के बिना असम्भव है। प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु प्रधान पात्र के जीवन की गतिविधियों के साथ-साथ ही विकसित होती है। प्रधान पात्र का ही अभिधान नेता या नायक है। अतः स्पष्ट ही प्रबन्धकाव्य के तत्त्व वस्तु, नेता और रस माने जा सकते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी 'साकेत' पर विचार करते हुए वस्तु, नेता और रस इन तीनों को ही प्रकारान्तर से प्रबन्धकाव्य के आधार तत्त्व माने हैं।[2]

वस्तु :—

वस्तु के अन्तर्गत कथानक की गणना होती है। प्रबन्धकाव्य के लिए एक गतिशील और सुव्यवस्थित कथानक अनिवार्य है। डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने प्रबन्धकाव्य की उपमा तटिनी से देते हुए लिखा है—

'तटिनी' की भाँति नाटक और प्रबन्धकाव्य अपने आदि और अन्त के बीच में कथानक की धारा को लेकर बहते हैं।'[3]

आचार्यों ने कथानक अथवा कथावस्तु दो प्रकार की मानी है—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु प्रबन्ध काव्य के प्रधान पात्र (नायक) की जीवन घटनाओं पर आधारित होती है। प्रासंगिक कथा में प्रधान पात्र के अतिरिक्त किसी अन्य पात्र का वृत्त संनिविष्ट रहता है।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ७०, पंचम संस्करण।
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी: आधुनिक साहित्य, पृ० १०६ (द्वि० सं०)।
३. डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण': साहित्य सिद्धान्त और समीक्षा, पृ० ४२।

कथानक प्रबन्धकाव्य का मेरुदण्ड होता है। कथानक के बिना प्रबंधकाव्य का कोई रूप नहीं बन पाता। कथानक की आधारशिला ही प्रबन्ध को बन्धत्व प्रदान करती है। कथा के बिना न तो चरित्रों का विकास सम्भव है और न पाठकों की उत्सुकता ही जाग्रत रह सकती है। कथा के आवर्त में कवि के कथ्य को बल मिलता है तथा पाठकों का मन रमता हैं। प्रबन्धकाव्य को सर्गबद्ध होने की आवश्यकता बतलाते हुए प्राचीन आचार्यों ने कथा की सु-शृंखलाबद्धता पर ही विशेष ध्यान दिया है।

प्रश्न उठता है कि क्या प्रबन्धकाव्य में वस्तु के अन्तर्गत नायक के जीवन की सभी घटनायें उसी रूप में आनी चाहिए, जैसी कि जीवन चरित में आती हैं ? इस दृष्टि से संस्कृत एवं हिन्दी के प्रमुख प्रबन्धकाव्यों पर विचार करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि कुछ प्रबन्धकाव्यों में व्यक्ति को प्रधानता दी गई है और कुछ में किसी विशेष घटना को। जिनमें व्यक्ति को प्रधानता दी गई है उनमें नायक के जीवन की सभी मुख्य घटनाओं का वर्णन कुछ सामान्य परिवर्तनों के साथ होता है और जिनमें किसी घटना विशेष को प्रधानता दी गई है उनमें सम्पूर्ण वस्तु-योजना उस घटना के उपक्रम के रूप में होती है। इन्हें हम क्रमशः व्यक्ति प्रधान (जैसे—रघुवंश, बुद्धचरित, रामचरित मानस, प्रियप्रवास, साकेत आदि) एवं घटना प्रधान (जैसे—कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, पद्मावत, वैदेही वनवास आदि (प्रबन्धकाव्य) कह सकते हैं।

प्रबन्धकाव्य केवल इतिवृत्त-मात्र ही न होकर काव्य भी होता है। कहना यह चाहिए कि वह काव्य पहले और बाद में कुछ और होता है। अतः प्रबन्धकाव्य में इतिवृत्त या कथावस्तु सीधी न होकर वक्र होती है।

नेता :—

प्रबन्धकाव्य के कथानक के प्रधान पात्र को नेता या नायक कहते हैं। आधिकारिक कथावस्तु नायक ही की जीवन घटनाओं के आधार पर आगे बढ़ती है। कहीं-कहीं पर यह भी देखा जाता है कि किसी प्रबन्धकाव्य में एक व्यक्ति का जीवन वृत्त चित्रित न होकर एक समूह अथवा जाति की जीवन-दशा का अंकन किया जाता है। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर समूह अथवा जाति व्यक्ति की तरह ही चित्रित होते हैं। अतः बहुनायकत्व के कारण प्रबन्धकाव्य के स्वरूप में किसी प्रकार का दोष नहीं माना जा सकता।

यह भी विचारणीय है कि प्रबन्धकाव्य के कथानक में नायक का सम्पूर्ण जीवन वृत्त अंकित हो या उसका खण्ड जीवन; प्रबन्धकाव्य की आव-

श्यक शर्त को पूरा करने के लिए पर्याप्त है। प्रबन्धकाव्य के अनेक भेदोंपभेदों को दृष्टिगत रखते हुए यह स्पष्ट ही कहा जा सकता है कि प्रबन्धकाव्य में नायक का समग्र जीवन-वृत्त अथवा उसका जीवनांश दोनों में से कोई भी निरूपित किया जा सकता है। महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य आदि प्रबन्ध-काव्य के विभिन्न भेद नायक के जीवन-वृत्त के इसी वैभिन्य पर आधारित हैं।

गुण व स्वभाव की दृष्टि से भी भारतीय काव्यशास्त्र में नेता के ऊपर विचार किया गया है। पाश्चात्य विचारक नायक के गुणों पर भिन्न कोण से प्रकाश डालते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष विचार आगे उपयुक्त स्थल पर करेंगे।

रस :—

प्रबन्धकाव्य के रसात्मक पक्ष के अन्तर्गत रस-योजना का समावेश होता है। प्रबन्ध–काव्य में इतिवृत्त की अनिवार्यता निस्सन्दिग्ध है परन्तु केवल शुष्क इतिवृत्त मात्र ही प्रबन्धकाव्यकार का लक्ष्य नहीं होता, उसका लक्ष्य इतिवृत्त के माध्यम से उन मार्मिक स्थलों पर पहुँच कर रस सृष्टि का निर्माण करना होता है जो प्रबन्ध की कथावस्तु में यत्र-तत्र विकीर्ण रहते हैं।

भारतीय विचारकों ने काव्य में रस की महत्ता सर्वोपरि मानी है। यद्यपि काव्य की आत्मा को लेकर अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हुए हैं और उनके समर्थकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं तथापि आनन्दानुभूति की दृष्टि से सभी ने काव्य में रस की महत्त्वपूर्ण स्थिति को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। प्रबन्धकाव्य में मानव जीवन का विस्तृत और वैविध्यपूर्ण जीवन-वृत्त अंकित होता है; अतः उसमें मुक्तक की अपेक्षा रस-योजना के लिए अधिक अवकाश रहता है। प्रबन्धकाव्य में उत्पाद्य और अनुत्पाद्य, आधिकारिक और प्रासंगिक विशाल कथाओं और विभिन्न रुचियों एवं स्वभावों वाले पात्र-पात्रियों के कारण एक ही नहीं अनेक रसों के समावेश का अवकाश रहता है। परन्तु यहां पर कवि को अनेक रसों में सन्तुलन का ध्यान रखना भी आवश्यक है। प्रबन्धकाव्य में अनेक रसों का परिपाक होता है अतः उनके पारस्परिक सम्बन्ध और सामन्जस्य को भुलाया नहीं जा सकता।[1]

---

1. डा० सत्यपालसिंह शर्मा 'अरुण': बिखरे फूल पृ० १६०।

प्रबन्धत्व की सामान्य पहचान:—

प्रबन्धकाव्य पद्य-बद्ध तथा सर्ग-बद्ध कथात्मक काव्य है; सभी प्रबन्धकाव्य सर्गों या अध्यायों में विभक्त नहीं होते। प्रबन्धक काव्य और इतिवृत्तात्मक कथा से भिन्न काव्य-रूप समझना चा। पद्य-बद्ध, सर्ग-बद्ध अथवा कथात्मक होने से ही कोई काव्य प्रबन्ध कहला सकता। इतिहास, पुराण, दर्शन और शास्त्र के ग्रन्थ भी पद्य-अध्यायों में विभक्त होते हैं, परन्तु उन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता काव्य, कथाकाव्य के कुछ अधिक निकट है, क्योंकि दोनों में अलंकृत शै रसात्मक कथा का आयोजन होता है; किन्तु इन दोनों काव्य रूपों उद्देश्य, दृष्टिकोण और विषय वस्तु सम्बन्धी मौलिक भेद होता है। इन काव्य-रूपों में बाह्यतः जितनी समानता दिखाई पड़ती है अन्तरात्मा में ही अन्तर होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्य के सम्बन्ध लिखा है—

"प्रबन्धकाव्य में मानव जीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटना की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम से ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृद को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिए घटनाचक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का

प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिये जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हो। अतः कवि को कहीं तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार।"[१] इस परिभाषा के द्वारा प्रबन्धकाव्य और इतिवृत्तात्मक कथा साहित्य–परिकथा, धर्मकथा, सकलकथा आदि–का भेद स्पष्ट हो जाता है। प्रबन्धकाव्य और रसात्मक कथा-काव्य में भी अन्तर का कथन करते हुए रुद्रट ने प्रबन्ध के भेद–प्रबन्धकाव्य और कथा आख्यायिका–(कथा-काव्य) निर्दिष्ट किये हैं और कथाकाव्य की रोमांसिकता, उसके प्रेमाख्यानक स्वरूप तथा उसके कथाशरीर के जटिल संगठन की ओर संकेत करते हुए उसे प्रबन्धकाव्य से भिन्न बतलाया है।[२] इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के रोमांसिक कथा काव्य से भिन्न जो रसात्मक प्रबन्ध हों उन्हें ही प्रबन्धकाव्य कहना चाहिये।

प्रबन्ध के निकषः—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्य के इतिवृत्तात्मक व रसात्मक पक्षों की विवेचना करते हुए एक सफल प्रबन्धकाव्य के अन्दर तीन बातों की आवश्यकता पर बल दिया है[३] — (१) पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह (२) मार्मिक स्थलों की पहिचान और (३) दृश्यों की स्थानगत विशेषताएँ।

वस्तुतः ये तीनों बातें वस्तु और रस से ही सम्बन्धित हैं। यहाँ हम इन तीनों पर पृथक्-पृथक् रूप से संक्षेप में प्रकाश डालते हैं।

(१) पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह :—

प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु का विविध प्रासंगिक घटनाओं के साथ पूर्ण सामन्जस्य अर्थात् सम्बन्ध निर्वाह अत्यधिक आवश्यक है। प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु की गति में अनेक मनोरम विराम या मोड़ भी आते हैं। ऐसे स्थलों पर कथावस्तु में धारावाहिकता के न होने पर भी उसका सूत्र खंडित नहीं होना चाहिए। कहीं-कहीं विविध घटनाओं के वर्णन में विस्तार के होने हुये भी ये मुख्य कथा से सम्बद्ध होनी चाहिए। हमारे आचार्यों ने कथावस्तु दो प्रकार की कही है—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक या मुख्य उसे कहते हैं जिसमें प्रधान पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा का वर्णन हो। आधिकारिक कथा का सूत्र प्रारम्भ से फल प्राप्ति तक रहता है। प्रासंगिक

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्लः जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६८–६९ (पंचम संस्करण सं० २००८ वि०)।

२. रुद्रटः काव्यालंकार, १६ वां अध्याय, पृ० २०–२३।

३. रामचन्द्र शुक्लः जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६८–६९।

किंचित् भी असावधानी वर्तता है तो उसके वर्णन में हास्यास्पद असंगतियों एवं दोषों का समावेश हो जाता है। केशव की रामचन्द्रिका में इस प्रकार की त्रुटियाँ कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के लिए विश्वामित्र के आश्रम के निकटस्थ वन के वर्णन में प्रकृति वर्णन के उत्साह में कवि अनेक प्रकार के पुष्पों एवं वृक्षों के नाम गिनाता हुआ यह भी भूल जाता है कि 'एला ललित लवंग' आदि इस स्थान पर उत्पन्न होते हैं भी या नहीं।[1]

प्रबन्धकाव्य के भेदः—

राजशेखर ने कथानक के आधार पर प्रबन्धकाव्य के पांच भेद माने हैं।[2] परन्तु साहित्य में उनका यह वर्गीकरण लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका। इसके पश्चात् विश्वनाथ ने प्रबन्धकाव्य को तीन भेदों में विभक्त किया है—(१) महाकाव्य (२) काव्य (३) खण्डकाव्य।[3]

प्रायः प्रबन्धकाव्य के दो भेदों—महाकाव्य और खण्डकाव्य—को ही साहित्य जगत में अधिक मान्यता मिली है। आधुनिक काल के समीक्षा ग्रन्थों में इन्हीं की विवेचना का बाहुल्य रहा है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'वाङ्मय-विमर्श' में इन दो भेदों के अतिरिक्त प्रबन्धकाव्य की एक नई विधा 'एकार्थ-काव्य' और मानी है। वस्तुतः यह विधा साहित्य दर्पणकार की 'काव्य' नामक विधा ही है। उसे ही मिश्रजी ने एकार्थकाव्य का अभिधान देकर हिन्दी साहित्य जगत में प्रस्तुत की है।[4] श्री रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्यदर्पण' में इसको उसी पुराने नाम—काव्य—से अभिहित किया है।[5] पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से आधुनिक युग में अनेक प्रकार की शैलियों और स्वरूपों से युक्त

---

१. तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर,
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर वर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं,
सारी सुककुल कलित चित कोकिल अलि मोहैं।
सुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन,
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन।
—केशव: रामचन्द्रिका, तृतीय प्रकाश, छन्द १।

२. राजशेखर: काव्य मीमांसा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, प्र०सं०, पृ० ११४।

३. विश्वनाथ: साहित्य दर्पण, अध्याय ६, पृ० ३१५–३२६।

४. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र: वाङ्मय-विमर्श पृ० १३–१४।

५. श्री रामदहिन मिश्र: काव्य दर्पण, पृ० २४६।

काव्य-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। उनके आधार पर पं० सीताराम चतुर्वेदी ने प्रबन्धकाव्य के भेदों का नवीन वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—महाकाव्य (२) खण्डकाव्य (३) एकार्थकाव्य (४) गीति-कथा (५) मुक्तक-प्रबंध (६) नाट्य प्रगीत (७) आत्मचरितात्मक काव्य।[1] यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस वर्गीकरण के अन्तिम चार भेद—गीतिकथा, मुक्तक-प्रबन्ध, नाट्य-प्रगीत और आत्मचरितात्मक काव्य-इसके प्रथम तीन भेदों में ही अन्तर्भूत किए जा सकते हैं, क्योंकि इनमें उस आधारभूत तत्त्व की भिन्नता नहीं दिखलाई पड़ती जो प्रबन्धकाव्य का प्राण है। कथानक का सूत्र इन सभी में निहित है। गीतिकथा और नाट्यप्रगीत तो केवल अभिव्यक्ति की शैली के आधार पर ही भिन्न नाम प्राप्त कर गये हैं। गीतिकथा में कोमल भावनाओं से पूर्ण कथानक का आयोजन होता है एवं वह गीति-शैली में वर्णित किया जाता है, केवल इसी कारण उसे भिन्न रूप नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार नाट्य प्रगीत, नाट्य और काव्य का सम्मिश्रित रूप है। दोनों की विशेषताओं के समन्वित रूप को किसी एक कोटि में स्थान देना उचित नहीं कहा जा सकता। इसका स्थान तो श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य के बीच कहीं है जैसा कि गद्य और पद्य के बीच चम्पू होता है। इसी प्रकार मुक्तक प्रबन्ध का स्थान भी मुक्तक काव्य और प्रबन्धकाव्य के अतिरिक्त ही कहीं निर्धारित किया जा सकता है क्योंकि इसमें भी मुक्तककाव्य और प्रबन्धकाव्य दोनों की विशेषतायें समन्वित होती हैं। आत्मचरितात्मक काव्य उत्तम पुरुष शैली में लिखा हुआ प्रबन्धकाव्य ही होता है, उसमें यदि सम्पूर्ण जीवन का चित्रण हो तो उसे एकार्थकाव्य और यदि एक घटना का चित्रण हो तो खण्डकाव्य कहा जा सकता है। अतएव उसे अलग अभिधान देना व्यर्थ विस्तार का प्रयत्न होगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही कहना युक्तिसंगत होगा कि प्रबन्धकाव्य के तीन ही भेद उचित हैं—(१) महाकाव्य (२) खण्डकाव्य और (३) एकार्थकाव्य। आगे हम प्रबन्धकाव्य के इन्हीं भेदों पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

महाकाव्य का स्वरूप:—

महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन संस्कृत के अनेक आचार्यों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में किया है। महाकाव्य का सर्व प्रथम विवेचन भामह के काव्यालंकार में मिलता है भामह के मतानुसार महाकाव्य में सर्गबद्धता, महापुरुष का

---

१. पं० सीताराम चतुर्वेदी: समीक्षा-शास्त्र, पृ० ७६।

जीवन वर्णन, ग्राम्य शब्द-विहीन उत्कृष्ट अर्थयुक्त अलंकृत शब्द-प्रयोग, विजय यात्रा, दूत-प्रेषण, युद्ध-विजय आदि की संयोजना मिलती है।[1]

आचार्य दण्डी ने भी काव्यादर्श में महाकाव्य का विस्तृत विवेचन किया है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'महाकाव्य सर्गबद्ध होता है, प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है, चतुर्वर्ग में किसी एक की प्राप्ति का लक्ष्य रहता है। उसकी कथावस्तु संधियों से युक्त और सुसंगठित होती है।'[2]

महाकाव्य की परिभाषा को सबसे अधिक व्यापकता साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने प्रदान की। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में उन्होंने महाकाव्य का विस्तृत विवेचन किया है।[3] उनकी परिभाषा से महाकाव्य के सम्बन्ध में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं:—

: १ : महाकाव्य की कथा सर्गों में विभक्त होती है।

: २ : इसका का नायक देवता या सद्वंश में उत्पन्न धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रिय होना चाहिये। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी उसके नायक हो सकते हैं।

: ३ : इसमें शृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिये तथा अन्य रसों की भी प्रसंगानुसार योजना होनी चाहिये।

: ४ : इसमें नाटक की सम्पूर्ण सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उप-संहृति) होती हैं।

: ५ : कथानक ऐतिहासिक, लोकख्यात या सज्जनाश्रित हो।

: ६ : चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में से किसी एक की प्राप्ति का लक्ष्य हो।

: ७ : प्रारम्भ में आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मंगला-चरण होता है।

---

१. 'सर्गबन्धो महाकाव्यं महतांच महच्चयत् ।
अग्राम्य शब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम् ॥
मन्त्र दूत प्रयाणाजिन नायकाभ्युदयं च यत् ।
पंचभिःसन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥
—भामहः काव्यालंकार, १।१६–२३

२. दण्डी: काव्यादर्श, १।१४–१८ ।

३. विश्वनाथ: साहित्य दर्पण, परि० ६, ३१५–२५ ।

: ८ : खल-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा का भी कहीं कहीं उल्लेख होता है

: ९ : आठ से अधिक सर्ग होते हैं, जो न अधिक बड़े और न अधिक होते हैं। एक सर्ग में एक ही छन्द होता है, परन्तु सर्ग के अन्त छन्द में परिवर्तन भी होता है। किसी सर्ग में कहीं बहुत से वृतों उल्लेख पाया जाता है तथा सर्ग के अन्त में आगे की कथा को सूचि कर दिया जाता है।

: १० : इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रभा मध्यान्ह, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्व नगर, यज्ञ, युद्ध, युद्ध-यात्रा, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि व वस्तुओं का सांगोपांग वर्णन किया जाता है।

: ११ : महाकाव्य का नामकरण, कवि, कथावस्तु, नायक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम के आधार पर होता है और सर्गों के नाम सर्गगत कथा के आधार पर होने चाहियें।[१]

संस्कृत के आचार्यों की इन परिभाषाओं पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर आते है कि महाकाव्य में कुछ विशेषताएँ अनिवार्य एवं प्रधान होती हैं, जिनके सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत हैं और कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जो अनिवार्य नहीं हैं, गौण हैं और उनके विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। प्रमुख और अनिवार्य लक्षणों में निम्नलिखित हैं:—

(१) नायक का धीरोदात्त एवं सद्वंश संभूत होना, (२) कथानक का ऐतिहासिक तथा लोक विश्रुत होना, (३) रस की अजस्रधारा का प्रवाहित होना, (४) चतुर्वर्ग की प्राप्ति का लक्ष्य होना। दूसरी कोटि के लक्षणों में सर्गों की संख्या, वर्ण्य-विषयों की सूची या सर्गों का नामकरण, छन्द प्रयोग इत्यादि आते हैं। यदि विश्वनाथ के अनुसार आठ सर्गों को ही महाकाव्य का प्रमुख लक्षण मान लिया जाय तो रामायण जैसा अमर काव्य महाकाव्य के स्थान से च्युत हो जायगा। एक ही छन्द का एक सर्ग में विधान अनिवार्य मान लिया जाय तो अन्य मूल विशेषताओं से युक्त अनेक काव्य महाकाव्य की कोटि में न आ सकेंगे। वर्ण्य विषयों की दृष्टि से देखें तो सभी महाकाव्यों में सभी विषयों का वर्णन नहीं होता है। यदि वर्ण्यविषयों की सूची पर ध्यान देकर महाकाव्यों का परीक्षण किया जाय तो एक भी काव्य महाकाव्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव ये लक्षण गौण ही है। प्रधान और

१. विश्वनाथः साहित्य दर्पण, परि० ६, पृ० ३१५–२५।

अनिवार्य लक्षण ही शाश्वत, स्थायी और युग-युगों तक चलने वाले हैं तथा गौण लक्षण प्रत्येक कवि और प्रत्येक युग में परिवर्तित होते रहते हैं। फिर भी दोनों अन्योन्याश्रित हैं। गौण लक्षण प्रधान लक्षणों को रूप देते हैं और प्रधान लक्षण गौण लक्षणों को जीवन प्रदान करते हैं। महाकाव्य का चरित्र एक व्यक्ति-विशेष का चरित्र उसका रस व्यक्ति-विशेष का रस और उसका लक्ष्य व्यक्ति-विशेष का लक्ष्य नहीं होता अपितु उसका चरित्र मानवता का चरित्र, उसका रस समष्टि का रस और उसका लक्ष्य जीवन का लक्ष्य होता है।

पाश्चात्य साहित्य में महाकाव्य का विवेचन सर्व प्रथम अरस्तू ने अपने 'पोइटिक्स' नामक ग्रन्थ में किया है। उसने लिखा है–'महाकाव्य प्रकथनात्मक अनुकरण होता है जिसमें षट्पदी छन्द का प्रयोग किया जाता है, जिसके कथानक का निर्माण त्रासदी की भांति नाट्य सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिये। उसका विषय एक, सम्पूर्ण तथा आदि, मध्य और अवसान से युक्त होना चाहिये, जिसमें एक जीवन्त प्राणी के समान पूर्ण इकाई प्रतीत हो तथा वह अपना विशिष्ट आनन्द प्रदान कर सके। उसका शिल्प-विधान अथवा रूप गठन इतिहास से अधिक भिन्न होता है, क्योंकि इतिहास केवल एक कार्य को नहीं उपस्थित करना अपितु एक समय की एक अथवा अनेक घटनाओं को उपस्थित करना है। जो उस काल के एक अथवा अनेक व्यक्तियों से सम्बन्धित होती हैं और उनमें पारस्परिक सम्बन्ध केवल आकस्मिक ही होता है।'[1] अरस्तू की महाकाव्य विषयक धारणा से हमें निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं:—

: ५ : महाकाव्य में आदि से अन्त तक एक ही षट्पदी छन्द का प्रयोग होना चाहिये। वीर छन्द महाकाव्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है।

एवरक्रोम्बी ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'दी ऐपिक' के 'दी नेचर ग्राफ एपिक' नामक अध्याय में महाकाव्य के लक्षणों का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है जिसका सारांश इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—'महाकाव्य में महान् तथा सुन्दर कथानक हो जो ऐतिहासिक तत्त्वों पर आश्रित हो, जिसमें जीवन का प्रदर्शन किया गया हो, साथ ही कवि की अपनी मान्यताएँ भी व्यक्त की गई हों। उसमें ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा काव्य के सत्य का प्राधान्य हो। उसमें सुन्दर कथानक द्वारा नाटकीय ढंग से अन्तिम कार्य का वर्णन किया गया हो। उसकी शैली कलात्मक तथा कवि की कल्पना, विचारधारा एवं उसकी अभिव्यक्ति से सम्बद्ध हो और सशक्त एवं प्रवाहपूर्ण छन्दों से परिपूर्ण हो। वह विशाल हो, उसमें अप्राकृतिक तत्वों का भी वर्णन हो। उसमें व्यष्टिगत प्रतीकात्मकता न होकर समष्टिगत प्रतीकात्मकता हो और मानव जीवन के महान् उद्देश्यों का उद्घाटन किया गया हो।'[१] इस विवेचन में बाह्य रूप-विधान का उल्लेख नहीं है केवल प्रमुख एवं आन्तरिक तत्त्वों का ही उद्घाटन किया गया है।

डब्ल्यू० पी० केर ने महाकाव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—[२] "महाकाव्य में चरित्रों की कल्पना अत्यन्त स्पष्ट और पूर्ण की जाती है। उनकी विभिन्न मनोदशाओं एवं समस्याओं का उद्घाटन होने के कारण महाकाव्य में स्वाभावतः विभिन्न दृश्यों एवं गुणों का चित्रण हो जाता है। इस प्रकार समस्त जीवन के कार्य कथानक का रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पना शक्ति और चरित्रांकन पर आधारित है। कथानकों की एक विशेष प्रकार की गरिमा एवं एक विशेष प्रकार की सफलता, जिसमें नवीन दृश्यों और साहसिक कार्यों का प्राधान्य होता है, किसी काव्य को महाकाव्य सिद्ध कर सकती है, चाहे उसमें नाटकीय गुणों का अभाव हो चाहे उसका नायक महत्त्वहीन हो।" यहाँ पर महाकाव्य के लिए कथानक की महत्ता, कवि की कल्पना शक्ति, चरित्रों के सफल अंकन और दृश्यों की विविधता को अनिवार्य तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान की है।

---

१. एवरक्रोम्बी: दी एपिक—एल ऐसे, पृ० ४०–४१।

२. डब्ल्यू० पी० केर: एपिक एण्ड रोमांस, पृष्ठ ११।

सी० एम० बावरा नामक प्रसिद्ध आलोचक ने महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"सर्व सम्मति से महाकाव्य एक प्रकथनात्मक काव्य है, जिसका आकार वृहत् होता है और जिसमें उन घटनाओं का वर्णन होता है जो एक निश्चित गरिमा और महत्त्व से सम्बन्धित होती है तथा जो एक क्रियात्मक जीवन से ली जाती है, विशेषकर युद्ध जैसे भयंकर कार्यों से युक्त जीवन से। वह काव्य एक विशेष आनन्द की अनुभूति करता है, क्योंकि उसकी घटनायें और पात्र मानवीय प्रयत्नों के समत्त्व, मानव के गौरव और उसकी कुलीनता एवं महिमा के प्रति हमारी आस्था को बढ़ाते हैं और दृढ़ करते हैं।"[1]

इस परिभाषा में महाकाव्य की विशालता, महत्वपूर्ण और गरिमामयी घटनाओं के वर्णन और चरित्रों के गौरव और गरिमा पर विशेष बल दिया गया है।

सी० एम० गेले ने महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है[2]—"महाकाव्य किसी ऐसे महिमामण्डित कथानक या व्यापार के गरिमापूर्ण कथा प्रबंध की वह सात्विक अभिव्यक्ति है जो किन्हीं वीर पात्रों और अतिप्राकृतिक शक्तियों द्वारा सर्वाधिष्ठात्री नियति के नियन्त्रण में घटित होता है।"

वाल्टर पैटर नामक विद्वान् ने महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण इस प्रकार किया है[3]—महाकाव्य में विस्तृत परिधि, विविधता, महान् उद्देश्यों के साथ मैत्री, विद्रोह के स्वर की गहनता, आशा की विशालता, सन्तप्त एवं प्रपीड़ित मानवों की आपत्ति को दूर करने का प्रयत्न, लोक-मंगल की वृद्धि के प्रयास, नूतन एवं पुरातन मानव सत्यों का उद्घाटन, पारस्परिक सौहार्द एवं सहानुभूति को बढ़ाने की भावना, क्षणभंगुर जीवन को सुखप्रद बनाने की भावना आदि का वर्णन होना चाहिये।" इस प्रकार उन्होंने महाकाव्य की आन्तरिक विशेषताओं का ही उल्लेख किया है।

मैकनील डिक्सन ने अपनी पुस्तक 'इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री' के "द आइडिया आफ एपिक" प्रकरण में महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसे किसी युग-विशेष की आवश्यकता और देन माना है और किसी महाकवि की विशिष्टता को युग-सापेक्ष कहा है।[4] उन्होंने लिखा है[5]—'यद्यपि

1. सी० एम० बावरा: फ्राम वर्जिल टू मिल्टन, पृ० १।
2. सी० एम० गेले: प्रिंसिपल्स आफ पोइट्री।
3. वाल्टर पेटर: एप्रीसिएशन, पृ० ३६।
4. मैकनील डिक्सन: इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० १३।
5. वही, पृ० १८-१९।

महाकाव्य का एक निश्चित स्वरूप होता है, तथापि उसे संकीर्ण लक्षणों के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। उदाहरणार्थ शास्त्रीय महाकाव्य का यह नियम कि उसमें कल्पित और अविश्वसनीय तत्त्व नहीं होने चाहिए; यदि दृढ़तापूर्वक स्वीकृत किया जाय तो अनेक उत्कृष्ट तथा महान् महाकाव्यों को इस कोटि से निकाल देना पड़ेगा।' उन्होंने वाल्टेयर के उस मत का समर्थन किया है जिसके अनुसार महाकाव्य को बाह्य लक्षणों और परम्परागत रूढ़ियों से आबद्ध न मानकर घटना की महत्ता को स्वीकार किया है, जिसके कारण समाज उसे महाकाव्य की संज्ञा प्रदान कर देता है।[1] परन्तु नायक की महत्ता को भी वे अस्वीकार नहीं कर पाये हैं। नायक के महत्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है[2]—"महाकाव्य का नायक जाति-विशेष का प्रतिनिधि होता है। उसके चरित्र में जाति-विशेष के सम्पूर्ण आदर्शों की अभिव्यक्ति और समाज की सामूहिक चेतना का स्पन्दन दृष्टिगोचर होता है। महाकाव्य में नायक को विजयी दिखाना आवश्यक समझा गया है, क्योंकि उसकी विजय में सारे राष्ट्र की विजय निहित होती है।"

ई०एम०डब्लू टिलयार्ड ने महाकाव्य के लिए निम्नलिखित आवश्यकताओं का उल्लेख किया है[3]—(१) उदारता, गुणों की महानता और महान् गाम्भीर्य। इनके लिए एक विशिष्ट शब्दों का प्रयोग। (२) विस्तार, व्यापकता एवं विषयों का प्राचुर्य। इसीके अन्तर्गत जीवन के वैविध्य का चित्रण भी सम्मिलित है। (३) घटना का बाहुल्य एवं वैविध्य के साथ उनकी पारस्परिक शृंखलाबद्धता। (४) समकालीन समष्टिगत भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति अर्थात् अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के चित्रण के स्थान पर समाज की अनुभूतियों का चित्रण।

महाकाव्य-विषयक पाश्चात्य आदर्श :—

पाश्चात्य समीक्षकों ने महाकाव्य (एपिक) के दो भेद स्वीकार किए हैं—विकसित महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ) और कलात्मक महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट) इन्हीं दो भेदों को क्रमशः प्रामाणिक (ऑथेण्टिक) और साहित्यिक (लिटरेरी) महाकाव्य भी कहा गया है। विकसित महाकाव्य साधारणतया

१. वही, पृष्ठ ६।
२. वही, पृ० २१।
३. ई० एम० डब्ल्यू० टिलयार्ड: दी इंगलिश एपिक एण्ड इट्स बैकग्राउण्ड, पृ० ५–१३।

(१) महाकाव्य का कथानक महत्त्वपूर्ण, लोकविश्रुत और विशाल होना चाहिये।[१] इसमें परम्परा-प्रतिष्ठित एवं जातीय गौरव के भाव का प्राधान्य होना अपेक्षित है।

(२) महाकाव्य का नायक कोई शौर्य-गुण सम्पन्न, विजयी, महापुरुष होना चाहिए।[२]

(३) महाकाव्य के कार्य-कलाप की सीमा बढ़ाने और कथानक को अधिक चमत्कृत तथा महत्त्व-व्यञ्जक बनाने की दृष्टि से—अतिमानवीय तथा अलौकिक शक्तियों तथा पात्रों का प्रयोग पाश्चात्य महाकाव्य का अपरिहार्य तत्त्व माना जाता है।[३]

(४) महाकाव्य के कथानक में नाटक की जैसी धारावाहिकता नहीं होती। वह धीमी और मन्थर गति से आगे बढ़ता है, महाकाव्य गौण चरित्रों की अवतारणा, विविध घटनाओं की सृष्टि, उपाख्यानों की योजना और विविध दृश्यों के चित्रण द्वारा अपने कथानक को समृद्ध बनाता हुआ पाठकों के हृदय को मुग्ध करता है।[४]

(५) महाकाव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही छन्द का प्रयोग होता है और उसकी भाषा-शैली असाधारण गरिमा को लिए हुये होती है।[५] महाकाव्य की सफलता के लिये कवि का भाषा पर विशिष्ट अधिकार, भावाभिव्यक्ति में अद्भुत प्रवीणता, अप्रतिम कल्पनाशक्ति एवं वर्णन-चातुर्य आवश्यक है।

महाकाव्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों की तुलना

महाकाव्य सम्बन्धी पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों के विचारों में मूलतः कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है। महाकाव्य का स्वरूप प्रत्येक देश में प्रायः एकसा होता है—कुछ ऊपरी भिन्नतायें होती हैं। दोनों दिशाओं के महाकाव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

---

१. एबरक्राम्बी: द एपिक, पृ० ४८।
२. डिक्सन: इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० २१।
३. एबरक्राम्बी: द एपिक, पृ० ६५।
४. डिक्सन: इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री, पृष्ठ २२।
५. एबरक्राम्बी: द एपिक, पृष्ठ ६१।

(१) कथानक :—

यद्यपि दोनों ही दृष्टियों से महाकाव्य का कथानक लोक-विश्रुत अथवा ऐतिहासिक होता है, तथापि पूर्वीय महाकाव्यों में समय का प्रसार पाश्चात्य महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक होता है। इलियड और ओडेसी जैसे विशालकाय महाकाव्यों की घटनायें कुछ दिनों के भीतर ही घटती हैं, पर महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों में युग-युग की घटनायें संग्रहीत हैं।

(२) नायक :—

दोनों ही दृष्टियों से नायक वीर, महान् और जातीय गौरव और संस्कृति का अग्रदूत होता है। भारतीय महाकाव्यों में आदर्श की प्रधानता रहती है। लोक-मंगल उनका प्रधान लक्ष्य होता है। इसीलिए उनमें नायक के आदर्श चरित्र के अंकन को वैशिष्ट्य प्रदान किया जाता है। वह सर्वदा महान् कार्यों के लिए प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होता है और अन्त में न्याय की अन्याय पर विजय प्रदर्शित करने के लिए नायक की विजय निश्चित होती है। दूसरी ओर पाश्चात्य महाकाव्यों में उसका चरित्र गिरा हुआ भी हो सकता है और अन्त में उसका पतन और पराजय भी सम्भव हो सकती है, जैसा कि "पैरेडाइज लास्ट" में दिखाई देता है। हमारे यहाँ के महाकाव्यों में वस्तु-बल की अपेक्षा आत्मिक-बल को प्रमुखता प्रदान की गई है। हमारे नायक बलवीर ही नहीं, प्रणवीर, सत्यवीर, धर्मवीर और दानवीर भी होते हैं।

(३) रस :—

पाश्चात्य महाकाव्य संघर्ष-प्रधान संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि भारतीय महाकाव्य त्याग और वैराग्य-प्रधान भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। हमारा दृष्टिकोण संघर्ष को नहीं, अपितु आनन्द, शान्ति और वैराग्य को प्रधानता प्रदान करता है। अतः हमारे महाकाव्यों में शृंगार, वीर या शान्त रसों की प्रधानता होती है किन्तु पाश्चात्य देशों के नायक युद्ध-प्रेमी होते हैं और इसीलिए उनके महाकाव्यों में वीर-रस की प्रधानता होती है।

(४) अलौकिकता :—

(५) छन्द :—

पाश्चात्य महाकाव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग उचित समझा गया है पर हमारे यहाँ सर्ग के अन्त में बदलने और अनेक छन्दों के प्रयोग की छूट है।

(६) भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणों का निर्धारण करते समय नायक की महत्ता पर अधिक बल दिया है और पाश्चात्य आचार्यों ने घटना की महानता पर। महाकाव्य के लिए नायक के चरित्र की महत्ता को अनिवार्यतः आवश्यक मानते हुए विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है—"मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है और उसका शिखर मेघों को भेद कर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके दैव-भाव से मुग्ध, उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।[1] रवि बाबू के इस कथन के अनुसार नायक ही महाकाव्य का आधार होता है। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय और पाश्चात्य दोनों मान्यतायें मूलतः भिन्न नहीं हैं। यदि महाकाव्य का नायक महान् होगा तो उसमें उसके चरित्र के साथ महती घटनाओं का सम्बन्ध तो अनिवार्य रूप से होगा ही, क्योंकि महती घटनाओं के परिवेश में ही तो उसकी महानता सिद्ध होगी। इसी प्रकार जहाँ महती घटनायें होंगी, वहाँ महान् नायक का होना तो स्वतः सिद्ध ही है।

इसी प्रकार पाश्चात्य आचार्यों की यह मान्यता है कि महाकाव्य में जातीयता का प्रतिनिधित्व आवश्यक है और भारतीय आचार्यों की यह मान्यता है कि महाकाव्य में नायक के समग्र महच्चरित्र का अंकन अपेक्षित है, मूलतः एक ही है क्योंकि महच्चरित्र वाला नायक जाति का प्रतिनिधि ही होता है। फिर नायक की श्रेष्ठता के साथ कथानक की इतिहास-प्रसिद्धि, जीवन की विविधताओं का चित्रण, युद्ध, यात्रा इत्यादि का वर्णन महाकाव्य को जातीय जीवन से संयुक्त कर देते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी पात्रों की विशिष्टता को स्वीकार किया है।

---

१. रवीन्द्रनाथ टाकुर: (अनुदित) मेघनाद वध, भूमिका, पृ० १५७–५८।

कथानक का ख्यात होना, उसकी नाटकीय अन्विति होना, अवान्तर कथाओं की योजना, विविधता पूर्ण मानव-जीवन की अभिव्यक्ति, चरित नायक की महानता, जातीय आदर्शों तथा भावनाओं की व्यंजना, भाषा-शैली की गरिमा, महदुद्देश्य का उद्घाटन होना आदि विशेषताएँ दोनों को स्वीकार्य हैं। भारतीय आचार्यों ने रस-परिपाक को महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों में स्थान दिया है। अग्निपुराण में तो रसको महाकाव्य का प्राण माना गया है। पश्चिमी विद्वानों ने रस का कोई उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने प्रभावान्विति पर बल दिया है। यह प्रभावान्विति ही दूसरे प्रकार से रस कही जा सकती है। इस प्रकार महाकाव्य के मूलभूत लक्षणों में कोई तात्त्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता। इस सम्बन्ध में मेकलेन डिक्सन ने ठीक ही कहा है—'महाकाव्य सभी देशों में एक जैसा होता है। वह चाहे पूर्व का हो या पश्चिम का, उत्तर का हो या दक्षिण का, उसकी आत्मा एवं प्रकृति सर्वत्र एक जैसी होती है। सच्चा महाकाव्य चाहे कहीं भी निर्मित हो, एक प्रकथनात्मक काव्य होगा। उसका रूप सुव्यवस्थित होगा, उसमें महत्कार्य और महच्चरित्रों का चित्रण होगा, शैली में विषयानुकूल गाम्भीर्य होगा, उसमें चरित्रों और उनके कार्य-कलाप को आदर्श रूप देने का प्रयास होगा तथा उसका कथानक उपाख्यानों एवं वर्णन-विस्तार से समृद्ध होगा।'[1]

हिन्दी साहित्य में महाकाव्य-सम्बन्धी धारणाएँ:— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्य का विवेचन करते हुए एक स्थान पर लिखा है—

'महाकाव्य में घटनाओं की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम से ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले तथा उसे नानाभावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिये। इतिवृत्त के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिए घटनाचक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिये जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हो।'[2]

आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त परिभाषा से महाकाव्य के निम्न तत्त्व सामने आते हैं:—

(१) इतिवृत्त (२) वस्तु व्यापार वर्णन

(३) भाव-व्यंजना और (४) संवाद।

---

१. मैकलेन डिक्सन: इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० २४।

२. जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६६।

४. नायक की महत्ता ।

५. रसात्मकता ।

६. जीवन का यथा साध्य सर्वांगीण चित्रण ।

७. जातीय भावनाओं और संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति ।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर महाकाव्य के प्राचीन और अ
तथा भारतीय और पाश्चात्य लक्षणों पर सम्पूर्णतया विचार करने के
उसके स्वरूप के सम्बन्ध में हम संक्षेप में यह कह सकते है कि महाक
जीवन समष्टि की अनुपम झांकी, मानवीय कर्त्तव्यों और चेष्टाओं का
वैज्ञानिक दिग्दर्शन, व सत्यं शिवं सुन्दरं का मनोहारी समन्वय होना चा
केवल आकार में महत्काय होने पर ही कोई महाकाव्य कहलाने का अधि
नहीं हो सकता । वर्ण्य विषय का उचित परिपाक, व्यंजना का प्राधान्य,
का गाम्भीर्य तथा रस प्रवाह का नैरन्तर्य महाकाव्य के आवश्यक गुण
महाकाव्य के विशाल चित्रपट पर अपने प्रखर व्यक्तित्व से समस्त युग व
को प्रभावित करने की क्षमता रखने वाले नायक का चरित अंकित होता
महाकाव्य में देश की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना का जीवन्त संदेश
होता है । महाकाव्य का प्रभाव अपने समय देश व जाति तक ही सीमित
होता वरन् आगे-आने वाले युग युगान्तरों, देशों, जातियों एवं सभ्य
संस्कृतियों पर भी अमिट रूप से अंकित होता चलता है । मानव जीवन
बाह्य एवं अन्तर्जगत को आप्लावित करने वाली मंगलमयी मन्दाकिनी के स
महाकाव्य में भी विश्वमानवता का कल्याण करने वाली भावनाओं का
अजस्र निर्झरित होता रहता है ।

खण्ड काव्य :—

संस्कृत के आचार्यों ने खण्ड काव्य का विवेचन विस्तार के साथ न
किया है । इसके स्वरूप की कल्पना सर्व प्रथम रुद्रट के मस्तिष्क में आ
जब उन्होंने कथा आख्यायिका आदि की तरह प्रबन्धकाव्य के महत् एवं लघु
रूप बताये ।[१] इनमें प्रथम महाकाव्य है और द्वितीय खण्ड काव्य कहा ज
सकता है । लघु प्रबन्ध स्वरूप निर्धारण करते हुए उन्होंने लिखा है कि इनमें
चतुर्वर्ग-फल में से कोई एक और में अनेक रस असमग्र रूप में या एक रस समग्र
रूप में होता है ।[२] आगे पुनः वे लघु काव्य या खण्ड काव्य के संबंध में कहते

---

१. रुद्रट: काव्यालंकार, १६।२ ।

२. वही, १६।६ ।

है कि क्षुद्र काव्य में नायक को सुखी और आपत्ति-ग्रस्त दोनों ही दशाओं में प्रदर्शित करना चाहिए और द्विज, सेवक तथा सार्थवाह इत्यादि का उसके साथ वर्णन करना चाहिए। उसमें करुण रस अथवा प्रवास शृंगार अथवा पूर्वानुराग का परिपाक होना चाहिये। फिर अन्त में नायक का अभ्युदय दिखाना चाहिये।[1] इस लक्षण को देखने से प्रतीत होता है कि पहले तो रुद्रट ने कहा है कि किसी एक रसकी पूर्णता हो और फिर उसका नाम निर्देश भी कर दिया है। करुण और शृंगार में भी प्रवास और पूर्वानुराग का निर्देश करके उसके लक्षण को सीमित कर दिया है। पहले उन्होंने उसका नाम लघु काव्य दिया है और फिर क्षुद्र काव्य। सम्भवतः उनकी दृष्टि में ये दो प्रकार के काव्य रहे हों। अतएव उनके लक्षणों से खण्ड काव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

'खण्ड-काव्य' नाम और उसके निश्चित वस्तुपट की कल्पना का सारा श्रेय आचार्य विश्वनाथ को है। उन्होंने 'साहित्य दर्पण' में खण्ड काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—'खण्डकाव्यंभवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारिच।'[2] अर्थात् काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है। महाकाव्य में समग्र जीवन का अंकन होने के कारण विविधता होती है, किन्तु खण्डकाव्य में जीवन की किसी एक ही घटना का चित्रण किया जाता है।

हिन्दी के आचार्यों ने विश्वनाथ को ही स्वीकार किया है। बाबू गुलाबराय ने खण्डकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—'खण्डकाव्य में प्रबन्ध-काव्य का सा तारतम्य तो रहता है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की वह अनेक रूपता नहीं रहती जो कि महा-काव्य में होती है।[3] समालोचक-प्रवर विद्वद्वर डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने खण्ड-काव्य को इस प्रकार परिभाषित किया है—'काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्ड काव्य होता है। उसमें जीवन की पूर्णता अभिव्यक्त नहीं होती। उसकी रचना के लिए कोई एक घटना अथवा सम्वेदना मात्र पर्याप्त होती है।[4] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने खण्ड-काव्य के स्वरूप का इस प्रकार निर्धारण किया—'महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना

---

१. वही, १६।३३,३४।
२. विश्वनाथ: साहित्य दर्पण, ६।३२९।
३. गुलाबराय: काव्य के रूप, पृष्ठ ११८।
४. डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण': हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, पृष्ठ २८।

है और वह उसकी प्रतिभा का आश्रय पाकर काव्य का रूप धारण कर लेती है। जहाँ महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन की अनुभूति व्यक्त होती है, वहाँ खण्ड-काव्य में जीवन के किसी खण्ड या अंश की अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु वह अपने में पूर्ण होती है। देखने में वह अंश प्रतीत नहीं होती।

३. खण्डकाव्य के कथानक में सर्गों की योजना भी विशेष आवश्यक नहीं है। किन्तु यदि कोई कवि सर्गों की योजना करता है तो वह भी कोई दोष नहीं है। केवल सर्गबद्धता के लिए वह बाध्य नहीं है।

४. खण्डकाव्य में कथानक का इतिहास-प्रसिद्ध अथवा सज्जनों में प्रख्यात होना भी वांछनीय नहीं है, क्योंकि महाकाव्य की भाँति ही उसका कोई महत् सन्देश होना आवश्यक नहीं है। कवि को पौराणिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन की कोई घटना ही प्रभावित नहीं करती अपितु समाज में प्रतिदिन होने वाली कोई विशिष्ट घटना भी उसकी चेतना को झकझोर सकती है। ऐसी परिस्थिति में वह अपनी कल्पना से कथानक और पात्रों का निर्माण करके उसे खण्डकाव्य का स्वरूप प्रदान कर सकता है।

एकार्थकाव्य:—

इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रन्थ की रचना की—मुझमें महाकवि होने की योग्यता नहीं, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नहीं जो काव्य के लिए उपयुक्त उपकरण संग्रह करने में कृत कार्य हो सके अतएव मैं किस मुख से कह सकता हूँ कि प्रियप्रवास बनजाने से खड़ी बोली में एक महाकाव्य न होने की न्यूनता दूर हो गई।'[1] रामचरित-चिन्तामणि,[2] आर्यावर्त[3] आदि अनेक ग्रन्थों में भी यह परम्परा मिलती है। कवियों द्वारा अपने काव्यों को महाकाव्य कहने की यह परम्परा परवर्ती संस्कृत साहित्य में भी विद्यमान थी जैसे-हम्मीर महाकाव्य, धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य आदि। इन काव्यों में प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में भी इन्हें महाकाव्य कहा गया है।

इस प्रकार लिखा है—कूबरी: ब्रजभाषा-खण्डकाव्य, प्रह्लाद विजय, खण्डकाव्य, दशानन: खण्डकाव्य, द्रोण, खण्डकाव्य, पाषाणी: सौन्दर्य-चेतना का कथाकाव्य, मशय की एक रात: एक-काव्य, कौन्तेय-कथा: काव्य आदि।

इससे स्पष्ट है कि कवियों द्वारा अपने काव्यों को महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि कहने की प्रवृत्ति तब उत्पन्न होती है जब वे पूर्ववर्ती प्रख्यात काव्यों को आदर्श मानकर उनका पूर्णतः अनुकरण करते हुए परम्परागत शैली में प्रबन्ध रचना करते हैं। ऐसे ही कवियों को लक्ष्य करते हुए विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—'इस समय के कवि जैसे 'आओ एक एपिक लिखा जाय' कहकर सरस्वती के साथ पहले से ही बन्दोबस्त करके 'एपिक' लिखने बैठ जाते हैं। प्राचीन कवियों में ऐसा फैशन नहीं था।'[1] वस्तुतः आजकल के कवि पहले से ही यह सोचकर प्रबन्ध रचना करते हैं कि हमारा यह काव्य, महाकाव्य होगा। विवेच्य युग के अधिकांश कवियों ने अपने बड़े प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य के नाम से सम्बोधित किया है। आलोच्ययुगीन अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में अभिव्यक्त यह प्रवृत्ति परम्परा का रूप धारण करती दिखाई देती है।

अब हम विवेच्य काल के प्रमुख प्रबन्धकाव्यों पर काल-क्रम के अनुसार संक्षेप में परिचयात्मक दृष्टि डालते हुए विचार करेंगे।

मेधावी [१९४७] :—डा० रांगेय राघव ने अपने महाकाव्य 'मेधावी' में कुछ नवीन परम्पराओं का सूत्रपात किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध का कथानक यद्यपि कवि के अनुसार अनेक शास्त्रों की विस्तीर्ण भूमि से अपनाया गया है।[2] किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो यह सामग्री काव्य का विषय नहीं है। 'मेधावी' वस्तुतः विचार प्रधान काव्य है, जिसमें घटनायें घटित नहीं होतीं, उनकी प्रस्तुति न प्रत्यक्ष होती है न विगत स्मृति के रूप में। मेधावी में व्यक्त सिद्धान्त कवि के सिद्धान्त हैं जो उसकी चिन्तधारा को उद्दीप्त करते हैं।

'मेधावी' में परम्परागत प्रबन्धकाव्य की सी कसावट उपलब्ध नहीं होती। परन्तु कवि के कथनानुसार 'प्रबन्ध होने के कारण यह प्रबन्धकाव्य है। प्रबन्ध परम्परा की अधिकांश बातें इसमें नवीन रूप में अवश्य आ गई हैं।'[3] काव्य का स्वरूप न आख्यानात्मक है, न घटना प्रधान और न चरित्र

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : मेघनाद वध का हिन्दी अनुवाद—भूमिका, पृष्ठ ५७ [प्रथम संस्करण १९८४]।

२. डा० रांगेय राघव : मेधावी प्राक्कथन।

३. वही।

बाहुल्य है। ब्रजभाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल रोला, हरिगीतिका, सवैया' दोहा, चौपाई आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग भी सुन्दर हुआ है।

विक्रमादित्य [१९४७]—गुरुभक्तसिंह द्वारा रचित 'विक्रमादित्य' एक सवादात्मक महाकाव्य है। इसमें रामगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के इतिहास प्रसिद्ध आख्यान को उठाया गया है। इसके कथानक में धारावाहिकता नहीं है। क्षत्रय कुमारी वीणा और वीरसेन के प्रसंग चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी की मूल कथा से अन्वित नहीं हो सके हैं। कथोपकथनों की अधिकता तथा विस्तीर्णता कथा-प्रवाह में बाधक सिद्ध हुई है। इस रचना में शृंगार रस प्रधान है। वीर, हास्य, करुण, वीभत्स आदि अन्य रसों का निर्वाह भी अत्यन्त कुशलता से किया गया है। भाषा सरल, सरस और मुहावरेदार है। प्रकृति-चित्रण में कई स्थलों पर कवि की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना नाटकीय शैली में हुई है। प्रस्तुत रचना मे कथोपकथनों की अधिकता, कथानक में सम्बन्ध-निर्वाह का अभाव, तथा भारतीय प्राचीन परम्परानुसार नायक की गरिमा का न होना आदि उपकरण इसके महाकाव्यत्व को क्षतिग्रस्त कर रहे हैं।

तुमुल [१९४८]—श्यामनारायण पाडेयजी ने इस खण्डकाव्य में मेघनाद-वध की सुप्रसिद्ध घटना को प्रमुख आधार बनाया है। इस घटना का वर्णन करते हुए भी कवि बीच-बीच में सृष्टि रहस्य और त्रिकाल-दर्शी राम की महिमा का गान करने लगा है जिससे वस्तु-संगठन को बड़ा धक्का पहुँचा है। काव्य, काव्य न रहकर दर्शन ग्रन्थ सा बन गया है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता अपराजेय मेघनाद के शौर्य, पितृभक्ति एवं स्वाभिमान का चित्रण है। लक्ष्मण का चरित्र मेघनाद के सशक्त व्यक्तित्व के सम्मुख टिक ही नहीं पाता। 'उत्साह' की स्वाभाविक व्याख्या काव्य में हुई है। युद्ध वर्णन अत्यन्त सजीव एवं मर्मस्पर्शी है।

प्रतान के ४ से ९ तक के पद्य दर्शनीय हैं। आगे २८ से ४९ तक के पद्यों में मारीच तथा २२वें प्रतान में १३४ से १३७ तक के पद्यों में विभीषण का नैतिक दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति का ही नहीं, मानव-संस्कृति का उद्घोषक है। सांस्कृतिक वातावरण की यह शीतल छाया तथा नैतिक आदर्शों की यह दीप्ति महाकाव्य की गरिमा के सर्वथा योग्य है।

कथानक, सर्ग, नायक, छन्द, वर्णन आदि अनेक दृष्टिकोणों से यह ग्रन्थ महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। इसके कथानक में प्रवाह, समन्वयात्मक विकास और सहज वेग है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं में पूर्ण सामन्जस्य है। इसमें संवादों की योजना भी सुन्दर हुई है। रावण-अंगद संवाद[1] और परशुराम-लक्ष्मण संवाद[2] इस बात के प्रमाण हैं।

प्रस्तुत कृति में रस निर्वाह भी बड़े कौशल से किया गया है। प्रसंगानुकूल रस योजना में कवि सिद्धहस्त है। यों तो इस रचना में सभी रस मिलते हैं, किन्तु 'वीर' प्रधान है। शृंगार, हास्य, करुण, शान्त आदि रसों का भी यथास्थल सुन्दर नियोजन हुआ है। शास्त्रीय लक्षणानुसार यह एक सुन्दर महाकाव्य है।

नहीं होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का इस विषय में कथन है कि—'श्री रघुवीरशरण मित्र का लगभग ६०० पृष्ठों का महाकाव्य 'जननायक' देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। यह भारतवर्ष की जनता के सबसे महान् नेता का केवल जीवन ही नहीं है बल्कि पिछले पचास—साठ वर्षों का जीवन इतिहास भी है।'[१] कवि ने स्वयं अपनी रचना को महाकाव्य माना है।[२] अतः इसमें महाकाव्योचित कथावस्तु के मर्म-स्पर्शी प्रसंग, उत्कृष्ट कवित्त्व-शक्ति, शैलीगत गम्भीरता तथा सौंदर्य की न्यूनता होते हुए भी हमने इसे महाकाव्य ही माना है।

अंगराज [१९५०]—इस महाकाव्य के रचयिता श्री आनन्द कुमार हैं। इसमें दानवीर कर्ण की उदारता, शूर-वीरता, मित्र-प्रेम और स्वाभिमान का सजीव चित्रण है। कर्ण के जीवन चरित के साथ-साथ इसमें महाभारत की सम्पूर्ण कथा भी आ गई है। इस कृति में कवि ने स्पष्टतः कौरवों को न्याय पक्ष युक्त और पाण्डवों को अन्यथा घोषित किया है।[३]

'अंगराज' के कथानक में विविध घटनाओं का सुन्दर समन्वय हुआ है। इसमें प्रधान रस वीर है। युद्ध-वर्णन में वीर रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। वीर के साथ ही शृंगार, करुण और शान्त रस का समावेश भी इसमें दृष्टिगोचर होता है। इसकी भाषा शुद्ध संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली है। अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसमें कवि ने भाव पक्ष की ओर विशेष ध्यान न देकर कलापक्ष को चमत्कृत करने का अधिक प्रयत्न किया है। महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह इसमें अच्छा हुआ है। नायक में उत्कृष्ट गुणों की प्रतिष्ठा, सर्ग-रचना और छन्द सम्बन्धी नियमों का पालन, वीर-रस की प्रधानता और विविध दृश्यों के वर्णन आदि प्रायः सभी तत्त्व इस रचना के महाकाव्यत्व की पुष्टि करते हैं।

हिडिम्बा [१९५०]—यह खण्डकाव्य मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है। इसमें भीम और हिडिम्बा के प्रेमविवाह का वर्णन है। प्रबन्धत्व की दृष्टि से इसमें पूर्वापर घटनाओं का सुन्दर समन्वय है। खण्डकाव्य के अनुकूल जीवन के एक मार्मिक अंश का ही इसमें अनुलेखन है।

प्रस्तुत काव्य पर्याप्त सरस है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसमें भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी आदि का संयोजन मिलना कठिन है तथापि शृंगार,

---

१. श्री रघुवीरशरण मित्र : 'जननायक' बधाई, पृ० १९।
२. वही, अमृत के दानी को अर्घ्य, पृ० ४।
३. आनन्दकुमार : अंगराज भूमिका, पृ० २१–२३।

हास्य, वीर एवं रौद्र रस के श्रेष्ठ उदाहरण सहज ही उपलब्ध हैं। काव्य-शिल्प की दृष्टि से इसमें ध्वनि-चित्रण, रेखा-चित्रण और मुद्रांकन का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

'हिडिम्बा' में भावानुकूल भाषा के कान्तिमय, ओजमय अथवा सरल-तरल रूप का प्रयोग हुआ है, किन्तु प्रौढ़ि की एक झंकृति सर्वत्र विद्यमान है। खड़ी बोली का समुचित संस्कार करने पर भी कवि संस्कृत के अप्रचलित शब्दों के व्यवहार के अपने स्वभाव को नहीं छोड़ पाया है। हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल अतिदीर्घ समास भी खटकते हैं। पर प्रत्युत्पन्न मतित्व-सम्पन्न संवादों तथा प्रेममय हास-परिहास ने भाषा को अनुपम दीप्ति प्रदान की है।

गोरा-वध [१६५०]—श्यामनारायण पांडेय जी द्वारा रचित 'गोरा-वध' खण्डकाव्य में मध्ययुगीन भारतीय वीर गोरा के जीवन की अन्तिम झाँकी प्रस्तुत की है। वस्तुतः कृति कवि की कोई स्वतन्त्र रचना प्रतीत नहीं होती चूंकि कवि ने अपने पूर्ववर्ती खण्डकाव्य जौहर (१६४५) के कतिपय सर्गों का संशोधन कर नवीन रूप में प्रस्तुत कृति के कलेवर का निर्माण किया है। खण्डकाव्य का वस्तु-संगठन, प्रवाह और क्रम जैसा इस काव्य में दृष्टिगत होता है वैसा 'जौहर' में नहीं है।

भोजराज [१६५०]—डा० रामाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भारतीय संस्कृति के दो महान पुरुषों के जीवन की एक झाँकी अपने खण्डकाव्य में प्रस्तुत की है। इस खण्डकाव्य में भोज के प्रति मुंज की द्वेष भावना और अन्त में मुंज का पश्चाताप दर्शाया गया है। कथा का तारतम्य और गठन सराहनीय है। भोजराज इस काव्य का धीरोदात्त नायक है। कुटिल मुंज को पश्चाताप की अग्नि से निखारा गया है। कवि ने इस काव्य में गुरुभक्ति, राज-भक्ति और मनोभाव की सुन्दर व्याख्या की है।

'वर्द्धमान' की भाषा प्रियप्रवास की-सी संस्कृत-बहुला शुद्ध खड़ी बोली है पर इसमें सुदीर्घ समस्त पदावली का आधिक्य नहीं है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा पद-पद पर देखने को मिलती है। अलंकारों के प्रयोग से काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि में पर्याप्त सहायता प्रदान की है। शास्त्रीय विधानों की सम्पूर्ति होने पर भी इसमें महाकाव्योचित महाप्राणता एवं जीवन गाम्भीर्य का अभाव परिलक्षित होता है।

कैकेयी [१९५१]—'कैकेयी' एकार्थकाव्य का प्रणयन श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने किया है। इसमें कवि ने परम्परागत रामकाव्यों में निरूपित कैकेयी को राष्ट्रीय भाव-भूमि में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत कृति में कवि ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कैकेयी ने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए राम को वन में भिजवाया था। प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु १३ सर्गों में विभक्त है; किन्तु इसकी रचना में महाकाव्य की-सी बनावट नहीं दिखाई देती। कथावस्तु का विस्तार और चरित्रांकन की सीमाओं को देखते हुए इसे हम न महाकाव्य की कोटि में रख सकते हैं और न खण्डकाव्य की। कतिपय समालोचकों ने इसे महाकाव्य माना है, किन्तु इसमें कैकेयी के जीवन से सम्बद्ध एक ही घटना मुख्य रूप से चित्रित है तथा उसकी राष्ट्रीय भावना ही आद्यन्त निरूपित है। कथा का एक उद्दिष्ट पक्ष ही इसमें प्रधान है। अतः कथानक के विस्तार और चरित्रांकन की सीमाओं को देखते हुए, इसे हम एकार्थकाव्य ही मान सकते हैं।

इसमें वीर रस की प्रधानता है। करुण, वात्सल्य, शान्त आदि रसों का भी यथास्थल सुन्दर नियोजन हुआ है। सम्पूर्ण काव्य का पर्यवसान शांत रस में हुआ है। इसकी भाषा, सरल, सरस और परिमार्जित है। इसमें हिन्दी में बहुप्रचलित संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है।

कर्ण [१९५१]—श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने इस खण्डकाव्य में कर्ण के चरित्र को युगानुकूल सामाजिक धरातल पर चित्रित किया है। कथा के विस्तार एवं चरित्रांकन की सीमाओं को देखते हुए इसे हम खण्डकाव्य ही मान सकते हैं। इसमें वीर रस की प्रधानता है। भाषा सरल व प्राञ्जल है।

जयभारत [१९५२]—'जयभारत' महाकाव्य के रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं। इसमें महाभारत का सम्पूर्ण कथानक वर्णित है। इसमें घटनाएँ इतनी अधिक हैं कि एक क्षण के लिए भी अन्तराल प्रस्तुत नहीं होता। एक घटना के पूरी होने से पहले ही दूसरी घटना अपना स्थान बना लेती है। इस काव्य में जीवन के विविध रूप-विराट और कोमल, मधुर और तिक्त,

भव्य और स्निग्ध —सभी प्रकार के विद्यमान हैं। महाभारत की सम्पूर्ण घटनाओं को संक्षेप में वर्णन करने के कारण कवि मुख्य कथा के कई मार्मिक स्थलों पर यथोचित प्रकाश डालने में असमर्थ रहा है। कौरव-पाण्डवों के महायुद्ध का वर्णन केवल एक ही छोटे से सर्ग में संक्षेप में कर दिया है। यही कारण है कि कथानक के सुसगठित और प्रवाहमय होते हुए भी उसमें इतिवृत्तात्मकता और नीरसता आ गई है। इसमें महाकाव्योचित विशाल कथापट तो है, किन्तु रसात्मकता और शैली का गाम्भीर्य नहीं।

'जयभारत' में शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र आदि सभी रसों का समावेश हुआ है, किन्तु शान्त, शृंगार, वीर और करुण की व्यंजना अच्छी हुई है। भाषा प्रवाहमयी, प्रसाद गुण–युक्त और प्रसंगों के अनुकूल है। अलंकारों का प्रयोग भी स्वाभाविकता के साथ हुआ है। फिर भी इस रचना में 'साकेत' के जैसे मर्म-स्पर्शी, सरस और भावपूर्ण चित्रों का न्यूनाधिक अभाव सा ही है।

रश्मिरथी [१९५२]—इस खण्डकाव्य में श्री दिनकर ने कर्ण के जीवन का चित्रण किया है। कवि ने इसमें कर्ण को एक उदात्त चरित्र महापुरुष के रूप में चित्रित किया है। 'रश्मिरथी' में महाकाव्योचित प्रबन्ध-निर्वाह या घटनाओं का परस्पर संघटन व क्रमिक विकास नहीं दिखाई देता और न इसकी कथावस्तु में वे मोड़ हैं जो महाकाव्य में आवश्यक माने जाते हैं। अतः कथावस्तु की व्यापकता और वैविध्यपूर्ण जीवन के सर्वांगीण चित्रण के अभाव में इसे हम महाकाव्य न मानकर एक उत्कृष्ट खण्डकाव्य ही मान सकते हैं।

नहीं हो सकी है। महाकाव्य में जो रसात्मकता अपेक्षित है, उसका इसमें अभाव है। इसके अधिकांश-प्रसंग कवित्व-रहित और रस-विहीन दृष्टिगत होते हैं। रत्ना और तुलसी के गार्हस्थ्य-जीवन का चित्रण, तुलसी का गृह-परित्याग और सन्यासी के वेष में उनकी रत्ना से अन्तिम भेंट जैसे मार्मिक स्थलों पर महाकाव्योचित सरसता लाने में कवि विफल रहा। इसके कथानक में भी महाकाव्योचित धारावाहिकता प्रतीत नहीं होती। तुलसीदास के जीवन से सम्बन्धित कवि की कुछ उद्भावनायें जनश्रुति और इतिहास से मेल नहीं खाती। इस प्रकार महाकाव्य की दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस रचना में कहीं २ कवि की उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का परिचय अवश्य मिलता है।

है।[1] इसमें वीर, करुण और शांत रस की अच्छी अभिव्यंजना हुई है।

वस्तुतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। इसका रेडियो रूपान्तर भी प्रस्तुत किया जा चुका है। दृश्य-काव्य प्रबन्धकाव्य तो होता है किन्तु हमने अपने आलोच्यकाल के प्रबन्धों में केवल प्रबन्धकाव्य ही लिए हैं; नाटकों को अपनी विवेचना का विषय नहीं बनाया। पर यह कृति काव्य-नाट्य होने के कारण हमने इसे अपने अध्ययन के साथ लेना उचित समझा है। डा० विनय के शोध-प्रबन्ध 'महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध-काव्यों पर प्रभाव' में इस कृति को नाट्य होने के कारण कोई स्थान नहीं दिया गया है। श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने भूमिका में आलोचना करते हुए लिखा है—'इस प्रबन्ध का सबसे बड़ा अभाव यह है कि इसमें डाक्टर धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' का कहीं भी उल्लेख नहीं है।'[2] इतनी सी बात तो मैं स्वीकार कर सकता हूँ कि यह कृति नाटक के क्षेत्र में इस युग की मौलिक देन है, किन्तु यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि यह प्रबन्धकाव्य की नयी शैली है। यह 'रेडियो रूपक' के रूप में प्रसारित भी हो चुकी है। इसमें रंगमंचीय व्यवस्था भी है और दृश्य तथा अंकों की योजना भी मेरी मान्यता का ही समर्थन करती है।

का सुन्दर विकास हुआ है। इस रचना में शांत और वात्सल्य रस की प्रधानता है। इस कृति में भाव-गति के अनुकूल छन्द परिवर्तित होते रहे हैं। विशेषतः इस रचना में मुक्त छन्दों का प्रयोग हुआ है।

हनुमच्चरित [१९५५]—'हनुमच्चरित' महाकाव्य के प्रणेता श्री रणवीर सिंह हैं। इसकी कथावस्तु दस सर्गों में विभक्त है। इसमें हनुमान जी की राम के प्रति प्रगाढ़ भक्ति का सुन्दर वर्णन हुआ है। भक्तिरस की भाव धारा इस कृति में सर्वत्र प्रवाहित है। इस महाकाव्य में दोहा, सवैया या कवित्त छन्दों का बाहुल्य है। इसका कथानक महाकाव्योचित नहीं है। इस काव्य में जीवन-वैविध्य और सर्वांगीणता का अभाव है। चरित भी अविकसित ही रह गया है। अतः इस चरित काव्य को श्रेष्ठ महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नहीं दिया जा सकता है।

प्रयाण [१९५५]—पं० गिरिजाशंकर गिरीश कृत 'प्रयाण' खण्ड-काव्य में सुदामा का कृष्ण के पास गमन का वर्णन है। इसमें कवि ने कृष्ण-सुदामा मैत्री का अति सुन्दर वर्णन किया है। इस कृति में सुदामा कृष्ण के पास से कुछ लेने के लिए नहीं जाते हैं अपितु अपनी निष्काम भावना से कृष्ण से मिलने जाते हैं।

है। इसमें कथावस्तु का संयोजन व चरित्रांकन खण्डकाव्य के अनुकूल हुआ है। इस कृति में वीर रस की प्रधानता है। विदुला की वाणी ओजपूर्ण भाषा में अभिव्यक्त हुई है।

सती सावित्री [१९५७]—श्री गोपाल श्रोत्रिय प्रणीत सती सावित्री खण्डकाव्य की रचना सावित्री और सत्यवान की पौराणिक गाथा के आधार पर हुई है। रचना सामान्य कोटि की है। कवित्व बिखरा हुआ और अपरिष्कृत है।

दमयन्ती [१९५७]—इस प्रबन्ध कृति के प्रणेता श्री ताराचन्द हारीत हैं। इसका कथानक मूल रूप में महाभारत के 'नलोपाख्यान' में मिलता है। कृतिकार ने इसी लोक-प्रसिद्ध कथानक को अपने काव्य का विषय बनाया है। इसका कथानक १८ सर्गों में विभक्त है। कवि का प्रयत्न इसे नायिका प्रधान बनाने का रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि दमयन्ती उदात्त गुणों से विभूषित है। प्रस्तुत कृति में महाकाव्योचित कथानक, सर्गों का विस्तार, जीवन का वैविध्य एवं सर्वांगीण चित्रण, मर्म-स्पर्शी भाव-संयोजन, भाषा का सौष्टव, पद लालित्य एवं शैली की गाम्भीर्यता विद्यमान है। ऋतु, प्रकृति, उत्सव आदि अनेक वर्णन भी महाकाव्य की गरिमा के पोषक हैं। समसामयिक जीवन-दर्शन का भी इसमें सुन्दर समावेश है।[1] अतः हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि यह एक सफल महाकाव्य है।

गृहलक्ष्मी [१९५७]—प्रस्तुत खण्डकाव्य में श्री गिरिजाशंकर शुक्ल गिरीश ने विमला नामक एक नारी का मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन किया है। विमला की सास बड़ी कुटिल व कर्कश है, किन्तु विमला सभी प्रकार के कष्ट उठाती हुई भी घर की मान-मर्यादा की सदैव रक्षा करती है। इसी कथावस्तु का विस्तार प्रस्तुत कृति में उपलब्ध है। विमला की सहनशक्ति अद्वितीय है।

चंदेरी का जौहर [१९५७]—प्रस्तुत ऐतिहासिक खण्डकाव्य के रचयिता श्री आनन्द मिश्र हैं। इस प्रबन्धकाव्य में राजा मेदिनी राय के जीवन का एक मार्मिक प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। बाबर ने राणा सांगा को पराजित करने के पश्चात् चन्देरी पर जनवरी १५२८ ई० में घेरा डाला, किन्तु वहाँ के राजा मेदिनीराय की वीरता को ध्यान में रखते हुए उनके पास एक सन्धि-पत्र भेजा, जिसमें चन्देरी छोड़ने को कहा गया और बदले में शमशाबाद देने को कहा गया। वीर राजपूत और उनकी वीर पत्नी मणिमाला ने इस प्रस्ताव

---

1. श्री ताराचन्द हारीत : दमयन्ती, प्रस्तावना, पृ० च।

के साथ ही इसमें करुण, वात्सल्य और वीर रस की छटा भी देखने को मिलती है। इसकी भाषा सरल और भावपूर्ण है। उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से हुआ है। इसमें दहेज-प्रथा, अछूतोद्धार जैसी सम-सामयिक युग की समस्याओं का भी कवि ने मौलिक ढंग से समाधान प्रस्तुत किया है।

इतना सब कुछ होते हुए भी महाकाव्य की दृष्टि से इसमें कतिपय अभाव विद्यमान है। महाकाव्योचित वैविध्यपूर्ण जीवन का सर्वांगीण चित्रण इसमें नहीं हो सका है। अनेक स्थलों पर कथा प्रवाह मन्द हो गया है तथा तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के चित्रण तथा समाधानों में नीरसता आ गई है। अतः हम इसे साधारण कोटि के महाकाव्यों में ही स्थान दे सकते हैं।

तात्याटोपे [१९५७]—श्री लक्ष्मीनारायण कुशवाह द्वारा रचित 'तात्याटोपे' खण्डकाव्य ३१ आहुतियों (सर्गों) में विभाजित है। इसमें तात्या-टोपे की देशभक्ति और वीरता का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है।

विष्णुप्रिया [१९५७]—श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'विष्णु-प्रिया' एक नवीन शैली का सुन्दर खण्डकाव्य है। इसमें कवि ने चैतन्य महाप्रभु, 'गौरांग' के गार्हस्थ्य और त्यागमय जीवन के मार्मिक अंशों को अभिव्यक्त किया है तथा उनकी साध्वी पत्नी विष्णुप्रिया की सेवा, त्याग और तपस्या का भी अति सुन्दर अंकन है। प्रस्तुत रचना में कवि ने विष्णुप्रिया के चरित्र को गौरव प्रदान किया है।

करते हुए कवि ने राम-वन-गमन को एक सांस्कृतिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। इसका कथानक छः सर्गों में विभाजित है। कवि ने उर्मिला, लक्ष्मण के दाम्पत्य जीवन के विविध पक्षों पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

कथावस्तु के विकास में महाकाव्योचित घटनाविस्तार, विविध प्रसंगों में सम्बन्ध-निर्वाह और कथानक में धारावाहिकता का अभाव सा पाया जाता है। इसे हम खण्डकाव्य भी नहीं कह सकते क्योंकि इसमें खण्डकाव्य की भाँति जीवन के किसी एक मार्मिक क्षण का ही चित्रण भी नहीं है, इस दृष्टि से इसकी भाव-भूमि विस्तृत है। इसकी कथा का एक उद्दिष्ट पक्ष ही अधिक गतिशील होने के कारण इसे हम एकार्थकाव्य ही कह सकते हैं।

'ऊर्मिला' में शृङ्गार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण हुआ है। नवीन जी ने इसमें प्रौढ़, भावपूर्ण और अलंकृत भाषा को स्थान दिया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की योजना भी कवि ने सुन्दर ढंग से की है।

अग्निपथ [१६५८]—अनूप शर्मा कृत पौराणिक खण्डकाव्य 'अग्नि-पथ' रावण के अन्तिम चौबीस घन्टों का भावमय चित्र है। मेघनाद-वध के पश्चात् अपनी दूसरी पत्नी सिंहिका के प्रोत्साहन पर रावण युद्ध की तैयारी करता है किन्तु विभीषण की बताई योजना पर चलकर ही राम रावण का वध कर देते हैं। अशोक वाटिका में सीताजी सिंहिका के वैधव्य पर रोती हैं और वह (सिंहिका) वीर रमणी अपने पति के साथ सती हो जाती है। इस मर्मस्पर्शी कथा के आधार पर कवि ने प्रस्तुत काव्य की रचना की है।

करते हुए कवि ने राम-वन-गमन को एक सांस्कृतिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। इसका कथानक छः सर्गों में विभाजित है। कवि ने उर्मिला, लक्ष्मण के दाम्पत्य जीवन के विविध पक्षों पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

कथावस्तु के विकास में महाकाव्योचित घटनाविस्तार, विविध प्रसंगों में सम्बन्ध-निर्वाह और कथानक में धारावाहिकता का अभाव सा पाया जाता है। इसे हम खण्डकाव्य भी नहीं कह सकते क्योंकि इसमें खण्डकाव्य की भांति जीवन के किसी एक मार्मिक अंश का ही चित्रण भी नहीं है, इस दृष्टि से इसकी भाव-भूमि विस्तृत है। इसकी कथा का एक उद्दिष्ट पक्ष ही अधिक गतिशील होने के कारण इसे हम एकार्थकाव्य ही कह सकते हैं।

'ऊर्मिला' में शृङ्गार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण हुआ है। नवीन जी ने इसमें प्रौढ़, भावपूर्ण और अलंकृत भाषा को स्थान दिया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की योजना भी कवि ने सुन्दर ढंग से की है।

अग्निपथ [१९५८]—अनूप शर्मा कृत पौराणिक खण्डकाव्य 'अग्नि-पथ' रावण के अन्तिम चौबीस घन्टों का भावमय चित्र है। मेघनाद-वध के पश्चात् अपनी दूसरी पत्नी सिंहिका के प्रोत्साहन पर रावण युद्ध की तैयारी करता है किन्तु विभीषण की बताई योजना पर चलकर ही राम रावण का वध कर देते हैं। अशोक वाटिका में सीताजी सिंहिका के वैधव्य पर रोती है और वह (सिंहिका) वीर रमणी अपने पति के साथ सती हो जाती है। इस मर्मस्पर्शी कथा के आधार पर कवि ने प्रस्तुत काव्य की रचना की है।

सेनापति कर्ण [१९५८]—सेनापति कर्ण महाकाव्य के प्रणेता श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। इस प्रबन्ध में कवि ने कर्ण के युद्ध सम्बन्धी जीवन को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है। यद्यपि कवि की यह रचना अधूरी है, परन्तु भावाभिव्यक्ति एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पर्याप्त सशक्त एवं सफल है।

कथा में सर्वत्र तारतम्य बना रहा है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। कथा का विस्तार और चरित्रांकन की सीमाओं को देखते हुए इसे खण्डकाव्य कहा जाना ही अधिक उपयुक्त है।

द्रौपदी [१९६०]—इस खण्डकाव्य के प्रणेता श्री नरेन्द्र शर्मा हैं। इस कृति में कवि ने द्रौपदी को जीवनी शक्ति के रूप में अभिव्यक्त कर उसे नारीशक्ति का दृप्तदीप्त-प्रतीक माना है। महाभारत के पात्रों का प्रतीक अर्थ लेकर पुरुष की उन्नति में नारी के बलिदान को प्रधानता दी है। इसमें घटनाएँ विरल हैं। कवि ने इसके विस्तृत इतिवृत्त को पाँच सर्गों में आकलित किया है। इसके कथाचयन में सुसम्बद्धता है। इसमें वीर, शृंगार, करुण और वात्सल्य रस की प्रधानता है। इसकी भाषा संस्कृत निष्ठ है।

रामराज्य [१९६०] - 'रामराज्य' महाकाव्य का प्रणयन डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने किया है। इसमें कवि ने वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में राम के चरित्र का अंकन किया है। इस ग्रन्थ का मुख्य आधार 'रामचरित मानस' है किन्तु कवि ने अनेक स्थानों पर मौलिक उद्भावनायें की हैं। स्वयं कवि ने अपनी कृति को महाकाव्य माना है। वे लिखते हैं कि एक-एक दिन में 'राम-राज्य' का एक-एक सर्ग बनता चला गया और प्रायः एक पक्ष में बारह सर्गों का यह तीसरा महाकाव्य (?) तैयार होगया।[1] आगे पुनः वे लिखते हैं—'इसे महाकाव्य कहा जाय अथवा खण्डकाव्य, इस पर बहस नहीं है। इसे काव्य भी कहा जाय या तुकबन्दी, यह भी मैं पाठकों की इच्छा पर छोड़ता हूँ। परन्तु इतना कि इसके द्वारा मैंने रामकथा को अपने ढंग पर उत्तर काण्ड तक पहुँचा भी दिया।[2]

'पथिक' के प्रणय सम्बन्ध और उनके वियोग के रूपों का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता है।

भूमिजा [१९६१]—'भूमिजा' श्री रघुवीरशरण मित्र द्वारा रचित ८ सर्गों का एक सुन्दर खण्डकाव्य है। कवि ने इसमें सीता के वनवास की कथा चित्रित की है। इस रचना में लव-कुश द्वारा राम की सेना का विरोध और उनकी विजय तथा माता सीता का राजा राम को अपने पुत्रों का परिचय देते हुए पृथ्वी में समा जाना आदि प्रसंगों का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। वीर, शृङ्गार, वात्सल्य, करुण और शान्त रसों की सुन्दर अभिव्यन्जना हुई है। कथा संघटन की दृष्टि से यह एक सफल खण्डकाव्य है।

उर्वशी [१९६१]—श्री रामधारीसिंह प्रणीत 'उर्वशी' प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु पांच अंकों में विभक्त है। इसमें कवि ने पुरुरवा और उर्वशी के पौराणिक आख्यान को नवीन ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस प्रबन्धकाव्य का नायक राजा पुरुरवा, वेद-पुराणादि में प्रसिद्ध एक प्रतापशाली राजर्षि है। इसके कथानक में राजा एवं उर्वशी विषयक अनेक ऐश्वर्यों का वर्णन है, सुख–दुःखात्मक नाना रसों का चित्रण है। शृङ्गार अंगीरस है तथा शेष वीर, वात्सल्य, करुणादि अंगभूत हैं। इन कतिपय विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ समालोचकों ने इसे महाकाव्य की संज्ञा प्रदान की है, किन्तु उन विशेषताओं के होते हुए भी 'उर्वशी' में जीवन का वैविध्य एवं सर्वांगीण चित्रण नहीं है। इसमें राजा पुरुरवा तथा उर्वशी के एकमात्र प्रेम-प्रसंग का ही चित्रण है, अतः इसे महाकाव्य न कहकर खण्डकाव्य कहना अधिक समीचीन है।

न नाटक तो उसे नाटकीय शैली का प्रबन्धकाव्य कहा जावेगा और यदि वह अभिनेय है और उसमें नाटक के गुण अधिक हैं तो उसे पद्य-नाटक या गीति-नाट्य कहेंगे।'[1] यद्यपि उर्वशी में गीतों की योजना है, नाटकीय शैली है तथापि वह पूर्णतया अभिनेय नहीं है, अनेक प्रसंगों को रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता है अतः हमारी दृष्टि में 'उर्वशी' नाटकीय शैली का उत्कृष्ट खण्ड-काव्य है।

सारथी [१९६१]—श्री रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' प्रणीत सारथी महाकाव्य ११ सर्गों में विभाजित है। इस कृति का कथानक अतीत से जुड़ा हुआ है, कवि ने 'कामायनी' से अपने कथासूत्रों को संजोया है। कवि ने अपने प्रतीकात्मक पात्रों द्वारा वर्तमान की भूमिका पर अतीत और अनागत को देखने का प्रयास किया है। इस कृति में कथा की संयोजना तथा वर्ण्य विषय का संघटन महाकाव्योचित नहीं है किन्तु स्वयं कवि ने इसे महाकाव्य की संज्ञा प्रदान की है।[2] वस्तुतः यह एक साधारण कोटि का प्रबन्धकाव्य है।

अनंग [१९६१]—'अनंग' प्रबन्धकाव्य के रचयिता श्री पुत्तूलाल शुक्ल 'चन्द्राकार' हैं। यह एक चिन्तन प्रधान प्रबन्धकाव्य है। इसमें कवि ने ज्ञान और 'काम' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए श्रेय और प्रेय दो भिन्न धाराओं का संगमस्थल आनन्द को माना है। इसमें शृंगार रस अंगी रूप में तथा शांत अंग रूप में आया है। इसकी कथावस्तु में महाकाव्योचित जीवन का वैविध्य एवं सर्वांगीण चित्रण का अभाव है। प्रकृति का सुन्दर वर्णन है। शैली का गाम्भीर्य द्रष्टव्य है। कतिपय समीक्षकों ने इसे महाकाव्य भी माना है। महाकाव्योचित कतिपय अभावों को देखते हुए इसे खण्डकाव्य कहना ही अधिक उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त स्वयं कवि ने भी इसे खण्डकाव्य ही माना है।[3]

इसके बीस सर्गों के कथानक में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय है। प्रथम १२ सर्गों का कथानक सुसंगठित है शेष ८ सर्गों की कथावस्तु में मौलिकता का अभाव है। कथा का संयोजन कवि ने बड़ी कुशलता से किया है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है।

गुरु दक्षिणा [१९६२]—श्री विनोद चन्द्र पाण्डेय ने महाभारत के एकलव्य प्रसंग के आधार पर 'गुरुदक्षिणा' खण्डकाव्य की रचना की है। इसमें कवि ने एकलव्य की गुरुभक्ति की भूरी-भूरी प्रशंसा की है, तथा तत्कालीन वर्णव्यवस्था के प्रति गहरा व्यंग किया है। एकलव्य के चरित्र का इस खण्ड-काव्य में अति सुन्दर रूप प्रदान किया गया है।

कौन्तेय-कथा [१९६२] - श्री उदयशंकर भट्ट जी ने महाभारत के किरात-अर्जुन युद्ध प्रसंग पर 'विजय-पथ' नामक खण्डकाव्य की रचना की थी, यही खण्डकाव्य द्वितीय संस्करण में 'कौन्तेय-कथा' के नाम से प्रकाशित कर दिया है। पाण्डवों की कथा प्रमुख रूप से होने के कारण यह नाम उचित ही प्रतीत होता है। इसमें वीर रस की प्रधानता है। कथा में सम्बन्ध निर्वाह सुन्दर बन पड़ा है।

का कवि ने दिग्दर्शन कराया है। कथा का आधार परम्परागत रामकाव्य है।

रत्नावली [१९६३]—श्री हरिप्रसाद 'हरि' रचित 'रत्नावली' खंड-काव्य में गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रेयसी, जीवन-संगिनी और परित्यक्ता रत्नावली के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। इसमें शृङ्गार रस प्रधान है। सम्पूर्ण कृति का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। इसका कथाशिल्प प्रशंसनीय है।

लोकायतन [१९६४]—श्री सुमित्रानन्दन पंत प्रणीत 'लोकायतन' महाकाव्य दो खंडों—बाह्य परिवेश और अंतश्चैतन्य के क्रमशः चार और तीन, सात भागों में विभक्त है। प्रथम खंड के पूर्वस्मृतिः आस्था, जीवनद्वार, संस्कृति-द्वार मध्य-बिन्दु ज्ञान आदि उपखंडों के अनेक उपशीर्षकों में कवि ने आधुनिक युग के जन-जीवन की समस्याओं का यथार्थ वर्णन कर स्वतन्त्रता संग्राम की उपलब्धियों का पौराणिक सदर्भों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक विश्लेपण किया है। द्वितीय खड में कवि कलाद्वार, ज्योतिद्वार उत्तर–स्वप्न, प्रीति उपखंडों में लोक विराट को युग-प्रमाण के रूप में, भू–चेतना और उर्ध्व चेतना के प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः लोकायतन मे कोई स्पष्ट कथानक नहीं है। क्योंकि 'लोकायतन' का रचयिता अपने काव्य में स्वयं प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से इतिहास की सारी घटनाओं को समेटता हुआ, अनेक ऊँची-नीची भावभूमियों पर विचरण करता हुआ विश्वोन्मुखी होता है।

का प्रगतिशील महाकाव्य कहा है। इसमें कथा का संयोजन कवि ने बड़ी कुशलता से किया है। इसकी कथावस्तु में प्रमाणिक तत्त्वों को ही कवि ने ग्रहण किया है। इतिवृत्तात्मक चरित्र काव्य होते हुए भी इसमें रसात्मकता का अभाव नहीं है। यही इस महाकाव्य की विशेषता है।

पाषाणी [१९६५]—श्री शरणबिहारी गोस्वामी प्रणीत 'पाषाणी' खण्डकाव्य में 'अहल्या' गौतम और इन्द्र का पौराणिक आख्यान आठ सर्गों में वर्णित है। कवि के शब्दों में यह सौन्दर्य-चेतना का कथा-काव्य है। इसमें 'पाषाणी' के जीवन की मर्मस्पर्शी घटना का सुन्दर अंकन है। कथानक के विस्तार और चरित्रांकन की सीमाओं को देखते हुए इसे उत्कृष्ट कोटि का खण्डकाव्य कहा जा सकता है। यह शृंगार रस प्रधान काव्य है। इसकी कथावस्तु का अवसान शान्त रस में हुआ है।

कूबरी [१९६५]—श्री रामनारायण अग्रवाल द्वारा रचित 'कूबरी' खण्डकाव्य नौ सर्गों में विभाजित है। इसमें कवि ने कुब्जा के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसमें कुब्जा का पूरा चरित्र कल्पना के आधार पर खड़ा किया गया है। इस काव्य की भाषा आजकल मथुरा के आस-पास की बोली जाने वाली ब्रजभाषा है। इसमें शृंगार रस प्रधान है। स्वयं कवि ने अपनी कृति को 'ब्रजभाषा-खण्डकाव्य' कहा है।

करते हुए, अभिषेक वर्णन के साथ-साथ काव्य में युद्ध, शिष्टाचार, जीवन-दर्शन आदि का भी निरूपण किया है। इसी कारण इसका नाम अभिषेक न रखकर 'प्रतिपदा' ही रखा है।[1]

कृति की ऐतिहासिकता को स्वीकारते हुए कवि ने कहा है कि प्रबन्ध की कथावस्तु मुझे मेवाड़ के इतिहास से उपलब्ध हुई है।[1] मध्यकालीन इतिहास के कुछ पन्ने तो ऐसे प्राणवान हैं कि उनको बार-बार पढ़ने को जी चाहता है। प्रस्तुत खण्डकाव्य की कथावस्तु इन्हीं पन्नों से ली गई है।[2] काव्य में नायक के चारित्रिक विकास के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थितियों एवं प्रथाओं का भी भली-भाँति चित्रण हुआ है। कवि ने प्रारम्भ में 'संस्तवन' में मेवाड़-भूमि की भावपूर्ण मन को अर्पित करते हुए वन्दना की है।[3]

निष्कर्ष :—

प्रबन्धकाव्यों पर विचार करते हुए उनके स्वरूप निर्णय में हमने प्रायः उन सब प्रबन्धों को महाकाव्य माना है जिनमें कतिपय अभाव होते हुए भी कुछ-एक विशेषताएँ महाकाव्य की मिल गई हैं, और जिनको अनेक मान्य समीक्षकों ने महाकाव्य मान लिया है। कुछ समीक्षकों ने महाकाव्यों को तीन श्रेणियों में बाँटा है—(१) प्रमुख महाकाव्य, (२) सामान्य महाकाव्य तथा (३) शिथिल महाकाव्य। इन तीनों प्रकार के महाकाव्यों की विशेषताओं व अभावों पर यथास्थान प्रकाश डाला गया है। कवियों ने स्वयं जिन कृतियों को महाकाव्य, खण्डकाव्य या कथाकाव्य कहा है, उन्हें भी हमने वैसा ही स्वीकार कर लिया है। इस दृष्टि से हमारे आलोच्य युग के काल-क्रमानुसार निम्नांकित महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा एकार्थकाव्य परिलक्षित होते हैं—

कथावस्तु

३ | कथावस्तु

विवेच्य युग में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कारण अनेक आन्दोलन हुए जिनके प्रभावस्वरूप लिखे गये साहित्य में विशेष विचारधारा का प्रतिपादन एवं आधुनिक और प्राचीन विचारों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। स्वतंत्रता के पूर्व प्राचीन आख्यानों के प्रति मोह विद्यमान रहा। इस काल में पुनरुत्थानवादी विचारधारा के अन्तर्गत प्राचीन आख्यानों का पुनरुत्थापन मात्र अपेक्षित रहा। आगे चलकर प्राचीन उपाख्यानों की परम्परा तो अक्षुण्ण रही, किन्तु उसमें युगीन विचारधारा के प्रतिपादन के लिए चारित्रिक और कथात्मक परिवर्तन की प्रणाली का अभ्युदय हुआ।

स्वतन्त्रता के बाद भी यह परम्परा किसी न किसी रूप में अबाध गति से चलती रही। प्राचीन कथाओं ने नये मोड़ लिये तथा नई कथाएं नये वातावरण को लेकर जन्म लेने लगीं। इस प्रकार आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में दो प्रकार की कथावस्तु सामने आती है—

(२) आधुनिक एवं अर्वाचीन कथावस्तु में युग सापेक्ष वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाले प्रबन्ध भी दो प्रकार के मिलते हैं—

(अ) चरितात्मक।

जैसे—'जननायक', 'मानवेन्द्र', 'सरदार भगतसिंह आदि।

(ब) भावात्मक व चिन्तनात्मक।

जैसे—'ज्योति-पुरुष', 'मेधावी', 'लोकायतन' आदि।

(क) वैदिक परम्परा

वेद, महाभारत, पुराण तथा रामायण आदि पर जिन प्रबन्धकाव्यों की कथावस्तु आधारित है वे सभी काव्य वैदिक परम्परा में आते हैं। इस परम्परा के प्रमुख प्रबन्धकाव्य ये हैं :—

दैत्यवंश [१९४७]—यह महाकाव्य आधुनिक महाकाव्यों में एक नया प्रयास है। इसका कथानक पुराणों से लिया गया है, इसलिए इसमें तदनुरूप प्राचीन युग की अभिव्यक्ति ही प्रधानतया हुई है। किन्तु नवयुग की रचना होने के कारण इस कृति में आधुनिक युग की विचारधाराओं को भी यथेष्ट स्थान मिला है। इस कृति के प्रेरणा-स्रोत्र काव्य कालिदास का रघुवंश और माईकेल मधु-सूदनदत्त के मेघनाद-वध प्रतीत होते हैं। भागवत्, हरिवंश और वाल्मीकि रामायण से इसकी कथावस्तु का संग्रह किया गया है। इसमें समुद्र-मंथन, देवासुर-संग्राम, वामन का बलि वंचन तथा उषा-अनिरुद्ध आख्यानों की अलौकिक घटनाओं का वर्णन परम्परागत हुआ है; किन्तु नायक के चयन में परम्परा का पालन नहीं हुआ है। प्राचीन परम्परा के अनुसार दैत्यवंश के आरम्भ में मंगलाचरण (सरस्वती वन्दना) और दैत्यवंशीय राजाओं का गुणानुवाद किया गया है। कालिदास के रघुवंश की भाँति अनेक दैत्यवंशीय राजा हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, विरोचनबलि, बाण और स्कन्द आदि नायक हैं। इसका कथानक पुराण प्रसिद्ध और १८ सर्गों में समाविष्ट है। इसमें परम्परागत कथानक रूढ़ियाँ जैसे—स्वयंवर सभा में परिचय देना, पक्षियों द्वारा या दूत—दूती द्वारा संदेश भेजना आदि का यथास्थान उल्लेख कर कवि ने शास्त्रीय परम्परा का पालन किया है।

कवि ने परम्परागत कथानक में यत्रतत्र परिवर्तन भी किया है। शूकर के रूप में विष्णु का हिरण्याक्ष के उद्यान को नष्ट-भ्रष्ट करके उसके हृदय में क्रोध उत्पन्न करना[१], लक्ष्मी के स्वयंवर में सरस्वती का लक्ष्मी को विविध

१. हरदयालुसिंह : दैत्यवंश, सर्ग १, ३३।

इसकी कथावस्तु में कवि का मौलिक दृष्टिकोण भारतीय तथा विदेशियों के नैतिक आदर्शों को भारतीय संस्कृति की भाव-भूमि पर वर्णन करता रहा है।

अंगराज [१९५०]—अंगराज की कथावस्तु महाभारत पर आधृत है। महारथी कर्ण के समग्र जीवन से सम्बन्धित यह अकेला प्रबन्धकाव्य है जो पूर्ववर्ती एवं परवर्ती मानसिक घटनाओं को भी अपनी सीमा में समेट लेता है। कथा का विस्तार पच्चीस सर्गों में हुआ है। प्राचीन प्रणाली के अनुरूप मंगलाचरण और संक्षिप्त वस्तु-निर्देश की योजना की गयी है। सरस्वती-वन्दना और माहात्म्य वर्णन इस काव्य के दो परम्परागत छोर हैं।

अंगराज अपने ढंग की अनूठी कृति है। वस्तुवातावरण-रूढ़ मान्यताओं और विश्वासों के प्रति विद्रोहपूर्ण अनास्था से मुखरित है। मूल कथानक में मौलिक उद्भावनाएँ इसी का परिणाम हैं। सूर्यलोक वर्णन,[1] द्रौपदी के पंच पतित्व[2] तथा चीर-हरण[3] और पाण्डवों के (स्वर्गारोहण के स्थान पर) देह-निर्वासन[4] जैसे प्रसंगों में स्पष्ट मौलिकता दृष्टिगत होती है।

अंगराज में ब्राह्मण की परीक्षा हेतु कृष्ण विप्रवेश धारण कर कर्ण की परीक्षा लेते हैं। यह प्रसंग महाभारत में नहीं है।[5] कवि ने युधिष्ठिर द्वारा द्यूत-क्रीडा की पहल[6] तथा अग्रज के अवगुरुत्व को अपमानजनक मानकर अपने विवाह का प्रस्ताव[7] एवं अर्जुन पर शंकित हो दोष लगाकर उसे वन को भेजना[8] आदि अनेक प्रसंगों को महाभारत की मूल कथा से मोड़कर उपस्थित किया है। परम्परागत विचारों के प्रतिकूल प्रस्तुत प्रबन्ध की सम्पूर्ण कथा पाण्डवों के विरोध एवं घृणा की भित्ति पर टिकी है। कौरव-पाण्डव संघर्ष में कर्ण के जिस सूक्ष्म रूप की विवेचना 'महाभारत' में उपलब्ध है वह यहाँ दृष्टिगत नहीं होती। कवि की दार्शनिक एवं वैचारिक दृष्टि सर्वथा नवीन है।

हिडिम्बा [१९५०]—इस खण्डकाव्य का कथानक महाभारत से गृहीत है, किन्तु कथा-विकास एवं प्रतिपादन-शैली निश्चित रूप से मौलिक है। अनेक स्थलों पर कवि ने कथा का संस्कार करने का प्रयत्न किया है। यथा, पाण्डवों के हननार्थ स्वयं हिडम्ब को आते देखकर महाभारत की हिडिम्बा उसे गालियाँ देने लगती है—"आपतत्येष दुष्टात्मा सङ्क्रुद्धः पुरुषादकः।"[1] एक राक्षसी द्वारा भी स्वरक्षक एवं सहोदर भ्राता के लिए ये शब्द कितने अनुचित तथा अस्वाभाविक हैं, किन्तु गुप्तजी ऐसी परिस्थिति होने ही नहीं देते। वे हिडम्ब के आगमन का स्वयं उल्लेख करते हैं—

"आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यम-दूत सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चाभयभूत सा।"[2]

कवि ने यथासम्भव अति-प्राकृत तत्त्व के बहिष्कार का प्रयत्न करते हुए भी[3] स्वाभाविकता एवं आदर्श की रक्षा के लिए मूल कथा की रक्षा की है। औचित्य की रक्षा के लिए जितना जहाँ परिवर्तन और परिवर्धन आवश्यक था, उतना वहाँ किया है। परिणामस्वरूप परम्परागत निरविच्छिन्न कथानक अधिक रोचक, सुसंगत एवं सुरुचिपूर्ण तथा विश्वसनीय बन गया है। ऊँच-नीच की भावना को छोड़कर, प्राणिमात्र से प्रेम करने के अपने सन्देश वहन में भी प्रस्तुत कथानक सर्वथा समर्थ है।

कवि ने राक्षसों की अतिमानवीय शक्ति को वर्ण्य विषय नहीं बनाया। उसका उद्देश्य राक्षसों में मानवता को प्रतिष्ठित करना रहा। इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई—

'प्राणि-मात्र सहज प्रवृत्तियों में एक-से,
राक्षस भी चलते हैं अपने विवेक से।
भाग्य यही, भूतल अभिन्न हम दोनों का,
एक स्रष्टा-द्रष्टा और एक यम दोनों का।

\+ + + +

तुम भी डरावने से बनते हो डाह में,
हम भी सुचारु रूप रखते हैं चाह में।
तुम हमें घृण्य, हम तुच्छ तुम्हें मानते,
एक-दूसरे को ठीक दोनों नहीं जानते ॥'[७]

कवि ने मानव व राक्षस दोनों जातियों के सम्मिलन लक्ष्य को 'तुमे पची हममें वा हम तुममें पचें' व्यक्त किया है और भीम-हिडिम्बा विवाह का बौद्धिक समाधान रखा है। कवि ने यह बताने की चेष्टा की है कि राक्षसों एवं अनार्यों को त्याग कर मानव अपने पूर्ण विकास तक नहीं पहुँच सकता। इस प्रकार कवि ने हिडिम्बा के पराम्परागत कथानक को नये प्रयोगों के संदर्भ में अभिव्यक्त किया है।

कैकेयी [१६५१]—इस प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु वाल्मीकि रामायण तथा तुलसी कृत 'रामचरित-मानस' पर आधारित है। इसमें कथावस्तु एवं कार्य व्यापार की विरलता है। यहाँ कवि ने कैकेयी के मनमें उठने वाले एक-एक भाव को एक-एक सर्ग में नियोजित किया है। 'राम के राज्याभिषेक' और 'वनगमन' के प्रसंगों में मौलिक उद्‌भावनाएँ हैं। प्रथम तीन सर्गों में कैकेयी को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत फैले हुए सुदूर जनपदों में राक्षसों का आतंक दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में वह शांति स्थापना के लिए क्रान्ति में विश्वास प्रकट करती है। चौथे सर्ग में कैकेयी राम के राज्याभिषेक के समाचार सुन भावविभोर हो जाती है, किन्तु शीघ्र ही पूर्ववर्ती विवेक जाग्रत हो जाता है और राष्ट्रीय कर्त्तव्य की भूमिका पर वह यह जानती हुई भी कि दशरथ को अति कष्ट होगा, राम के वन गमन का प्रस्ताव रखती है। १२वें

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : हिडिम्बा, पृ० ४३।

'जयभारत' में उत्तरा सीधे बृहन्नला से बात करती है।[1] महाभारत में कृष्ण मार्ग में ऋषियों के दर्शन और विश्राम करते हुए जाते हैं, 'जयभारत' में सीधे राजधानी पहुँचकर दरबार में उपस्थित होते हैं।[2] महाभारत में गान्धारी स्वयं कृष्ण वंश के नाश का शाप देती है, 'जयभारत' में वह प्रश्न करती है और कृष्ण उसकी स्वीकृति देते हैं।[3]

इन परिवर्तनों में द्रौपदी-चीरहरण, 'द्रौपदी-पंचपतित्व' तथा 'शांति-संदेश' अथवा 'कृष्ण दूतत्त्व' आदि प्रसंग विशेष सराहनीय हैं।

जयभारत का कथानक कहीं तीव्र और कहीं मंद गति से आगे बढ़ता है। महाभारत के विविध प्रसंगों में जोड़-गाँठ इस कौशल से की गयी है कि कथा का अन्विति-सूत्र कहीं भी टूटता हुआ प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः महाभारत की मूलकथा को संक्षिप्त रूप में इसमें स्थान दिया गया है। इस प्रकार इसमें गुप्तजी ने महाभारत की अलौकिक घटनाओं, अतिप्राकृतिक और अतिमानवीय प्रसंगों को बुद्धिग्राह्य, स्वाभाविक और सामाजिक मर्यादा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर नवीन प्रयोगों को अवसर दिया है।

रश्मिरथी [१६५२]—'रश्मिरथी' की कथावस्तु सात सर्गों में विभाजित है। इसमें कर्ण के बाल्यकाल से लेकर युद्ध में अर्जुन द्वारा उसके वध तक की कथा का वर्णन किया गया है। प्रथम सर्ग में रंगभूमि-प्रसंग, द्वितीय में कर्ण एवं परशुराम प्रसंग, तृतीय में कर्ण तथा कृष्ण का संवाद, चतुर्थ में कवच-कुण्डल-प्रसंग (नायक की दानशीलता का परिचय), पंचम में कुन्ती और कर्ण के संवाद में कर्ण की दृढ़ मैत्री, भाइयों के प्रति प्रेम, माँ के प्रति आदर, षष्ठ सर्ग में द्रोणाचार्य के नेतृत्व में युद्ध और सप्तम सर्ग में कर्ण के सेनापतित्त्व में भयंकर युद्ध में मृत्यु आदि का उल्लेख है। मूल कथा महाभारत के अनुसार चलती है, किन्तु प्रसंगों में मौलिक परिवर्तनों को समुचित अवसर दिया गया है।

रंगशाला में कर्ण का अर्जुन को युद्ध के लिए प्रचारित करना, द्रोण की चिंता,[4] ममता, उदारता, प्रतिश्रुति[5] आदि प्रसंगों में 'दिनकर' ने आधु-

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : जयभारत पृ० २७०; म० वि० ३६।१३।१७–१६।
२. वही, पृ० ३१६; म० उद्योग अ० ८३–८४।
३. वही, पृ० ४२८; म० स्त्री० २५।३२–४५।
४. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर': रश्मिरथी, प्रथम सर्ग, पृ० ७ (सातवां सं० १६६५)
५. वही, पंचम सर्ग, पृ० ८७।

निक सामाजिक दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। रंगभूमि प्रसंग में जब कृपाचार्य कुलपरम्परा की आड़ लेकर कर्ण को हतप्रभ करते हैं तो कर्ण स्वयं कुल, गोत्र आदि की व्याख्या करते हुए उत्तर देते हैं, किन्तु महाभारत में कृपाचार्य के प्रश्न का उत्तर दुर्योधन देता है।[1] 'रश्मिरथी' में द्रोणाचार्य और अर्जुन को कर्ण के उत्कर्ष से चिन्ता बताई गई है जबकि महाभारत में ऐसी कोई बात नहीं है।[2] महाभारत के शान्तिपर्व के द्वितीय और तृतीय अध्याय के अनुसार परशुराम को काटने वाला कीड़ा, दंश नामक असुर था, उसे भृगु ने कीड़े की योनि में जन्म लेने का शाप दिया था। दिनकर ने 'रश्मिरथी' में इसका कोई उल्लेख न कर उसे केवल एक विष कीट मान इस घटना के अलौकिक तत्त्व का बहिष्कार किया है।[3] इन प्रमुख प्रसंगों के अतिरिक्त इसका सम्पूर्ण कथानक महाभारत के अनुकूल है। इसके कथानक की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कवि ने संघर्ष के धरातल पर सामाजिक जीवन की अनेक दुर्बलताओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है।

रावण [१९५२]—'रावण' महाकाव्य की कथा का पूर्वार्द्ध वाल्मीकि रामायण पर आधारित है और उत्तरार्द्ध कवि कल्पना प्रसूत है। इसमें विश्रवा से लेकर अरिमर्दन तक पुलस्त्य ऋषि के वंश का वर्णन है। विन्ध्याटवी के वर्णन से काव्य का आरम्भ करके कवि ने कैकसी के गर्भ से विश्रवा के तीन पुत्र–रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण और एक कन्या शूर्पणखा की उत्पत्ति, रावण का मन्दोदरी और धन्य मालिनी से विवाह, लंका में रावण-राज्य की प्रतिष्ठा, लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के अपमान से क्रोधित होकर रावण द्वारा सीता का अपहरण, राम-रावण-युद्ध और रावण की मृत्यु, विभीषण का लंका पर अधिकार आदि का वर्णन परम्परा-प्रसूत है; किन्तु रावण के पुत्र अरिमर्दन का विभीषण से युद्ध, विभीषण की पराजय और अन्त में अरिमर्दन की अध्यक्षता में लंका की स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा आदि कल्पित प्रसंगों की उद्भावना सर्वथा मौलिक है।

पार्वती को पूजन-अर्चन से प्रसन्न कर रावण की पत्नी मन्दोदरी का मेघनाद के समान बलशाली पुत्र प्राप्त करना[4] तथा शूर्पणखा को नृपदूत

---

१. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' : रश्मिरथी, प्रथम सर्ग, पृ० ३–४; म० आदि० अध्याय १३५।

२. वही, प्रथम सर्ग, पृ० ७; म० आदि० अ० ११०, १३५, १३६।

३. वही, द्वितीय सर्ग, पृ० १६।

४. श्री हरदयालु सिंह: रावण, सर्ग ६, पृ० ६१।

नियुक्त कर जनस्थान में चौदह हजार राक्षसों की सेना की अध्यक्षा बनाना[1] शूर्पणखा का स्वमेव अग्निदाह,[2] सप्तम सर्ग में मेघनाद और सुलोचना का गान्धर्व विवाह तथा १५वें, १६वें व १७वें सर्गों का कथा-विधान भी कवि-कल्पना-प्रसूत है। आधुनिक युग के मानवतावाद से प्रेरित होकर कवि ने इस कृति में रावण के देव-विरोध का औचित्य दिखाते हुए, तथा विभीषण को बन्धुद्रोही और विश्वासघाती बताकर वाल्मीकि और तुलसी के प्रतिनायक रावण को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया है। इस मौलिकता के अतिरिक्त प्रासंगिक नवीनताएँ भी कवि-प्रतिभा की मौलिकता का साक्ष्य देती हैं।

कैकेयी [१९५२]—कैकेयी खण्डकाव्य की कथावस्तु का आधार वाल्मीकि रामायण तथा तुलसी का रामचरित मानस है। प्रस्तुत रचना में शेषमणि शर्मा ने परम्परागत रामकथा के कतिपय प्रसंगों में हेर-फेर करके कथा को आधुनिक विचारधारा के अनुकूल बनाने का प्रयास किया है। दशरथ कैकेयी की कठोरता से अत्यन्त विकल होकर कह उठते हैं—

'हाँ यह ले तलवार और बस कर इसको सीने के पार।
देख न सकता मैं राघव को पर वन जाने को तैयार ॥'[3]

और जब वे तलवार खींचते हैं तो सहसा राम आ पहुँचते हैं और कहने लगते हैं—'है यह कैसा हाल पिता' ऐसी कल्पना किसी भी पूर्ववर्ती रामकाव्य में नहीं मिलती। यह कवि की मौलिक सूझ है। कैकेयी श्री राम को श्रवण-कुमार की कथा सुनाती है। इस कथा को वाल्मीकि रामायण में दशरथ ने अपने अन्तिम समय में कौसल्या को सुनाया है यह कथा का स्थानान्तरण मात्र है। कवि ने इस कृति में कैकेयी के द्वारा प्रजा के दमन-हेतु जो आदेश दिया है, वह भी नवीन उद्भावना है—

'डण्डे का प्रहार करवाना या गोली चलवा देना।
एकत्रित हो कहीं भीड़ तो, तितर-बितर करवा देना ॥'[4]

इन प्रसंगों के अतिरिक्त शेष इतिवृत्त परम्परागत रामकाव्यों के अनुकूल है।

---

१. श्री हरदयालु सिंह : 'रावण' सर्ग १०, पृ० १४७।
२. वही, सर्ग ११।३६, पृ० १५४।
३. श्री शेषमणि शर्मा: कैकेयी, पृ० २६।
४. वही, पृ० ५३।

सावित्री [१९५३]—श्री गौरीशंकर मिश्र 'प्रणीत' 'सावित्री' प्रबन्ध-काव्य की कथावस्तु 'महाभारत' पर आधारित है। कवि ने कथा का प्रारम्भ सावित्री की यात्रा से किया है। 'महाभारत' के वन पर्व में वर्णित अनेक देशों के यात्रा-प्रसंग में परिवर्तन कर संक्षिप्त यात्रा-प्रसंग की रचना की गयी है[1] तथा सावित्री के विवाह का प्रसंग प्रबन्ध के गौरव के अनुकूल विस्तृत रूप से चित्रित किया गया है। शेष सम्पूर्ण कथा 'महाभारत' के आधार पर है।

शकुन्तला [१९५४]—इस काव्य की कथावस्तु का मूल स्रोत 'महाभारत' और पद्मपुराण है। इसमें कवि ने 'स्वर्गखण्ड की कथा' को पद्मपुराण तथा शेष को महाभारत के आदि पर्व और 'भागवत' के नवम् स्कन्ध के आधार पर चित्रित किया है। मेनका का अन्तर्द्वन्द्व इस काव्य की विशेषता है। कवि ने मेनका के स्वभावगत गुणों की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिकता से की है। मूल कथावस्तु में परम्परा और प्रसंगों में मौलिकता का योग प्रशस्य है।

शल्यवध [१९५४]—'शल्य-वध' में कर्णार्जुन युद्ध की पृष्ठभूमि के उपरान्त शल्य और युधिष्ठिर का युद्ध-चित्रण प्रमुख है। 'शल्य युद्ध' के बाद 'नकुल युद्ध' को भी कवि ने विस्तार से वर्णित किया है। इस खण्डकाव्य के कथानक का आधार महाभारत है। इससे पूर्ववर्ती रचनाओं-'जयभारत'[2] और 'अंगराज'[3] आदि में शल्य-वध संक्षिप्त रूप से चित्रित किया गया है। शल्य-वध पर स्वतन्त्र रूप से लिखी हुई यह पहली प्रबन्ध-रचना है।

इसमें महाभारत के शल्य पर्व के युद्ध की प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ समाविष्ट हैं। इसमें कवि का ध्यान युद्ध के चित्रण की ओर अधिक रहा है। कहीं-कहीं तो यह वर्णन महाभारत का भावानुवाद प्रतीत होता है। नकुल द्वारा कर्ण पुत्रों के वध का चित्रण इस बात का प्रमाण है। विरथ होने की स्थिति में नकुल रथ से नीचे उतर युद्ध करने लगते हैं—

> रथच्छिन्नध्वजो विरथः खंग मादाय चर्म च,
> रथादवातरद्‌ वीरः शैलाग्रादिव केसरी।[4]

÷ ÷ ÷ ÷ ÷

---

१. गौरीशंकर मिश्रः सावित्री, पृ०१४–१५, महाभारत वन०अध्याय २९३।
२. मैथिलीशरण गुप्तः जयभारत, पृ० ३९७ (द्वितीयावृत्ति)।
३. आनन्दकुमारः अंगराज, पृ० १८०।
४. महाभारत,–शल्य० १०।१९।

> झट शूर वीरों की तरह वह कूद कर रथ द्वार से
> सम्मुख चला निज शत्रु के उन्मुक्त खर तलवार से।[1]

युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त दुर्योधन का छल से शल्य को अपनाने की चेष्टा करना,[2] मार्ग में स्वागत करने वाले के प्रति शल्य का वचनबद्ध होना,[3] बाद में वास्तविकता जान लेने पर भी दुर्योधन की ओर रहते हुए युधिष्ठिर को भी उनका प्रिय कार्य करने का वचन देना[4] तथा कर्णार्जुन युद्ध के बाद कौरव सेना के सेनापति पद पर आरूढ़ होने के प्रस्ताव का उचित समाधान करना,[5] मद्रेश के वध का प्रतिशोध लेने के लिए शाल्व का पाण्डवों की विशाल सेना को नष्ट करना एवं इस युद्ध को मर्यादा नाशक बताना[6] आदि वर्णन महाभारत के अनुरूप हैं। कथावस्तु की दृष्टि से कवि ने कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया है।

अन्धा-युग [१९५५]—डा० धर्मवीर 'भारती' की यह कृति पाँच अंकों में विभाजित है। इसमें जिन समस्याओं को उठाया गया है, उसके सफल निर्वाह के लिये महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है। इसकी कथावस्तु 'प्रख्यात' है, किन्तु कुछ घटना और पात्र कल्पित हैं। कृष्ण के वधकर्ता का नाम 'जरा' था, ऐसा भागवत में भी मिलता है, किन्तु कृतिकार ने उसे वृद्ध याचक प्रेत-काया मान लिया है।[7]

इसमें दृश्य परिवर्तन या अंक-परिवर्तन के समय कथा-गायन की योजना है। यह पद्धति लोक-नाट्य परम्परा से ग्रहण की गयी है।

इसमें महाभारत कालीन स्थितियों, चरित्रों और घटनाओं के प्रतीक से वर्तमान संक्रान्ति कालीन समाज की मर्यादाहीनता, अनास्था, घुटन, दर्द और शंकाओं पर गहरी चोट की गयी है। यहाँ कवि ने युगानुकूल नये आदर्शों के द्वारा समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया है।

---

१. उग्रनारायण मिश्र: शल्य-वध, पृ० ४२।
२. वही, पृ० ७।
३. वही, पृ० १०।
४. वही, पृ० १२।
५. वही, पृ० ३१–३२।
६. महाभारत, शल्य० २३।६२।
७. डा० धर्मवीर भारती: अन्धायुग, निर्देश, पृ० ४।

द्वापर के बाद 'कलियुग' को कवि 'अन्धायुग' कहता है।

"युद्धोपरांत, यह अंधायुग अवतरित हुआ।
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
× × × ×
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।"[1]

धृतराष्ट्र के वैयक्तिक सत्य या निजी स्वार्थ के कारण विनाशक युद्ध हुआ, आज भी धृतराष्ट्रों की संख्या बढ़ रही है। महाभारत की तरह आज भी विषम परिस्थिति है। इसे कृतिकार ने प्राचीन कथा के माध्यम से निरूपित किया है। काव्य की दृष्टि से प्रस्तुत कृति में 'रागात्मकता' की पुकार होने पर भी वास्तविक हार्दिकता के स्थान पर कृतिकार की चिन्तनात्मक मुद्रा ही अधिक घनीभूत हुई है। कवि ने आधुनिक मानव की जाग्रत चेतना में नवयुग के आगमन की झाँकी पा-ली है—

"आज मुझे भान हुआ।
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है—
आज मुझे भान हुआ।"[2]

वैयक्तिकता सामूहिक जीवन के विरुद्ध क्रियाशील बनने पर जीवन को अन्धकार से घेर लेती है। इस अन्धकार से बुरी तरह पीड़ित होने पर व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता से ऊपर उठकर समष्टिगत सत्य का प्रकाश पाता है। इन्हीं विचार बिन्दुओं को लेकर 'अन्धायुग' की कथावस्तु का विकास हुआ है। महाभारत की परम्परागत कथा को नवयुग के साँचे में ढालकर कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

पांचाली [१९५५]—'पांचाली' के प्रणेता डा० रांगेय राघव ने काव्य की आधार भूमि 'महाभारत' को सामने रखते हुए अपने काव्य में प्राचीन सम्मान्य कथानक को नवीन चोला पहना कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत कृति की कथा उस समय की है जबकि पाण्डव अज्ञातवास से पूर्व काम्यक वन में रहते हैं। वहीं पर एक दिन सिन्धुराज जयद्रथ आकर

---

1. डा० धर्मवीर भारती: अन्धा-युग, पृ० १०।
2. वही, पृ० १६।

द्रौपदी के सामने अपना प्रेम पिटारा खोलता है। किन्तु द्रौपदी उसके प्रेम के जादू से प्रभावित नहीं होती अपितु उसे बदले में प्रताड़ना देती है। परिणाम-स्वरूप वह उसे हर कर ले जाता है। द्रौपदी-हरण का बाद में पाण्डवों को पता चलता है, वे सिन्धुराज को अपमानित करके, दुःशला के कारण छोड़ देते हैं। इस प्रकार परम्परागत कथानक का ज्यों का त्यों वर्णन करते हुए भी कवि ने यहाँ द्रौपदी के चरित्र को ऊँचा उठाने का प्रयास किया है। साथ ही इस कृति में तत्कालीन समाज में व्याप्त दासप्रथा की विवेचना आधुनिक युग के संदर्भ में कर कवि ने परम्परागत कथानक में नवीन प्रयोगों की सृष्टि की है।

पार्वती [१९५५]—डा० रामानन्द तिवारी की यह कृति २७ सर्गों में विभाजित है। इसकी कथावस्तु का मूल आधार शिवपुराण तथा 'कुमार-सम्भव' है। इसके प्रथम १७ सर्गों की कथावस्तु पर 'कुमार-सम्भव' का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है तथा अन्तिम १० सर्गों के कथानकों में कवि की मौलिक सृजन-प्रतिभा, विलक्षण काव्य-मेधा, वैचारिक निधि और भाव-गाम्भीर्य द्रष्टव्य है।

कवि ने परम्परागत कथानक में वर्तमान युग की रुचि के अनुसार अनेक परिवर्तन किए हैं। पार्वती के पिता हिमाचल को हिमवान देश का तेजस्वी राजा तथा माता—मेना को कवि ने मानव रूप में चित्रित किया है।[1] 'कुमार-सम्भव' में कुमार के जन्म की अलौकिकता का वर्णन है, किन्तु प्रस्तुत कृति में कवि ने 'कुमार' को पार्वती का औरस पुत्र ही स्वीकार किया है।[2] 'कुमार-दीक्षा' शीर्षक वाले सर्ग १५ में परशुराम के आश्रम में कुमार की समुचित शिक्षा की व्यवस्था भी मौलिक ढंग से की गई है। यद्यपि कृति-कार ने शिव को अलौकिक गुणों से युक्त चित्रित किया है, तथापि पार्वती मानवीय रूप में ही पाठक के सामने प्रस्तुत हुई है।[3]

'कुमार-सम्भव' में कथावस्तु का प्रारम्भ हिमाचल के वर्णन से होता है और उसकी परिसमाप्ति कुमार द्वारा तारक-वध के रूप में होती है। 'पार्वती' प्रबन्धकाव्य में कथानक यहाँ से भी आगे बढ़ता है और जयन्त अनि-

---

१. श्री रामनन्द तिवारी 'भारतीनन्दन': पार्वती, सर्ग २, पृ० ४९–५१।

२. श्री रामनन्द तिवारी 'भारतीनन्द': पार्वती, सर्ग १४, पृ० २८९।

३. वही, सर्ग २, पृ० ५३।

षेक[1], विजय-महोत्सव तारक पुत्रों द्वारा तीन (राजत,[2] आयस,[3] और कांचत[4]) पुरों की स्थापना शिव द्वारा उनका उद्धार,[5] तथा शिव-धर्म,[6] शिवनीति[7] और शिव-संस्कृति[8] के वर्णन में समाप्त होता है। इस प्रकार 'पार्वती' प्रबन्धकाव्य की समस्त उत्तरार्द्ध कथा सर्वथा मौलिक और नवीन है।

विदुलोपाख्यान [१९५६]—इस खण्डकाव्य की रचना महाभारतीय उपाख्यान के आधार पर हुई है। कुन्ती भगवान् कृष्ण के माध्यम से अपने पुत्रों को वीरतापूर्ण संदेश भेजती है। इसी संदर्भ में महाभारत में विदुला का उपाख्यान आया है।

प्रस्तुत रचना का प्रारम्भ सीधा विदुला के पुत्र संजय की पराजय से होता है। वीर क्षत्राणी विदुला युद्ध के मैदान से संजय के लौट आने से वह युद्ध से पराङ्मुख होने के कारण पुत्र की भर्त्सना करती हुई अपने वीर वचन से उसे युद्ध के लिए प्रेरित करती है—

> उद्योग करो, मेरे बेटा,
> फल सुमधुर, मीठा होवेगा।
> तेरा वैरी जो आज मस्त,
> कल रण में निश्चय सोवेगा।[9]

इस कृति में यह बताने की चेष्टा की गई है कि यह संसार नश्वर है और क्षात्रधर्म की वास्तविकता यह है कि श्रुति-सम्मत कर्त्तव्य पालन करते हुए व्यक्ति या तो विजय प्राप्त करे या युद्ध-भूमि में वीरगति को प्राप्त हो। पराजित होकर नारकीय जीवन बिताने से मृत्यु का वरण श्रेयस्कर है।

सती सावित्री [१९५७]—इस खण्डकाव्य की कथावस्तु महाभारत के वनपर्व के २९३वें तथा २९४वें अध्याय पर आवृत है। श्री गोपाल श्रोत्रिय ने

---

१. श्री रामानन्द तिवारी 'भारती नन्दन : पार्वती' सर्ग १८।
२. वही, सर्ग २०।
३. वही, सर्ग २१।
४. वही, सर्ग २२।
५. वही, सर्ग २३–२४।
६. वही, सर्ग २५।
७. वही, सर्ग २६।
८. वही, सर्ग २७।
९. श्री भगवतशरण चतुर्वेदी: विदुलोपाख्यान, पृ० ८८

अपनी इस कृति में अति-प्राकृत तत्त्वों को विश्वास के साथ स्वीकार किया है। सावित्री-जन्म, वर-चयन, विवाह तथा यमराज की वार्ता आदि सभी प्रमुख प्रसंगों का कवि ने 'महाभारत' के अनुपम ही निरूपित किया है। इसकी कथावस्तु में कवि ने स्त्री-शिक्षा के महत्त्व को प्रमुख स्थान दिया है। क्षोत्रिय जी की यह मान्यता है कि जिस देश की रमणियाँ शिक्षित होंगी, उसकी प्रगति असम्भव है। प्राचीन कथानक अपरिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दमयन्ती [१९५७]—'दमयन्ती' प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु 'महाभारत' के आधार पर १४ सर्गों में विभक्त है। 'महाभारत' के वनपर्व ५२।५० का युधिष्ठिर का प्रश्न 'दमयन्ती' में उसी विवश आकुलता से व्यक्त हुआ है—

"किन्तु देव दुर्देव ग्रस्त, क्या मुझसा पापी,
रहा विश्व में कहीं अभागा-विषम वितापी।"[१]

इस प्रकार प्रस्तावना के बाद कथा प्रारम्भ होती है। कवि अनेक प्रासंगिक परिवर्तनों के साथ अपने सामाजिक उद्देश्य की प्रस्थापना करता है। प्रथम सर्ग से चतुर्थ सर्ग तक जन्म, प्रेम, सन्देह और पल्लवन आदि प्रसंगों का विस्तार किया गया है। रूप-दर्शन के अभाव में प्रेम का अभ्युदय चित्र-दर्शन एवं गुण-श्रवण से होता है। कवि ने महाकाव्योचित गरिमा का सन्निवेश करते हुए मार्मिक प्रसंगों की न्यून सद्भावना से कथा का लालित्य अक्षुण्ण रखा है।

वाटिका में दमयन्ती का सौन्दर्य चित्रण,[२] सखी द्वारा नल की प्रशंसा, और दमयन्ती को नल के योग्य बताना,[३] मन के ध्यानमात्र से सतीत्त्व की आचार प्रणाली के आधार पर केवल नल का वरण,[४] वाटिका में हंस युग्म का मिलन देखकर प्रसन्न होना,[५] आर्य कन्याओं का कर्त्तव्य-विवेचन,[६] नगर का विस्तृत वर्णन और नल के सुराज्य का चित्रण[७] ये सभी प्रसंग कवि-

---

१. ताराचन्द्र हारीतः दयमन्ती सर्ग १, पृ० ५।
२. ताराचन्द्र हारीतः दमयन्ती, सर्ग १, पृ० ९–१२।
३. वही, पृ० १५।
४. वही, पृ० १६–१७।
५. वसी, पृ० १८।
६. वही, पृ० १७।
७. वही, सर्ग २, पृ० २१–२७।

कल्पना-प्रसूत हैं। महाभारत के नलोपाख्यान में इन प्रसंगों का वर्णन इस रूप में नहीं मिलता है।

'दमयन्ती' में अलौकिक तथ्य भी बुद्धि की कसौटी पर परख कर व्यक्त किये गये है। 'महाभारत' में हंस नल का संदेश लेकर दमयन्ती के पास जाते है और प्रेम का अंकुर सामान्यजनों की चर्चा से उत्पन्न होता है। 'दमयन्ती' में नारद नल के दरबार में जाकर दमयन्ती के गुणों की चर्चा करते हैं, उसे नल के उपयुक्त बताते हैं और तब नल के हृदय में प्रेम अंकुरित होता है।[1] नारद-प्रसंग केवल स्थान-भेद से प्रस्तुत किया गया है।

'महाभारत' में हंस के दूतत्व से आखेट का कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु 'दमयन्ती' के तीसरे सर्ग में नल आखेट को जाते हैं और हंस को पकड़कर मारने की इच्छा करते हैं, किन्तु उसकी प्रार्थना पर वे उसे छोड़ देते हैं। हंस स्वयं दूतत्व स्वीकार करता है।[2] दमयन्ती को सखियों से सुनी बात का पूर्ण विश्वास हंस-द्वारा होता है।[3]

प्रेम प्रकाशन से स्वयंवर तक की कथा पंचम सर्ग से अष्टम सर्ग तक फैली हुई है, इसी के अन्तर्गत नारद ने नल के दरबार में स्वयंवर की चर्चा की है। कवि पाँचवें सर्ग के आरम्भ में ही लोकपालों का आगमन दिखा देता है।[4] इसमें वह अलौकिकता से हटकर युग सापेक्ष स्वाभाविकता की धरा पर कथा को ले आया है। इसमें अनेक द्वीपों के नरेशों का परिचय दिया गया है, किन्तु महाभारत के परम्परागत कथानक में ऐसा नहीं है।[5]

'सप्तम-सर्ग' में दमयन्ती 'महाभारत' की भाँति पाँच नल देखकर देवताओं की स्तुति करती है, और अपने तेज से प्रभावित करती है।[6] महाभारत में देवता शीघ्र प्रसन्न हो जाते है, 'दमयन्ती' में उनके कृत्यों का उल्लेख है तथा प्रसंगवश प्राचीन संदर्भों की घोषणा भी है।[7] महाभारत में दमयन्ती के कार्य में विवशता एवं कोमलता है, दमयन्ती में सामर्थ्य और शक्ति का

---

१. ताराचन्द्र हारीत: दमयन्ती, सर्ग २, पृ० २८–४०।
२. वही, सर्ग ३, पृ० ४६–५३।
३. वही, सर्ग ४, पृ० ३५।
४. वही, सर्ग ५, पृ० ८१–८६।
५. वही, सर्ग ७, पृ० ११६–१२१।
६. वही, सर्ग ७, पृ० १३२। महाभारत वन० ५६।१८–२०।
७. वही, पृ० १३६। महाभारत वन० ५६।२२–२३।

चित्रण है। 'महाभारत' में देवताओं के आगमन का कारण नहीं दिया गया अपितु आठ वरदानों की चर्चा है। 'दमयन्ती' में देवता प्रकट होकर अपने विघ्न रूप-आगमन, परीक्षा की स्थिति पर प्रकाश डालते हैं।[1] 'महाभारत' में 'कलि' स्वयं को वर रूप में प्रस्तुत करता है। 'दमयन्ती' में 'कलि' केवल दर्शक है। देवताओं के रोकने पर भी शाप दे देते हैं।[2]

स्वयंवर-प्रसंग के सम्पूर्ण परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में सामाजिक दृष्टि-कोण है। महाभारत में दमयन्ती की शक्ति उभर कर भी देवत्व से दूसरे स्थान पर रही है, पर काव्य में ऐसी भावना नहीं, वहाँ देवत्व उससे प्रभावित होता है।

देवत्त्व की प्रतिष्ठा यहाँ उसी रूप में की है जिस रूप में महाभारत में हुई है। इसकी कथावस्तु में कवि ने अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना कर परम्परागत कथा के अलौकिक एवं अति प्राकृत तत्त्वों से वचने का प्रयास किया है। इस कृति में कवि का दृष्टिकोण सामाजिक रहा है।

ऋतंवरा [१९५७]—ऋतंवरा महाकाव्य की सम्पूर्ण कथावस्तु १६ सर्गों में समाहित है। प्रथम पाँच सर्गों में प्रलय के उपरान्त ब्रह्मा के विकल्प, समाधि, व्यवधान तथा पृथ्वी-उद्धार का अंकन है। ब्रह्मा के मानस पुत्र मनु काव्य के नायक हैं। कवि ने उन्हें कर्म का प्रतीक माना है। शतरूपा काव्य की नायिका है। कवि ने इसे कला का प्रतीक माना है। वह मनु की धर्मपत्नी और पथ-प्रदर्शिका भी है। मनु और शतरूपा के मिलन से लेकर नव-निर्माण की विभिन्न परिकल्पनाओं तक की कथा छः सर्गों में विभक्त है। 'विषाद' सर्ग के उपरान्त के चार सर्ग क्रमशः 'उद्‌वोधन', 'भविष्य-दर्शन', 'आत्मवोध' तथा 'अद्यपि' नामक शीर्षकों में विभाजित हैं। अन्तिम सर्ग में केवल चार पंक्तियाँ हैं।

महा-प्रलय के वाद ब्रह्मा पृथ्वी को जल के वाहर निकालते हैं। इसके उपरान्त ब्रह्मा के मानस-पुत्र मनु तथा भार्या शतरूपा का पृथ्वी पर आगमन होता है। शतरूपा के मिलन से मनु सृष्टि में नवीन जीवन-निर्माण करना चाहते हैं। किन्तु स्वप्न में मनु को पृथ्वी का समस्त कार्य व्यापार नश्वर और सारहीन दिखाई देता है। स्वप्न की यह धारणा जागरण में मनु को गम्भीर विषाद में अभिभूत कर लेती है। शतरूपा के प्रयासों से भी मनु का विषाद शान्त नहीं होता है। अन्त में ब्रह्मा मनु को जीवन और जगत की विधायक शक्तियों से परिचय कराते हैं। ब्रह्मा के समाधान से मनु को आत्म-

---

३. श्री ताराचन्द हारीत : दमयन्ती, सर्ग ७, पृ० १३७–१३९।

४. वही, पृ० १४०–१४३। महाभारत वन० ५८।३।

बोध होता है। आत्मबोध के बाद मनु वैराग्यकाल में बुझाये गये मंगलदीप को पुनः प्रज्वलित करते हैं। कवि का कथन है कि जो मंगलदीप हजारों वर्ष पूर्व मनु ने जलाया था, वह आज भी जल रहा है।

"मनु ने दीप जलाया जो
वह बुझा नहीं, जलता है।
मर्त्यलोक यह, मृत्यु खड़ी है
पर मानव चलता है।"[1]

इस कृति का प्रारम्भिक अंश वैदिक परम्परा से सम्बद्ध है जो बाद में पुराणों में अधिक विशदता से अवतरित हुआ है।

कामायनी की कथावस्तु अपने मूल रूप में ऋतंवरा में उतर आई है। दोनों के 'मनु' जिस प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में अङ्कित हुए हैं उसी प्रकार ऋतंवरा की शतरूपा भी कामायनी की श्रद्धा की ही छाया है। इस कथा का संयोजन परम्परा के परिप्रेक्ष्य में होता हुआ भी अपने विस्तारों में नवीन है। इसकी सांस्कृतिक भूमि से राष्ट्रीयता का स्वाद मिला हुआ है।

इसके प्रारम्भ में सरस्वती वन्दना, कथाक्रम के अनुकूल ऋतुओं का वर्णन तथा महान् आदर्श की स्थापना परम्परागत प्रबन्धकाव्यों के अनुसार अभिव्यक्त हुई है। वस्तुतः इसका कथानक मौलिक होते हुए भी परम्परागत भारतीय आदर्शों के अधिक अनुकूल है।

एकलव्य [१९५८]—इस महाकाव्य में कवि ने वर्तमान युग की मानवतावादी विचारधाराओं से अनुप्राणित होकर महाभारत के एकलव्य जैसे उपेक्षित पात्र को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया है। महाभारत में एकलव्य की कथा संक्षिप्त तथा साधारण रूप से केवल ३० श्लोकों में वर्णित है। डा० रामकुमार वर्मा ने इसकी कथावस्तु को नवीन उद्भावनाओं की भूमिका में परिवर्तित एवं परिवर्धित भी किया है, जिसका विस्तार चौदह सर्गों में हो गया है। कवि ने सर्गों के नामकरण में कामायनी की परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। दर्शन, परिचय, अभ्यास, प्रेरणा, प्रदर्शन, आत्म-निवेदन, आश्रम, ममता, संकल्प, साधना, स्वप्न, लाघव, द्वन्द्व और दक्षिणा सर्गों का नाम मनोवैज्ञानिक एवं भावात्मक पृष्ठभूमि पर आधारित है। भावनाओं के

---

1. केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' : ऋतंवरा, सर्ग १६, पृ० २०३।

उतार-चढ़ाव के आधार पर सर्गों का विस्तार कवि का नया प्रयोग है।[1] 'एकलव्य' में महाभारत के अध्याय १२९ से १३३ तक की कथा ग्रहण की गई है। एकलव्य में महाभारत के १२९वें अध्याय से द्रोण, अश्वत्थामा आदि महारथियों का जन्म प्रसंग गृहीत है। अध्याय १२९ के ३७वें श्लोक से ६७वें श्लोक तक की कथा के आधार पर परिचय सर्ग, अध्याय १३० से दर्शन-सर्ग और १३० तथा १३३ अध्याय से प्रदर्शन-सर्ग, अध्याय १३१ के ३१ से ३४वें श्लोक से 'आत्म-निवेदन', 'धारणा', 'संकल्प', 'साधना' आदि सर्गों का विकास हुआ है। 'स्वप्न', 'लाघव' और 'द्वन्द्व' सर्गों की कथावस्तु ३८ से ४३वें श्लोक के आधार पर है। ५५ से ५६वें श्लोक से दक्षिणा सर्ग निर्मित हुआ है। एकलव्य की कथावस्तु में नागदंत और एकलव्य की माता के प्रसंगों को छोड़कर शेष प्रसंग यत्-किंचित परिवर्तन के साथ महाभारत के अनुकूल ही चित्रित हैं।

'एकलव्य' में द्रोणाचार्य द्वारा कुए से वीटिका निकाल लेने पर अंगूठी निकालने का प्रस्ताव दुर्योधन करता है, क्योंकि उसे द्रोण का कार्य इन्द्र-जाल ज्ञात होता है,[2] महाभारत में ऐसा नहीं है।[3] एकलव्य ने गुरु द्रोण की 'मिट्टी' की ही प्रतिमा क्यों गढ़ी, इसका कवि ने युगसापेक्ष नूतन समाधान प्रस्तुत किया है।[4] इन प्रसंगों के अतिरिक्त द्रोणाचार्य का आखेट श्वान के साथ, पाण्डवों को ढूंढ लाने के लिए वनाभिजभृत्य को भेजना,[5] एकलव्य की प्रशंसा और पार्थ की निन्दा,[6] दक्षिणा अंगूठे की माँग गुरुमुख से न कराकर परिस्थिति

---

१. डा० श्यामनन्दन किशोर : आधुनिक महाकाव्यों का शिल्प-विधान. पृ० १६१–१६२।

२. "वीटिका तो वेध्य है परन्तु वह वस्तु जो
मध्य भाग से है हीन जैसे....................."
यह मुद्रिका ?
देखिये–एकलव्य, दर्शन सर्ग. पृ० १७।

३. वीटां च मुद्रिकांचैव ह्यहमेतदपि द्वयम्।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनमेप्रदीयताम् ॥
—महाभारत, आदि० १३०।१४।

४. एकलव्य, संकल्प सर्ग, पृ० १८०।

५. वही, लाघव सर्ग पृ० २४२–२४३।

६. वही, दक्षिणा सर्ग, पृ० २६३।

स्वाभिमानी रावरण ने उनसे सम्भाषरण नहीं किया। उनके लौट जाने पर राम पुनः लक्ष्मरण को भेजते हैं—

'जाओ लक्ष्मरण। शुचि
उदार मन, होकर जाओ।
रावरण का गम्भीर हृदय,
फिर से अवगाहो।'[1]

चौथे से छठे सर्ग तक लक्ष्मरण और रावरण के संवाद चलते हैं जिनसे रावरण के हृदय की निर्मलता, चरित्र की पवित्रता तथा उसके मानस की दृढ़ता अभिव्यक्त होती है। शूर्पणखा के नाक-कान काटना सीताहरण से भी बढ़कर घृणित कार्य है। विभीषरण तथा सुषेण वैद्य का अपहरण भी अनैतिक है। रावरण की दृष्टि से वालि-वध और सुग्रीव मैत्री सुकार्य नहीं हैं। भविष्य के लिए ये आदर्श हानिकारक सिद्ध होंगे, क्योंकि मातृभूमि को पद दलित कराने के लिए अगरिणत सुग्रीव और विभीषरण उत्पन्न हो जावेंगे, यथा—

'फिर अगरिणत सुग्रीव, विभीषरण होंगे जग में।
तुमने कांटे बिछा दिये हैं, युग के मग में॥
मातृभूमि पद-दलित कराने, कई विभीषरण।
किया करेंगे प्रतिदिन ही, नूतन अन्वेषरण॥'[2]

सातवें सर्ग में मन्दोदरी लक्ष्मरण से कहती है—'रामदूत' ने निरपराध जनता के घरों में आग लगाई है, उसको राम से दंड मिलना चाहिये था, किन्तु उन्होंने ऐसा न करके सम्मानित किया,[3] यह अनीति है। आज लंका पर अयोध्या का शासन हो गया है, पर स्मरण रहे कि राम ने भविष्य के लिए उपनिवेशवाद का द्वार खोल दिया है—

आज अयोध्या का, लंका तो उपनिवेश है।
उसका सारा सत्त्व, युद्ध में हुआ शेष है॥
पर भविष्य के लिए, सुदृढ़ यह भाव होगया।
उपनिवेश-वाद का प्रादुर्भाव हो गया॥[4]

---

१. कैलाश तिवारी : दशानन, तृतीय सर्ग, पृ० ३५।
२. वही, पंचम सर्ग, पृ० ६२।
३. वही, सर्ग ७, पृ० ८८।
४. वही, पृ० ८६।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में परम्परागत कथावस्तु में अनेक परिवर्तन किए हैं। राम के अनेक कार्यों को शंका की दृष्टि से देखना तथा रावण के अनेक कार्यों को सम्मान की दृष्टि से देखना आज के मानव की प्रवृत्ति बनती जा रही है।

कच-देवयानी [१९५८]—श्री रामचन्द्र प्रणीत इस खण्डकाव्य की कथावस्तु महाभारत के आदि पर्व के उपाख्यान पर आधृत है। प्रस्तुत कृति की कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है। बृहस्पति के पुत्र कच शुक्राचार्य के पास 'संजीवनी' विद्या सीखने जाते हैं। शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी कच को प्यार करती है। कच भी प्रारम्भ में देवयानी के भावों का विरोध नहीं करते, किन्तु जब कच विद्या सीखकर जाने लगते हैं तो देवयानी की प्रणय-याचना को अस्वीकार कर चले जाते हैं। देवयानी कहती है—

'कच। क्या तू सचमुच लब्धकाम
चर को टटोल, कुछ नहीं शेष।
कितनी पीड़ा दे चला हाय!
क्या तुझको कुछ भी नहीं क्लेश॥'[1]

'कच' गुरु कन्या कैसे स्वीकार करे? उसके मन में इस सम्बन्ध में एक द्वन्द्व है। देवयानी के सामाजिक विद्रोह का समाधान कच आदर्शवादी विचारधारा में करता है। प्रस्तुत कृति में कवि ने गुरु-कन्या के प्रति प्रणय की अस्वीकृति में आदर्श की स्थापना की है। साथ ही सार्वजनिक कल्याण के लिए छल को भी नीति का अंग माना है—

'किसी एक को उठ आगे आना होगा;
छल बल कौशल से अवश्य लाना होगा।'[2]

सम्पूर्ण कथानक महाभारत की कथा का आधार लेकर चलता है। परिवर्तन केवल चिन्तन और चरित्रगत हैं।

सेनापति कर्ण [१९५८]—इस कृति में कवि ने कर्ण का सम्पूर्ण चरित्र न लेकर केवल युद्ध-सम्बन्धी घटना को ही कथावस्तु का आधार बनाया है। सम्पूर्ण काव्य मन्त्रणा, चिन्ता, सृष्टि-धर्म, विषाद और अर्ध्यदान इन पाँच सर्गों में विभाजित किया गया है। कवि की अधूरी कृति होने पर भी प्रबन्धत्व की दृष्टि से इसकी कथावस्तु में कोई अवरोध दृष्टिगत नहीं होता। काव्य का आरम्भ युद्धभूमि में द्रोणाचार्य के देहावसान के अनन्तर युद्ध-शिविर में कौरवों

---

१. श्री रामचन्द्र : कच-देवयानी, पृ० ३२।
२. वही, पृ० ९।

की मन्त्रणा से होता है। युद्ध में कर्ण द्वारा अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा करना, कर्ण के अप्रतिम शौर्य से भीत पाण्डवों की चिन्ता, हिडिम्बा का अपने पुत्र घटोत्कच को अपने पिता भीम तथा अन्य पाण्डवों की सहायता के लिए प्रेरित करना, कर्ण का कुन्ती को आश्वाशन देना, घटोत्कच का पाण्डवों के शिविर में पहुँच कर उनकी ओर से कौरवों के साथ युद्ध करने के लिए तैयार होना, कृपाचार्य द्वारा कर्ण का कौरव-सेनापति के रूप में अभिषेक और द्रौपदी के रोकने पर भी घटोत्कच का कर्ण के साथ युद्ध के लिए तैयार होना आदि प्रसंग कर्ण के चरित्र से प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः सम्बन्धित अवश्य हैं।

सेनापति कर्ण की कथावस्तु में कवि ने परम्परागत महाभारतीय कथानक में यत्र-तत्र परिवर्तन कर मौलिक रूप प्रदान किया है। भीम ने हिडिम्बा को नीच कुल जन्मा मानकर त्याग दिया और राजकुल के ऐश्वर्य-विलास में भीम आपत्ति की सहायक पत्नी को भूल गये।[१] महाभारत में घटोत्कच को माता-पिता का ज्ञान है, वह समय-समय पर उनकी सहायता करता रहा है,[२] किन्तु प्रस्तुत कृति में कवि ने इस सत्य की उपेक्षा करके यह दिखाया है कि माता के बताने पर ही उसे पिता का ज्ञान होता है।[३] महाभारत तथा अन्य महाभारतीय रचनाओं में[४] हिडिम्बा और भीम का युद्ध अनायास ही हो जाता है, किन्तु प्रस्तुत कृति में कवि ने युद्ध का सम्बन्ध भीम और जरासंघ के युद्ध से जोड़कर एक मौलिक कल्पना की है।[५] इस कृति में हिडिम्बा और भीम के प्रेम-प्रसंग को भी नवीन ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[६] भीम से हिडिम्बा के विलग होने के कारण कवि ने तत्कालीन सामन्तीय परम्परा के प्रतीक वंश-भेद को माना है।

'यौवन के मद में बनाया जिसे प्रेयसी,
और फिर छोड़ दिया कुल विचार से।[७]

---

१. श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र : सेनापति कर्ण, चिन्ता सर्ग, पृ० ७५।

२. महाभारत, आदिपर्व १५४।२०।

३. श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र : सेनापति कर्ण, चिन्ता सर्ग, पृ० ८५—९४।

४. श्री मैथिलीशरण गुप्त : हिडिम्बा, पृ० १८।

५. श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र : सेनापति कर्ण, चिन्ता सर्ग, पृ० ८६।

६. वही, पृ० ९३।

७. वही, वर्द्धमान सर्ग, पृ० २११।

महाभारत में हिडिम्बा-भीम के प्रेम की प्रधान शर्त यह
उत्पन्न होने के उपरान्त वह साथ न रहेंगी।[1]

उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण इतिवृत्त महाभारत
अनुकूल है। इस काव्य का निरालापन यह है कि सम्पूर्ण कथा
मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व के साथ होता है। कवि ने कथा की संघटना
की है कि उसका इतिवृत गौण होगया है और तत्सम्बन्धी प्रबन्ध यो
हुई प्रबन्ध परिपाटी के अन्तर्गत न होकर स्वतन्त्र रूप से विन्यस्त हुई

ऊर्मिला [१९५८]—इस प्रबन्ध की कथावस्तु छः सर्गों में वि
इसमें परम्परागत रामकथा के केवल उन्हीं अंशों का चयन किय
जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध ऊर्मिला तथा उसके पति लक्ष्मण से ही है। व
और तुलसी ने जिन प्रसंगों की उपेक्षा की है, नवीनजी ने उन्हें इस
मौलिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। ऊर्मिला-लक्ष्
दाम्पत्य जीवन, रामवन-गमन के समय ऊर्मिला की स्थिति, राम की वन
का सांस्कृतिक महत्त्व, ऊर्मिला का विरह-वर्णन और अन्त में ऊर्मिला-ल
मिलन आदि प्रसंगों का हृदयग्राही वर्णन किया गया है।'ऊर्मिला' में प्रमुख
में भावात्मक उपकरणों की प्रधानता है।

'ऊर्मिला' में गांधीयुग की चेतना के साथ कवि की स्वच्छन्द शृंगा
भावना का उन्मेष भी है। 'ऊर्मिला' पर 'साकेत' का भी कुछ प्रभाव दृष्टिगं
होता है, पर नवीन जी ने कहीं भी साकेत का अन्धानुकरण नहीं किया
विविध-प्रसंगों में भाव-साम्य के होते हुए भी 'ऊर्मिला' में पर्याप्त मौलिक
वर्तमान है। जहाँ साकेत में प्रबन्धात्मकता 'ऊर्मिला' की अपेक्षा अधिक है, व
ऊर्मिला और लक्ष्मण को आदि से लेकर अन्त तक प्रधानता देने और उन
चरित्र की विशेषताओं को प्रकाश में लाने में नवीन जी को अधिक सफलत
प्राप्त हुई है।

कवि ने अपने इस प्रबन्धकाव्य में परम्परागत रामकथा को कोई प्रमु
खता नहीं दी है। स्वयं कवि के शब्दों में—"मेरी इस 'ऊर्मिला' में पाठकों व
रामायणी कथा नहीं मिलेगी। रामायणी कथा से मेरा अर्थ है—क्रम से राम
लक्ष्मण जन्म से लेकर रावण-विजय और फिर अयोध्या आगमन तक व
घटनाओं का वर्णन। ये घटनाएँ भारतवर्ष में इतनी अधिक सुपरिचित है कि
इनका वर्णन करना मैंने उचित नहीं समझा। इस ग्रन्थ में मैंने विशेषक

१. महाभारत, आदि० १५४-२०।

मनःस्तर पर होने वाली क्रियाओं का दर्पण बनाने का प्रयास किया है। रामायणीय घटनाओं का राम, सीता, सुमित्रा, कौशल्या और विशेषकर लक्ष्मण और ऊर्मिला के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, वे उन घटनाओं के प्रति किस प्रकार प्रतिकृत हुए, आदि का वर्णन ही इस ग्रन्थ का विषय बन गया है। इसमें जो कुछ कथा-भाग है, वह गृहीत है- वर्णनात्मक अर्थात् घटना वर्णनात्मक नहीं।[1] ६१९ पृष्ठों के ६ सर्गों में विभक्त इस प्रवन्धकाव्य में सर्वत्र ऊर्मिला का चरित्र ही छाया हुआ है। कथा की शृङ्खला में तारतम्य नहीं है और वस्तुतः तो उसमें कथा है ही नहीं। ऊर्मिला-सीता के बचपन से कथा का आरम्भ हुआ है। फिर एकदम दोनों सुसराल में दीख पड़ती है। अनेक प्रसिद्ध घटनाओं को कवि ने छोड़ दिया है जैसे—धनुष-भंग, वन-गमन, पंचवटी-प्रसंग, राम-रावण युद्ध, भरत-मिलाप आदि प्रसंगों का इसमें समावेश नहीं है। वनगमन के बाद कवि ने ऊर्मिला का सीधा विरह वर्णन प्रारम्भ किया है। अन्त में राम-लक्ष्मण-सीता का वन से वापस आने का वर्णन है। लक्ष्मण-ऊर्मिला-पुर्नमिलन का वर्णन भी नहीं है। अन्तिम सर्ग एकदम अलग से जुड़ा हुआ सा जान पड़ता है।

प्रस्तुत कृति में राम-वन-गमन को कवि ने परम्परागत रामकाव्यों से भिन्न रूप में चित्रित किया है—"मैंने राम-वन-गमन को एक विशेष रूप से देखने और उपस्थित करने का साहस किया है। राम की वन-यात्रा, मेरी दृष्टि में एक महान् अर्थपूर्ण आर्य-संस्कृति-प्रसार-यात्रा थी।''' ''''राम की वन-यात्रा भारतीय संस्कृति-प्रसारार्थ, एक महान् यज्ञ के रूप में थी।[2] ऊर्मिला की कथावस्तु में गांधीयुग की अधिक तलस्पर्शी सांस्कृतिक चेतना के साथ कवि की स्वच्छन्द शृंगारिक भावना का उन्मेप भी है। ऊर्मिला की कथावस्तु की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें कवि ने राम-वन-गमन के प्रतिकार में ऊर्मिला के द्वारा जनतन्त्र की भावनाओं को नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है, यथा—

"कहदो आज पिता दशरथ से, कि यह अधर्म नहीं होगा,
कहदो, लक्ष्मण के रहते यह घोर कुकर्म नहीं होगा।
राज नहीं कैकेयी का यह, दशरथ का न स्वराज्य यहाँ,
जन-गण-मन रंजन कर्त्ता ही होता है अधिराज यहाँ॥[3]

---

१. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : ऊर्मिला, भूमिका, पृ० च, छ।
२. वही, पृ० छ।
३. वही, सर्ग ३, पृ० २४४।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध की कथावस्तु में परम्परागत रामकथा को कवि ने नवीन प्रयोगों के सदर्भ में अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः प्रस्तुत कृति की कथावस्तु 'साकेत' यशोधरा आदि की परम्परा में एक नूतन कड़ी है।

तारकवध [१९५८]—इस काव्य में गीरीश जी ने शिव-पार्वती के पुत्र कार्तिकेय द्वारा तारकासुर के वध से सम्बन्धित पुरातन पौराणिक कथानक को नूतन रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ कवि ने कार्तिकेय द्वारा हिंसात्मक अस्त्रों से तारक का वध न कराकर शृङ्गी ऋषि द्वारा अहिंसात्मक प्रयोगों से उसका हृदय परिवर्तन कराते हुए इस प्राचीन परम्परागत कथानक को आज की युग-भावना के अनुरूप निरूपित किया है।

कार्तिकेय के सम्बन्ध में कवि ने अनेक नूतन कल्पनाएँ की हैं। वे अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए विभाण्डक मुनि के पुत्र शृंगी ऋषि के रूप में जन्म लेते हैं।[1] शृंगी ऋषि अपनी सहधर्मिणी के रूप में, दशरथ तनयाशांता का सहयोग पाकर तारकासुर के हृदय का परिवर्तन करते हैं।[2] इस प्रकार परम्परागत कथानक को नवीन मोड़ देकर कवि ने एक नूतन प्रयोग किया है। 'दानव का सहार-तत्त्व कितने अंशों में अग्राह्य है और कितने अंशों में ग्राह्य, कहाँ वह बर्बर हो जाता है और कहाँ क्षत्रिय, इन्हीं और ऐसे ही अन्य आनुषंगिक प्रश्नों का उत्तर खोजने की दिशा में 'तारकवध' एक प्रयोग है। इस दृष्टि से 'तारकवध' पिछले आधुनिक महाकाव्यों से एक पृथक् सत्ता रखता है।[3] अपने विशालकाय १९ सर्गों के विस्तृत कथानक में कवि ने अनेक नूतन उद्भावनाएँ की हैं।

"तारकवध का कथानक नाममात्र को प्राचीन परिचित पौराणिक कथानक है। कवि ने उसे अपनी कल्पना का सजीवन मिलाकर, उसे वर्तमान युग की जीवन समस्याओं का व्यापक रंगमंच बनाने के अभिप्राय से, उसका आमूल काया-कल्प कर दिया है। कथा का जीर्ण-शीर्ण पंजर नवीन प्राणों का शक्तिशाली स्पर्श पाकर मूर्तिमान होकर जाग उठा है। वास्तव में पात्रों के प्राचीन नामों को छोड़कर समग्र कथावस्तु प्रतीकात्मक परिधान धारण कर, जैसे किसी जादू के बल से, मानव सभ्यता तथा संस्कृति की आधुनिकतम समस्याओं का निरूपण कर, युग-मानव के सम्मुख उनका समाधान प्रस्तुत

---

१. श्री गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' : तारकवध चतुर्थ सर्ग, पृ० ९४–९५।
२. वही, अष्टादश सर्ग, पृ० ४९०–५००।
३. वही, लेखक के दो शब्द, पृ० २३।

करने में सफल हो सकी है। कवि ने मानव जीवन की मौलिक, चिरंतन समस्याओं को अपने कथापट के ताने-वाने में नये रूप से उपस्थित कर, देव-दानव और मनुष्य को एक ही महासत्य के त्रिगुणात्मक रूपों में अंकित कर, उनके समन्वय द्वारा मानव-जीवन की पूर्णता का लक्ष्य सिद्ध किया है।[1] वस्तुतः 'तारकवध' एक प्रतीक-प्रधान प्रबन्धकाव्य है, जिसका उद्देश्य कथा कहना नहीं, कथा के आधार पर देवासुर संघर्ष का चित्रण है। शृंगी ऋषि के माध्यम से कवि ने इसमें दानवों के प्रति घृणा नहीं; प्रेम का व्यवहार उचित बतलाया है। इस दृष्टि से तारकवध प्रबन्धकाव्य की रचना में एक नया प्रयोग है।[2] इसमें कवि ने जीवन की अनन्त विभिन्नताओं और विषमताओं के अन्तर में प्रवाहित एकता को ढूँढने का प्रयास किया है। यह अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, अगति और प्रगति किसी को भी ठुकराना नहीं चाहता, यह मानव-जीवन में इन सबका समन्वय देखना चाहता है।[3] यह कृति प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन की अनुभूतियों का अपूर्व भण्डार है, जिसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रतीकों के गूढ़ विधान को जानना आवश्यक है। इस प्रकार इसकी समस्त कथावस्तु सर्वथा मौलिक एवं नवीन है। इसमें परम्परागत पौराणिक कथानक का आमूल-चूल परिवर्तन हो गया है।

दानवीर कर्ण [१९५९]—श्री गुरुपद्म सेमवाल प्रणीत 'दानवीर कर्ण' प्रबन्धकाव्य का प्रारम्भ दुर्वासा के आगमन से होता है। भोज के लिए आये हुए दुर्वासा, जाते समय प्रसन्न हो, कुन्ती को वरदान देते हैं—कुन्ती सद्भाव-कर्म विधान का वरदान मांगती हैं—

> "कुन्ती बोली ब्रह्मवर इतना अधिक वरदान है।
> हो स्वमन अन्तः करण सद्भाव कर्म विधान है॥"[4]

ऋषि दुर्वासा कुन्ती को वरदान देते हुए चेतावनी भी देते हैं :—

> "हो विपद यदि जो जपो बिन धारणा, उपहास में।
> कर अनिष्ट महा विकटघन आन हो सब नाश में॥"[5]

---

१. श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' : तारकवध, प्राक्कथन : पंत, पृ० १–२।

२. मै कह चुका हूँ कि तारकवध की रचना करके मैंने एक प्रयोग किया है। वही, लेखक के दो शब्द, पृ० २१।

३. वही, लेखक के दो शब्द, पृ० ५–६।

४. श्री गुरु पद्म सेमवाल : दानवीर कर्ण, पृ० ६।

५. वही, पृ० ६।

वस्तुतः कनुप्रिया में 'राधा' के प्रेम का वर्णन है। इसमें कवि ने राधा को नया व्यक्तित्व देते हुए राधा के माध्यम से युद्ध और प्रेममय जीवन का द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। परम्परागत कृष्ण–काव्यों की राधा और कनुप्रिया की राधा में यही अन्तर है। 'कनुप्रिया' की राधा कृष्ण के युद्ध और संघर्ष का अर्थ नहीं समझती।[1] कनुप्रिया में कहीं राधा के कार्य-कलाप और स्मृति का चित्रण है तो कहीं वह अपनी जीवन-विधि की मधुरता और युद्ध की तैयारी की तुलना करती है।[2] कवि ने राधा के द्वन्द्व को 'समापन' में 'तुम्हारी प्रतीक्षा में अडिग खड़ी हूँ कनु मेरे' के साथ समाप्त किया है।[3]

संक्षेप में यह कहना उचित ही होगा कि 'कनुप्रिया' कथानक की नवीनता, भावों की तरलता, विचारों की मौलिकता में परम्परा से कहीं आगे निकल कर नये वातावरण में आ पहुँची है।

प्रेम–विजय [१६५६]—प्रस्तुत खण्डकाव्य में देवताओं से दानव राजा बाणासुर की मैत्री की घटना वर्णित है। भागवतादि पुराणों में बाणासुर की तपस्या, शिव-वरदान की प्राप्ति, उसकी ऊषा नामक पुत्री का उद्भव, अनिरुद्ध से उसका विवाह इत्यादि घटनाएँ वर्णित हैं। कवि ने परम्परागत कथा-प्रसंगों में अनेक परिवर्तन भी किए है। उसने दैत्यों को मनुष्यों की श्रेणी में ही प्रस्तुत किया है। इसमें बाणासुर का हृदय परिवर्तन कराया गया है। महादेव को कैलाशवासी न मानकर परब्रह्म-चैतन्य के रूप में अखिल ब्रह्माण्ड में विद्यमान बताया गया है। श्रीकृष्ण द्वारा बाणासुर का हृदय परिवर्तन एवं देवासुर द्वेष की समाप्ति की घटना भी कवि मानस की उपज है।

इस प्रकार कवि ने परम्परागत प्रसिद्ध कथानक को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। कथावस्तु में बाणासुर को प्रधानता मिलने से ऊषा-अनिरुद्ध की कथा को एक दूसरा ही परिपार्श्व मिल जाता है।

द्रौपदी [१६६०]—इस खण्डकाव्य की कथावस्तु पांच सर्गों में विभाजित है। इसकी रचना परम्परागत महाभारतीय कथा पर आधारित है। किन्तु कवि ने इसमें स्वच्छन्द रूप से अपना नवीन दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया है। स्वयं कवि ने इसकी कथावस्तु के सम्बन्ध में अपना स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'इसकी कथा को भला कौन नहीं जानता ? मूल कथा को ही आधार

---

१. डा० धर्मवीर भारती : कनुप्रिया, नू० पृ० १०३, प्रथम सं० १६५६।
२. वही, पृ० ७४।
३. वही, पृ० ८६।

मानकर मैंने अपनी बात कही है। द्रौपदी जीवनी शक्ति है, जिसने पाँच महातत्वों को संश्लिष्ट रूप देकर नर को उसका स्वरूप प्रदान किया है। युधिष्ठिर आकाश-तत्व, भीम प्राण-तत्व, अर्जुन अग्नि-तत्व, नकुल जल-तत्व और सहदेव भूमि-तत्व है। पृथा माता स्वयं पृथ्वी माता है, जिन्हें देवानुकूल शक्ति प्राप्त है।'[1] इसी प्रकार कवि ने नयनहीन धृतराष्ट्र के शत पुत्रों को उनकी शत इच्छाएँ माना है।[2] द्रौपदी स्वयंवर में सूर्य पुत्र कर्ण की असफलता एवं अर्जुन की सफलता,[3] पाण्डवों का राज-सूय यज्ञ,[4] युद्धोपरांत तर्पण के अवसर पर पृथा का युधिष्ठिर को कर्ण का वास्तविक भेद बताना,[5] दुर्योधन की ईर्ष्या,[6] युधिष्ठिर का द्यूत-क्रीडा में पराजित होना,[7] द्रौपदी का अपमान,[8] पाण्डवों का वनवास,[9] महाभारत का युद्ध,[10] युधिष्ठिर की आत्मग्लानि,[11] आदि प्रसंगों को कवि ने संक्षिप्त और संकेतात्मक रूप में परम्परागत महाभारतीय कथा के अनुरूप ही चित्रित किया है, किन्तु सम्पूर्ण कथानक समासोक्ति की भूमिका पर निर्मित होने के कारण कथावस्तु अन्य काव्यों की अपेक्षा अपनी पृथक् सत्ता रखती है।

प्रस्तुत रचना के कथानक में कवि ने महाभारत के पात्रों का प्रतीक अर्थ लेकर पुरुष की उन्नति में नारी बलिदान को प्रधानता दी है।[12] यही इस कथा का नूतन प्रयोग है। द्रौपदी का सम्पूर्ण कथानक सांस्कृतिक और दार्शनिक भाव-भूमि पर आधारित है जिसमें प्रतीकात्मक रूप से अप्रस्तुत दार्शनिक तथ्यों का नियोजन है।

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा : द्रौपदी : भूमिका, पृ० ७।
२. वही, पृ० ७।
३. वही, पृ० १५।
४. वही, पृ० ३०।
५. वही, पृ० ४३।
६. वही, पृ० ३०।
७. वही, पृ० ३२।
८. वही, पृ० ३२-३३।
९. वही, पृ० ३३-३६।
१०. वही, पृ० ३८।
११. वही, पृ० ४४।
१२. वही, पृ० ७।

रामराज्य [१९६०]—राम-काव्य-परम्परा की कथा का सम्बन्ध मुख्य रूप से वाल्मीकि रामायण :है, किन्तु राम-कथा की परम्परा और भी सुदृढ़ बनाने का श्रेय गोस्वामी तुलसी को है जिन्होंने आदि कवि के ऋण को स्वीकार किया है।

तुलसी के समग्र परवर्ती रामकाव्य ने 'रामचरित मानस' को ही कथात्मक आधार के रूप में ग्रहण किया है। हिन्दी में 'मानस' की रचना के उपरान्त रामकाव्य की परम्परा अन्तःसलिला की भाँति चली। राम-चन्द्रिका, साकेत, वैदेही-वनवास, साकेत-संत आदि की परम्परा को 'रामराज्य' ने अक्षुण्ण रखा। डा० बलदेवप्रसाद की इस कृति में १२ सर्ग हैं। कथा का मुख्य आधार तुलसी का 'मानस' है।

काव्य में कथानक का आरम्भ उस समय से होता है जबकि निर्वासित राम सुमन्त्र के साथ रथ पर बैठ कर वन को जाते हैं। इससे पूर्व कवि ने कैकेयी की वर-याचना, दशरथ की विह्वलता और मृत्यु तथा कौशल्या आदि की करुण-कातरता के दुःखद प्रसंगों का केवल संकेत मात्र किया है। दूसरे सर्ग में भारद्वाज-आश्रम, तीसरे में वाल्मीकि-भेंट, चौथे में चित्रकूट-प्रसंग, पाँचवें में अगस्त्य-परामर्श एवं पंचवटी, छठे में शूर्पणखा की घटना एवं खरदूषण-युद्ध, सातवें में किष्किन्धाकाण्ड, आठवें में सुन्दरकाण्ड के आख्यान और नवम सर्ग में रावण-वध तथा दसवें सर्ग में राम के राज्याभिषेक का वर्णन है। इसमें पहले, दूसरे से दसवें सर्ग तक परम्परित राम-कथा है। समस्त काव्य में दो ही महत्वपूर्ण सर्ग दिखाई पड़ते हैं और वे हैं—अन्तिम उपान्त्य एवं आन्त्य सर्ग, जिनमें कवि की मौलिकता का परिचय मिलता है। इन्हीं दोनों सर्गों में क्रमशः भारतीयों के मानव-धर्म और राष्ट्रधर्म की घोषणा[1] और रामराज्य की व्यवस्था अंकित है।[2]

---

१. "राम के नृप होते ही, घोषणा राष्ट्र-धर्म की,
गांव-गांव हुई और चट्टानों में लिखी गई।"
—रामराज्य, स० ११।१, पृ० ११६।

२. "तन मन से जो मनुज स्वस्थ हो, वह श्रम कर ऐश्वर्य पायें,
शासन का दायित्व यही है नर इसकी सुविधायें पायें।
पर इस सुविधा में समष्टि की सुविधा पर आघात न होवें,
रामराज्य में रही व्यवस्था प्रतिजन ऐसे मार्ग गहावें॥"
—वही, स० १२।५३, पृ० १४६।

'ऋग्वेद' में पुरूरवा और उर्वशी के वियोग का वर्णन करते हुए उर्वशी द्वारा पुरूरवा को त्याग कर चली जाने का कथन है। 'दिनकर' भी यहाँ पर वही प्रसग ग्रहण करते हैं।

'उर्वशी' का कथापट वैदिक, पौराणिक तथा अनेक साहित्यिक कथाओं के सूत्रों से बुना गया है। कथा की एक परम्परा होते हुए भी मौलिक विस्तार बड़े हृदयग्राही हैं। कृति में कथा इतनी मूल्यवान नहीं है जितनी विचारधारा।

पुरूरवा और उर्वशी के प्रेमाख्यान द्वारा कवि ने मानव मन की प्रमुखतम तपस्या 'काम' का विश्लेषण किया है। कथा में घटनाओं की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य है। 'दिनकर' जी के अनुसार ऐन्द्रिय भोग की पराकाष्ठा के पश्चात् की स्थिति आध्यात्मिक अनुभव की स्थिति है। प्रस्तुत कृति की कथावस्तु में पुरूरवा के माध्यम से कवि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यदि आध्यात्मिक अनुभव साध्य है तो ऐन्द्रिय भोग उस स्तर पर पहुचने का साधन है। किन्तु यह चिर सत्य नहीं है, अपवाद ही हो सकता है। दिनकर जी यह भी मानते हैं कि भोग की भूमिका का अतिक्रमण कर व्यक्ति कवि बन जाता है, यथा—

> दाह मात्र ही नहीं प्रेम होता है अमृत शिखा भी,
> नारी जब देखती पुरुष को इच्छा भरे नयन से,
> नहीं जगाती है केवल उद्वेलन, अनल रुधिर में,
> मनमें किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।[1]

परम्परागत परिभाषा में भोग और अनुभूति दो भिन्न प्रतीतियाँ हैं। काव्य अनुभूति प्रवण होता है और भोग इन्द्रियाश्रित। अतः इस दृष्टि से भी 'दिनकर' जी ने एक नवीन विचार का प्रकाशन किया है। इस प्रकार प्राचीन पौराणिक कथानक को प्रयोगों के संदर्भ में अभिव्यक्त करते हुए कवि ने काम की निराकार झंकृतियों को मानव उदात्तीकरण का सूक्ष्म सोपान माना है।[2] यह भी सम्भव है 'उर्वशी' में कवि ने पश्चिमी नारी के रूप में उर्वशी को प्रस्तुत कर काम पिपासु आज के मानव को पुरूरवा के रूप में प्रस्तुत कर उसके चरित्र का परिष्कार करना चाहा है।

---

१. श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' : उर्वशी, तृतीय अंक, पृ० ५७ (द्वितीय-संस्करण)।

२ वही, भूमिका, पृ० ङ।

सारथी [१६६१]— कवि ने इस कृति में मनुष्य को अतीत, अनागत और वर्तमान की भूमिका पर देखने का प्रयास किया है। इसमें परम्पराओं का अनुमोदन भी है और प्रगति की सम्भावनाओं के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण भी। कवि ने आधुनिक युग की अन्ध प्रगति से त्रस्त और भयाक्रान्त मानवता के भविष्य पर बड़े विवेकपूर्ण ढंग से विचार किया है। यह काव्य कथावस्तु की दृष्टि से पौराणिक अतीत से जुड़ा हुआ है, किन्तु भाव एवं कल्पना की मौलिकता की दृष्टि से वर्तमान के यथार्थ एवं अनागत की सम्भावनाओं से भी यह पूर्णतः सम्बद्ध है। 'सारथी' का भाव-जगत् किसी देश या काल की सीमा से आबद्ध नहीं है। इसमें अवतरित सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं तथा कथा को यथासाध्य संक्षिप्त रखकर उसमें एक सूक्ष्म अन्तरचेतना के प्रवाह की चेष्टा की गई है।[1]

इतिवृत्तात्मक दृष्टि से 'सारथी' में कामायनी की कथा का विकास परिलक्षित होता है। कामायनी में मानवता के जनक मनु की कथा है तो सारथी में मानव का इतिवृत्त है। 'प्रसाद की कामायनी में मनु ने अखण्ड आनन्द से पूर्व जो सृष्टि अपने पुत्र मानव को सौंपी थी, वह अब किधर जा रही है, मनु-पत्नी श्रद्धा किस दशा में कहाँ रह गई है तथा मानव संस्कृति का भविष्य क्या है,[2] आदि प्रश्नों का समाधान कवि ने अपने दृष्टिकोण से किया है। 'सारथी' प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि 'त्रिपुर' कल्पना है। त्रिपुर-कल्पना एक प्राचीन रूपक है। कामायनीकार ने भी त्रिपुर-दाह की योजना इच्छा, ज्ञान और कर्मलोक के रूप में 'रहस्य' सर्ग में की है। 'सारथी' प्रबन्धकाव्य में त्रिपुर-रूपक को युगीन संघर्ष पृष्ठभूमि के रूप में व्यंजित किया गया है। दशम सर्ग में शिव ने सृजन कर्म में लीन ब्रह्मा को सारथी बनाकर रथारूढ़ हो अपने आलोक-शर से त्रिपुर-नाश कर दिया। पृथ्वी पूर्ववत ज्योति-चक्र से चलने लगी। मानव भूमि पर ज्ञान, वासना और कर्म का समन्वय हुआ।[3] प्रकृति की नूतन सुषमा से मुक्त सृष्टि का सृजन हुआ है।[4]

इस काव्य में परम्पराओं के अनुमोदन में प्रगति का पथ प्रदर्शित किया गया है तथा त्रिपुर-रूपक की पौराणिक इतिवृत्तात्मक पृष्ठभूमि पर विराट

---

१. श्री रामगोपाल शर्मा 'दिनेश': सारथी, आमुख पृ० १२।
२. वही, पृ० १२।
३. वही, सर्ग १० पृ० १५२।
४. वही, सर्ग १०, पृ० १५३।

कल्पना के माध्यम से युग जीवन के संघर्ष की समसामयिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ये ही इसकी कथावस्तु के प्रयोग हैं।

अनंग [१९६१]—'अनंग' प्रबन्धकाव्य उषा, रति, काम, अनुराग, परिणय, वासना और संयम सर्गों में विभक्त है। प्रस्तुत कृति में काम, रति और आनन्द का वैदिक स्वरूप ही ग्रहण किया गया है।[1] इसके परंपरित स्वरूप में कवि ने अनेक नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। श्रेय और प्रेय दो भिन्न धाराओं के संगमस्थल को कवि ने आनन्द की संज्ञा दी है तथा इसकी कथावस्तु में 'दर्शन,' छवि,' 'मन,' कामना,' 'कल्पना,' 'विलासिनी,' 'वासना,' 'भोग,' 'घृणा,' 'हिंसा,' 'ईर्षा,' 'संशय,' 'करुणा,' 'मनीषा,' और ज्ञान की दर्शन सम्मत कल्पना की गई है। 'रति' का पिता 'प्रत्यक्ष' अथवा 'दर्शन' है और माता 'प्रकृति'। 'काम' (मनसिज) 'मन' का पुत्र है और 'छवि' जननी का औरस। जैसे 'काम' का सखा 'बसन्त' है, वैसे ही 'रति' की सखियाँ 'कामना' और 'कल्पना' हैं। 'वासना' की सखी 'विलासनी' है। प्रतिनायिका 'वासना' 'रति' की प्रतिद्वन्द्वी है, जो 'रति' की सफलता से क्षुब्ध और खिन्न होकर 'भोग' का वरण करती है। ज्ञान 'काम' के क्षेत्र का प्रतिपक्षी है।'[2] सम्पूर्ण कथानक इन्हीं विचार बिन्दुओं से अनुस्यूत है। कृतिकार आरम्भ में, 'काव्य की रचना के समय, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि रखकर भी पौराणिक कथानक से किंचित प्रभावित ही रहा और उसने 'ज्ञान' के सम्मुख 'काम' के पराजय का अंकन करके उसके व्यक्तित्व के उद्धार का प्रयत्न किया, किन्तु संशोधन के समय (अक्टूबर १९६१) वह अंश परिवर्तित कर दिया गया।'[3]

कवि को नायक 'काम' की पराजय स्वीकार नहीं हुई। अतः प्रस्तुत कृति में प्रेय के सम्पूर्ण वैभव को श्रेय-विशिष्ट रूप में अंकित किया गया है।

इस प्रकार प्रबन्धकाव्य की सम्पूर्ण कथावस्तु पौराणिक कथानक से सर्वथा भिन्न है। यहाँ पर 'काम' की दिग्विजय में, 'ज्ञान' की मधुरतापूर्ण अधीनता से, दोनों में प्रसन्न समन्वय और रमणीय सहयोग स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया गया है, यथा—

'विश्व-व्यापी है, चिरन्तन है, अमित,
काम-रति का लोक, मन का लोक है।

---

१. श्री पुत्तूलाल शुक्ल 'चन्द्राकार': अनंग, आमुख, पृ० अ तथा आ।
२. वही, पृ० इ।
३. वही, पृ० ई।

सृष्टि-करण-करण स-रति और स-काम है,
प्रेम की ही विश्व में अन्तिम विजय ।।'[1]

इस प्रकार प्रेम की श्रेष्ठ उपासना अपने विकास-क्रम में ही श्रेय में परिणित हो जाती है।

श्री सदाशिव चरितामृत [१९६१]—श्री विष्णुदत्त मिश्र प्रणीत यह प्रबन्धकाव्य आठ कलशों में विभक्त है। प्रथम दो कलशों में कवि ने शिवस्वरूप हैडाखान की स्तुति शिवपार्वती के प्राचीन संदर्भो के माध्यम से की है। हैडाखानी सन्त के रूप में कलियुग के जीवों के कल्याण हेतु शंकर के आविर्भाव का वर्णन है।[2] तीसरे व चौथे कलश में कुरताटोपी धारी हैडाखानीबाबा के देश भ्रमण व अनेक अलौकिक चमत्कारों का वर्णन है।[3] कवि का विश्वास है कि प्रत्येक युग-सतयुग, द्वापर, त्रेता तथा कलियुग में 'शिव' भिन्न भिन्न रूपों में विचरण करते हैं, वे ही 'सदाशिव' कलियुग में हैडाखान के रूप में अवतरित हुए हैं।[4] पांचवें और छठे में राम के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक का सम्पूर्ण राम चरित्र का वर्णन, वाल्मीकि रामायण तथा तुलसी में रामचरित मानस के आधार पर है। सातवें कलश में कृष्ण जन्म व उनकी बाल-लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत व अन्य कृष्णकाव्यों के आधार पर किया गया है। कवि ने ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, वायुपुराण, वराहपुराण, नारदीयपुराण, आदिपुराण व मत्स्यपुराणादि मे वर्णित कृष्ण कथा के आधार पर राधा कृष्ण का विवाह ब्रह्मा के द्वारा वेद-विधान से करवाया हैं, यथा—

'राधा कृष्ण मनोहर जोरी। बैठाई विधि करि गठ जोरी ।।
वेदी वेद विधान सजाई । मन्त्र तूत आहूति दिलवाई ।।
अग्नि प्रदक्षिण विधि सधवाई। सप्त पदी मुखसौं बुलवाई ।।
हरि हिय राधा कर परसायो। प्रिया पीठ प्रभु हाथ छिवायो ।।
अलि नादित पंकज जयमाला। अरपी प्रभु हिय परम रसाला ।।
पुनि जयमाला कृष्ण पहिराई। अग्नि प्रनाम कियो सुखदाई ।।'[5]

---

१. श्री पुत्तूलाल शुक्ल 'चन्द्राकार' : अनंग, आमुख पृ० १४८।
२. श्री विष्णुदत्त मिश्र: श्री सदाशिव चरितामृत, पृ० ५१।
३. वही, पृ० ७७–९१।
४. वही, पृ० १४७।
५. वही, पृ० ३४७।

की है।[1] कवि ने एकलव्य को मानवता का मूक प्रतीक माना है।[2] आधुनिक युग की जागृतिमूलक भावनाओं से प्रेरित हो, तत्कालीन दलित एवं उपेक्षित पात्र एकलव्य की गुरुभक्ति एवं पुरुषार्थ के सम्मुख कवि नतमस्तक है। यही इस काव्य का प्रतिपाद्य विषय है। कथावस्तु की दृष्टि से उक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त इस काव्य में कोई अन्य प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता।

कौन्तेय-कथा [१९६३]—इसकी कथावस्तु महाभारत और 'किरातार्जुनीय' काव्य पर आधारित है। कवि ने कथावस्तु में यथास्थल मौलिक परिवर्तन किए हैं। कृति के प्रथम सर्ग में हिमालय को शिव संस्कृति का मूल स्रोत मानकर उस पर उत्पन्न मनुष्य सृष्टि का वर्णन किया गया है। यह कवि का नवीन दृष्टिकोण है।

महाभारत में पाँचों पाण्डव एक साथ बैठकर युद्ध, दया, क्षमा आदि विषयों पर वार्तालाप करते हैं। भीम-द्रौपदी पुरुषार्थ के समर्थक हैं तथा युधिष्ठिर क्षमा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु प्रस्तुत कृति में यह विवेचना धर्मराज की अनुपस्थिति में होती है। वार्तालाप के मध्य धर्मराज व्यास जी का सन्देश लाते हैं।[3] महाभारत[4] में इन्द्र तपस्वी के वेष में मार्ग में अर्जुन को मिलते हैं एवं वरदान देने को कहते हैं, परन्तु अर्जुन की इच्छा के अनुसार शिव के दर्शन के लिए आदेश दे देते हैं। 'कौन्तेयकथा' में तपस्या के उपरान्त इन्द्र के दर्शन होते हैं।[5] महाभारत[6] की अपेक्षा 'कौन्तेयकथा' में कवि ने इन्द्र और अर्जुन की वार्तालाप का विस्तार से वर्णन किया है। 'महाभारत' का अर्जुन मिट्टी की प्रतिमा की पुष्पमाला किरात के गले में देखकर शिव को पहचानते हैं,[7] किन्तु 'कौन्तेय-कथा' में उनकी शक्ति देखकर ही किरात के शिव होने का भ्रम होता है, यथा—

'क्या स्वयं रुद्र हो आये बल के समुद्र हो आये
इतना विक्रम किसमें हो यह अथक शक्ति के आकर?'[8]

---

१. श्री विनोदचन्द्र पान्डेय : गुरु दक्षिणा, पृ० २५।
२. वही, भूमिका, पृ० १।
३. उदयशंकर भट्ट: कौन्तेय-कथा, पृ० ३०।
४. महाभारत, वन० अध्याय ३२-३५।
५. कौन्तेय-कथा, पृ० ३५-४०।
६. महाभारत, वन० अध्याय, ३७।४६।
७. वही, अध्याय ३९।६७।६८।
८. कौन्तेय कथा, पृ० ७०।

भावना की पूर्ति के साथ व्यक्ति की चेतना में स्वाभाविक आभा आती है। अर्जुन तप की पूर्ति के साथ चारों ओर प्रकाश देखता है और युद्ध के उपरान्त अपराजेय अस्त्र प्राप्त करता है। शिव अर्जुन को अस्त्र देते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हैं—

"यह सत्य सनातन तो भी है प्रवहमान है गतिमय,
यह अस्त्र पाशुपत मेरा रक्षक होगा संकट में।
जीवन के लिए मरण का यह उत्सव तुम्हें सुखद हो,
नय, नीति, धर्म, करुणा हित, रण—आमन्त्रण अभिमत हो॥"[1]

जीवन का सात्त्विक रूप है 'धर्म', और घृणित रूप है संहार तथा 'युद्ध'। अन्याय व धर्म एवं संस्कृति के स्थायी तत्त्वों की हानि के निवारणार्थ शक्ति की आवश्यकता होती है। अतः जातीय, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक उन्नति के लिए शक्ति अपरिहार्य तत्त्व है। आज के युग में भी पाप, अन्याय और अनैतिकता के दमन के लिए भी शक्ति-संचय की आवश्यकता है। तथा जातीगत विद्वेष और ऊँच-नीच की भावना को त्यागने की आवश्यकता है। कौन्तेय-कथा' की कथावस्तु इन्हीं विचार-बिन्दुओं को लेकर चली है। प्राचीन पौराणिक कथानक को समसामयिक युग की पृष्ठभूमि में देखते हुए कवि ने अनेक नवीन उद्‌भावनाएँ की हैं।

कवि ने प्राचीनकाल में अनेक संस्कृतियों की पृथक् स्थिति की कल्पना की है। उसका विचार है कि इन संस्कृतियों में धीरे-धीरे समन्वय हुआ और शिव-संस्कृति की प्रधानता रही। जिसने अन्य जातियों में भेदभाव समाप्त कर प्रेम-भावना का प्रसार किया। कवि की दृष्टि में इन्द्र शक्ति का प्रतीक है और शिव सिद्धि का, अर्जुन तप में साधना करते हैं, साधना से सिद्धि प्राप्त होती है और कार्य सफल होता है।

संशय की एक रात [१९६२]—इस कृति में राम एक विवेकशील और प्रश्नाकुल राजकुमार के रूप में प्रस्तुत होते हैं। उनके हृदय में अपहृता सीता को प्राप्त करने तथा बन्धुत्व, मानव एकता तथा धर्म-रक्षा के लिए युद्ध करने के विषय में संशय उत्पन्न होता है। प्रथम सर्ग में राम के भावनात्मक परिताप का जो सहज, किन्तु दृढ़ उत्तर लक्ष्मण ने दिया है, वह पौराणिक परम्परा का द्योतक है—

---

१. देखिये—कौन्तेय कथा पृ० ७७।

"आज्ञा करें राम
देखें फिर पौरुष इस बन्धु का
दूसरी बार होगा
सागर का मन्थन अब
यदि यह बाधा है सिन्धु
अगस्त्य के आचमन सा
सोखेंगे
महाकाल देखें अब,
साक्षी रहे इतिहास !
लंका यदि ध्रुव पर भी होती तो
भाग नहीं पाती बन्धु !
लक्ष्मण के पौरुष से ।"[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में यह कृति स्वयं संशय की भूमिका पर चल रही थी, जिसमें राम का नहीं स्वयं कवि का अपना संशय अभिव्यक्त होता है ।

प्रस्तुत कृति की कथावस्तु द्वितीय सर्ग के मध्य से अपनी प्रौढ़ स्थिति पर पहुँचती है जबकि सेतु-बन्ध का निर्माण हो चुका है और नील को सेतु पार की कोई छाया दिखाई देती है उसको देखकर न केवल नील, अपितु वानर सेना के अन्य नायक भी उस छाया को रावण की छाया समझकर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं; परन्तु वस्तुतः वह छाया रावण की नहीं, दशरथ और जटायु की है, जो इस अवसर पर दिव्यात्मा के रूप में छायावेश धारणकर उपस्थित हुई है । इन छाया रूपों को देखने के लिए स्वयं राम अकेले जाते हैं । कवि ने जटायु के वक्तव्यों से राम के संशय का उत्तर इस प्रकार दिलाया है–

"राघव !
यदि तुम देख सके होते
प्रत्येक दो क्षणों के बीच
अनन्त समय का अन्तराल बिखरा है ।
एक सम्पूर्ण सृष्टि
सुख–दुःखमयी एक सम्पूर्ण सृष्टि
अपने उदयास्त काल में

---

१. श्री नरेश मेहता : संशय की एक रात, प्रथम सर्ग, पृ० २२ ।

घटित हो जाती है
उसी क्षण में।
यदि तुम क्षणों की इस पृथकता को
देख सके होते तो
राघव !
परितापित कभी नहीं होते।"[१]

आगे चलकर दशरथ की छाया भी इसी बात को पुष्ट करती है—

"मेरे पुत्र!
संशय या शंका नहीं
कर्म ही उत्तर है।
यश जिसकी छाया है।
उस कर्म को वरो।"[२]

इसमें गीता के कर्मफल का संदेश है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्माणि॥"[३]

मनुष्य का अधिकार कर्म करने का है, इतिहास के फलाफल की चिंता का नहीं। राम इस संदेश से प्रभावित होते हैं, और इसी समय हनुमान और लक्ष्मण द्वारा भी कुछ ऐसे तर्क दिये जाते हैं जो राम के संशय को निर्णय में परिणित कर देते है कि राम का रावण से युद्ध उनका व्यक्तिगत युद्ध नहीं है, वह सार्वजनिक है—

"रावण अशोकवन की सीता
हम साधारण जन की अपहृत स्वतन्त्रता।"[४]

राम अब तक इस युद्ध को वैयक्तिक भूमिका पर लेते थे, किन्तु वानरों के सेतुबन्ध ने उनको नई चेतना दी और उन्होंने अपने संशय को दूर किया।

चतुर्थ सर्ग के अन्त में लक्ष्मण कुछ सामन्तों के साथ पार्थिक-पूजा के लिए बुलाने के हेतु आते है और इधर राम अपने भीतर भी एक सूर्यागम का अनुभव करते हैं—

---

१. श्री नरेश मेहता : संशय की एक रात, पृ० ६५।
२. वही, पृ० ६७।
३. श्री मद्भागवत गीता, २।४७।
४. श्री नरेश मेहता : संशय की एक रात, पृ० ७८।

शान्त हो ।
ओ सूर्यतपी मेरी शिला । शान्त हो ।
शान्त हो
तुम स्वयं सूर्य नहीं थीं ।[1]

इस प्रकार यह काव्य प्रायश्चित और परिताप से प्रारम्भ होकर, संशय को पार करती हुई निर्णय की स्थिति पर पहुँचती है । इसका कथानक परम्परागत रामकाव्यों से अपनी पृथक् सत्ता रखता है । कथासूत्रों के संयोजन में कवि की मौलिकता द्रष्टव्य है ।

पाषाणी [१६६५]—इस कृति की कथावस्तु वाल्मीकि रामायण तथा पुराणों पर आधृत है । यह एक खण्ड-प्रबन्ध है जो आठ स्पर्शों में विभक्त है । मौलिक उद्भावनाओं ने परम्परा को युग-संपृक्त एवं सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है । प्रथम स्पर्श में कवि ने अहल्या को ब्रह्मा की रचना बताया है और इन्द्र तथा गौतम को सहपाठी माना है—

वह अतुलित सौन्दर्य,
—जिसे ब्रह्मा ने सिरजा,
रहे देखते ठगे-ठगे से,
अपलक, अविकंपित, अविचंचल,
स्तंभित मूढ़-सदृश सपने से ।'[2]

ब्रह्मा की इस अनुपम कलाकृति को रससिद्ध संयमी गौतम प्राप्त करें या रसभोक्ता इन्द्र, यह द्वन्द्व प्रजापति के मन का द्वन्द्व है । अन्ततोगत्वा आत्मवादी गौतम के साथ अहल्या का विधिवत परिणय हो जाता है—

'सजा दिव्य आवरण इसी में दूलह गौतम,
और प्रियतमा बनी अहल्या सुख पाती थी ।
ब्रह्मा बने पुरोहित विधिवत् परिणय होकर,
नये क्षणों की नई लालस सहज घनी थी ।'[3]

चतुर्थ स्पर्श में कवि ने बताया है कि गौतम की अतिवादिता ने उनके हृदय में भी द्वन्द्व उत्पन्न किया और अहल्या के हृदय में भी । पंचम स्पर्श में

---

१. श्री नरेश मेहता : संशय की एक रात, पृ० ११२ ।
२. श्री शरणविहारी गोस्वामी : पाषाणी, प्रथम स्पर्श, पृ० २३ ।
३. वही, तृतीय स्पर्श, पृ० ५५ ।

अमरेश ने चन्द्रमा को साथ ले अहल्या से छल करके अभिसार किया है। भेद के खुलने पर सती अहल्या इन्द्र को कहती है—

'पाप कर फिर कर रहे उपदेश, है न तुममें नीच लज्जा लेश।
मैं जलूंगी ताप से अविराम, किंतु तुम भी बच सकोगे काम ॥'[१]

अहल्या के चरणों में गिरकर सुरराज ने पूर्वकृत उपकार के प्रत्युपकार की कामना की है—

'और बोला दीन नत अमरेश,
एक मेरा दान तुम पर शेष।
देवि मैंने थे बचाये प्राण,
मांगता हूं आज वह प्रतिदान।'
हो गई हत बुद्धि बाला शान्त,
आगये गौतम तभी थे श्रान्त।'[२]

इन्द्र भयभीत हो विलाव बनकर भागने लगा तो ऋषि ने उसे लख कर 'सहसयोनी' होने का शाप दिया और अहल्या को 'पाषाणी' होने का शाप दिया—

'आज देता ऋषि तुम्हें यह शाप,
बनो पाषाणी सहो सन्ताप।
थी अहल्या व्यथित पहले दीन,
गिरी भू पर जड़ सदृश गतिहीन।
+ + +
क्रुद्ध बोले इन्द्र से 'ओ पाप।
काम पीड़ित, वासना—उत्ताप।
हो सहसयोनी जुगुप्सायुक्त,
रह सदा तू वासना अविमुक्त।'[३]

इस प्रकार कवि ने परम्परागत कथावस्तु को अपना कर भी षष्ठ स्पर्श में पाषाणी के रूप में अहल्या को 'शिला' न मानकर उसके हृदय का जड़वत् होना माना है। सप्तम स्पर्श में विश्वामित्र अहल्या को पहले से ही राम आगमन के लिए विश्वस्त करते हैं और उस निराश्रिता को राम के गुण-श्रवण-मात्र से

---

१. श्री शरणविहारी गोस्वामी : पाषाणी, पंचम स्पर्श, पृ० ८१।
२. वही, पंचम स्पर्श, पृ० ८२।
३. वही, पृ० ८२–८३।

विश्वामित्र-कथित गुणों पर सहज ही विश्वास हो जाता है। अष्टम स्पर्श में राम द्वारा अहल्या का उद्धार एक मनोवैज्ञानिक उपचार है। राम ने गौतम ऋषि, ब्रह्मा तथा इन्द्र आदि का भी शास्त्रसम्मत व वैज्ञानिक उपचार किया है।कवि ने यथा सम्भव परम्परागत कथानक के अलौकिक एवं अतिप्राकृत तत्त्वों से 'पाषाणी' की कथावस्तु को बचाने का प्रयास किया है।

कवि ने प्रस्तुत कृति में सम्पूर्ण कथावस्तु को मनोवैज्ञानिक धरातल पर तोलने का प्रायस किया है। पाषाणी की कथावस्तु का विकास आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य-दृष्टियों के बीच हुआ है।

कूवरी [१९६५]—इसकी कथा श्रीमद्भागवत से संबद्ध है, किन्तु इसमें कवि ने नूतन कल्पनाओं द्वारा अनेक परिवर्तन किये हैं। कूब्जा का पूरा प्रसंग कल्पना के आधार पर खड़ा किया गया है। कूब्जा को गुरु गर्ग की शिष्या मानकर कवि ने 'गर्ग संहिता'[1] के अनुसार कूवरी को पूर्व जन्म की शूर्पणखा मानने का संकेत दिया है—

वन पंचवटी वट के तट राजत, पर्ण कुटी में लखे सुखदाई।
तिन्हें मानलियो पतिता दिन सों, भरजाद के बंध अँधे रघुराई॥
मनुहार करी, पचि हार गई, भरि कें भुज अंक न मेटन पाई।
अभिलास सोई भरपावन कारन, जाई ये राम भये जो कन्हाई॥
अरपी जब देह, निहार सनेह, करी जो कृपा तो कुरूपा करी।
नकटी लखि कें नकटी दुनियां, नहीं काम-घटा की पटा पै परी॥
कर टेढ़, दयो धर पीठ पै भार, जो जन्मी दुवारा भई ये नरी।
नहि ताकि सके कोउ ता तनकों, तेहि कारन ताहि करी कुबरी॥[2]

मंगलाचरण से कथावस्तु का प्रारम्भ हुआ है। कूवरी पर अनेक कवियों ने गोपियों द्वारा अनेक भाँति के उपालम्भों की बोछार करायी है, किन्तु उसके मनोभावों को किसी ने भी सहृदयता से नहीं देखा है। कूबरीकार की सहृदयता ने उसे स्वन्तत्र काव्य की रचना के लिए प्रेरित किया है।
संदेश 'सर्ग में ऊधो जब ब्रज को जाने लगते हैं तब कूबरी भी गोपियों के उपालम्भों का उत्तर देती हुई कहती है—

'ठग-विद्या को गुरु। सिखाये सब झमेला।
गुरु रहि-गये गुरु, ह्वे गये सक्कर चेला॥

---

१. रामनारायण अग्रवाल : कूबरी, अपनी बात, पृ० ३।
२. वही, पूर्वकथा, छं० १–२।

वर्द्धमान [१९५१]—इस महाकाव्य की कथावस्तु १७ सर्गों में विभक्त है। इसमें जैन धर्म के उन्नायक परम गौरवशाली महावीर (वर्द्धमान) का समस्त जीवनवृत्त एक महाकाव्य के रूप में वर्णित किया गया है। महाराज सिद्धार्थ और उनकी पत्नी त्रिशला के दाम्पत्य जीवन, त्रिशला के गर्भ से महावीर (वर्द्धमान) की उत्पत्ति, उनके बाल्यकाल, गृहपरित्याग, तपश्चार्या, ज्ञान-प्राप्ति और धर्मोपदेश आदि प्रसंगों का सविस्तार वर्णन ही प्रस्तुत प्रबन्ध की कथावस्तु का प्रतिपाद्य विषय है।

श्री अनूप शर्मा ने जैन धर्म के दो सम्प्रदायों (दिगम्बर और श्वेताम्बर) में जो भिन्न-भिन्न मान्यताएँ वर्द्धमान की जीवनी के विषय में प्रचलित हैं, उनमें भी सामन्जस्य बैठाने का प्रयास किया है। वर्द्धमान की माता, गर्भावतरण, कुटुम्ब, विवाह, दीक्षा, निग्रन्थ उपदेश, रात्रिगमन आदि विभिन्न प्रसंगों पर दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नाय में गहरा मतभेद है। कवि ने अपने इस काव्य में दोनों की मान्यताओं में समन्वय उपस्थित करने का प्रयास किया है। विवाह के प्रसंग में वर्द्धमान के बड़े भाई ने जब सदेश भिजवाया[1] तो वर्द्धमान का यह उत्तर दोनों सम्प्रदायों को तुष्ट करने वाला प्रतीत होता है—

> 'कहा किसी ज्योतिष–विज्ञ ने कभी,
> विवाह होगा मम तीस वर्ष में।
> तथा तब मिलेगी मुझको वधू कि जो,
> सु भाग्य से ही मिलती मनुष्य को।"[2]

कवि ने इस प्रकार भगवान वर्द्धमान के विवाह का आध्यात्मिक रूप दिया है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर आम्नाय की मान्यताओं में सामन्जस्य बैठाया है। मान्यताओं के मतभेद को दूर करने के लिए 'वर्द्धमान' की कथा-वस्तु में किया गया यह प्रयोग सर्वथा सराहनीय है। यही प्रस्तुत प्रबन्ध की कथावस्तु की प्रमुख विशेषता है। कवि ने कुछ एक ऐसे प्रसंगों की भी सृष्टि की है जो जैन आम्नाओं से मेल नहीं खाती हैं—जैसे अवतारवाद और परा-श्रेयता[3] जैन आर्यकाओं की वेशभूषा[4] आदि इन प्रसंगों को ध्यान में रखते

१. श्री अनूपशर्मा : वर्द्धमान, सर्ग १२, पृ० ३४६, छ० ६।
२. वही, पृ० ३४९, छं० १८।
३. वही, पृ० २६६–६७, छंद ४६–४९।
४. वही, पृ० ९१, छन्द ७२।

हुए ही शायद लक्ष्मीचन्द जैन को ग्रन्थ के ग्रामुख में यह कहना पड़ा है कि "वर्द्धमान के पाठक यदि ध्यान से ग्रन्थ का ग्रध्ययन करेंगे तो पायेंगे कि कवि ने दिगम्बर ग्रौर श्वेताम्बर ग्राम्नाग्र में ही नहीं, जैनधर्म ग्रौर ब्राह्मण-धर्म में भी सामन्जस्य बैठाने का प्रयत्न किया है। कवि स्वयं ब्राह्मण हैं। उसने ग्रपनी ब्राह्मणत्व की मान्यताग्रों को भी इस काव्य में लाने का प्रयत्न किया है।[1] वर्द्धमान काव्य की कथावस्तु प्रमुखतः भक्ति ग्रौर वैराग्य की पृष्ठभूमि पर ग्राधारित है। ग्रतः काव्य में नायिका का ग्रभाव है, किन्तु कवि ने वर्द्धमान की माता रानी त्रिशला के नख-शिख ग्रौर रति-क्रीड़ा का वर्णन किया है जो ग्रपनी प्राचीन परम्परा का होता हुग्रा भी नैतिक दृष्टि से प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार कथावस्तु के चयन ग्रौर संयोजन में परंपराग्रों का पालन करते हुए कवि ने ग्रनेक प्रयोगों की सृष्टि की है।

अतमृ पुत्र [१९५९]—सियारामशरण गुप्त ने ग्रपने इस प्रबन्धकाव्य में उदार दृष्टि से भगवान यीशु के त्यागमय जीवन के ग्रन्तिम दिनों की करुण झाँकी प्रस्तुत की है। सम्पूर्ण कथानक दो खंडों में विभक्त है। दो विभिन्न पात्रों द्वारा ईसा मसीह के प्रति श्रद्धांजलियाँ ग्रर्पित की जाती है। समारा प्रांत की भूमि ग्रत्यंत ग्रपवित्र समझी जाती थी। ईसा मसीह ने वहाँ जाकर उसे पवित्र कर दिया। इस कृति के प्रथम खंड में ईसा के व्यक्तित्व से प्रभावित सफरी की मनोदशाग्रों का चित्रण है। दूसरे खंड में सायमान नामक पात्र यीशु के क्रूश को ढोकर ले जाते समय रास्ते भर ईसा के विषय में सोचता रहता है। कथानक के ग्रन्त में क्रूसारोहण की मार्मिक झाँकी हैं।

ग्रमृतपुत्र की कथावस्तु का ग्राधार ईसा-मसीह का जीवन चरित है। ईसा एक ऐतिहासिक पात्र है। कवि ने उनके जीवन से संबंधित ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत काव्य का विषय बनाया है। हिन्दी प्रबंधकाव्यों में ईसा के जीवन पर स्वतंत्र रूप से लिखा गया यह पहला प्रबंधकाव्य है। इससे पूर्व इसकी कोई परंपरा हिन्दी प्रबंधकाव्यों में दिखाई नहीं देती।

(ग) ऐतिहासिक कथावस्तु वाले प्रबन्धकाव्य

कथावस्तु के ग्राधार के सम्बन्ध में उसके तीन भेद किए गए हैं[2]— ऐतिहासिक, उत्पाद्य ग्रौर मिश्रित। ऐतिहासिक कथावस्तु का चुनाव करने पर

---

१. श्री अनूपशर्मा : वर्द्धमान, आमुख, पृ० १७।

२. प्रख्यातोत्पाद्य मिश्रत्व भेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कवि कल्पितम्॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादि भेदतः।
— दश रूपक (१।१५।१६)।

प्रबन्धकाव्यों की कथावस्तु अनुत्पाद्य कहलाती है। प्रबन्धकाव्यकार, इतिहासकार की भाँति, केवल यथार्थ का वर्णन ही नहीं करता, उसमें कवि को छूट होती है कि वह अपनी कल्पना का खुलकर उपयोग करे अर्थात इतिहास की घटनाओं में उत्पाद्य या कल्पना का यथासंभव उपयोग करे। इसी बात को ध्यान में रखकर यदि हम अरस्तु के शब्दों में यह कहें तो कोई अनुचित नहीं होगा कि "कवि को असंभव प्रतीत होने वाली घटनाओं की अपेक्षा संभव प्रतीत होने वाली असंभव घटनाओं का चित्रण करना चाहिए।"[१] यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक संभव हो कवि को इतिहास की मूल बातों में कोई हेरफेर नहीं करना चाहिए, अन्यथा कथानक अविश्वसनीय हो जावेगा।

ऐतिहासिक प्रबंधकाव्यों में कवि कल्पना का कलात्मक उपयोग करता है। इसी कारण कथानक में मौलिकता व असाधारणता उत्पन्न होती है और पाठकों एवं श्रोताओं की जिज्ञासा निरंतर उसमें बनी रहती है।

ऐतिहासिक प्रबंधकाव्यों का कथानक इतिहास से लेने पर भी इतिहास से भिन्न होता है। ऐतिहासिक प्रबंधकाव्यों में किसी एक व्यक्ति या घटना की ऐसी बातों का ही उल्लेख होता है, जिससे प्रबंध की कथावस्तु विशृंखलित न होकर समन्वित बनी रहे, किन्तु इतिहास में संयोग से ही परस्पर सम्बद्ध होने वाले एक काल के एक या अनेक व्यक्तियों और घटनाओं का, तथातथ्य वर्णन होता है। "महाभारत जैसे महान् प्रबंधों में एक काल की अनेक घटनाओं और व्यक्तियों की कथा भी होती है। ऐसे प्रबंधकाव्यों में श्रोताओं और पाठकों को मुग्ध करने के लिए किसी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर भी कहा जाता है; और अलौकिक एवं अति-प्राकृत शक्ति वाले व्यक्तियों, देवताओं और घटनाओं का वर्णन भी कर दिया जाता है।"[२] इस प्रकार की घटनाएँ जो असंभव व अविश्वसनीय प्रतीत हों, आज के पाठकों व श्रोताओं को आकृष्ट नहीं कर सकती। प्रस्तुत वर्गीकरण में हमने विवेच्य युग के उन ऐतिहासिक प्रबंधों को लिया है जिनका कथानक इतिहास पर आधारित है और कोई अलौकिक, असंभव होते हुए भी जो संभव प्रतीत हों ऐसी घटनाओं का वर्णन इन प्रबंधों के ग्राह्य है।

---

१. देखिये—टी०ए० मोक्सन : एरिस्टोटल्स पोइटिक्स–पार्ट ३, पृ० ५०।
२. वही, पृ० ४६।

विक्रमादित्य [१९४७]—'विक्रमादित्य' महाकाव्य की कथावस्तु का मूल आधार संस्कृत का विशाखदत्त कृत 'देवी चंद्रगुप्त' नाटक माना जाता है। इस प्रबंधकाव्य की कथावस्तु ४४ सर्गों में विभाजित है। 'विक्रमादित्य' प्रबंध-काव्य का कथानक प्रख्यात तथा शुद्ध ऐतिहासिक है। इस प्रबंध कृति में चंद्रगुप्त को नायक तथा ध्रुवदेवी को नायिका के रूप में चित्रित किया गया है। चंद्रगुप्त के राज्य-शासन की सुव्यवस्था, समृद्धि और विशालता को प्रमाणित करने के लिए अनेक ताम्रपत्र, शिलालेख और विदेशी विवरण साक्षी हैं।[1] कवि ने इन सभी स्रोतों की सहायता से प्रबंधकाव्य की कथावस्तु का विकास किया है।

ध्रुवदेवी नेपाल नरेश की दुहिता है और सम्राट रामगुप्त की विवाहिता पत्नी है। ध्रुवदेवी ने स्वयंवर में चंद्रगुप्त को ही वरा था, किन्तु सम्राट के दबाव के कारण नेपाल नरेश को रामगुप्त के साथ उसका विवाह करना पड़ा है। विवाहोपरान्त भी ध्रुवदेवी का मन चंद्रगुप्त में लगा रहा। ध्रुवदेवी के प्रेम-प्रस्ताव को चंद्रगुप्त ने भ्रातृजाया समझकर अस्वीकार कर दिया। फलतः चंद्रगुप्त पर देश-विद्रोही का आरोप लगाया जाता है और दण्डस्वरूप उसे देश से निर्वासित कर दिया जाता है। रामगुप्त विलासी है। वह राज्य-व्यवस्था ठीक नहीं रख पाता है। इसी समय देश पर अन्य और शक आक्रमण करते हैं। ऐसी परिस्थिति में ध्रुवदेवी चंद्रगुप्त को देश-रक्षा के लिए प्रेरित करती है और उसके सहयोग से शत्रुओं का दमन और पतनोन्मुख भारत का पुनरुत्थान करती है। इधर इस मध्य रोगाक्रान्त सम्राट रामगुप्त अपने लघुभ्राता चंद्रगुप्त को राजमुकुट के साथ-साथ ध्रुवदेवी को भी सौंपकर मृत्यु की गोद में सो जाता है—

> "स्वयंवर–चरित तुम्हारी वाम, क्षमा हो लौटाता है राम।
> भेंट यह निधि तुमको है भूप, सौंपता हूँ मनि सरस अनूप।
> महादेवी का पकड़ो हाथ, छोड़ना मत तुम इनका साथ।
> बने यह साम्राज्ञी सिर मोर, नहीं कुछ इच्छा मेरी और।
> रमा यह पा तुम बनो निहाल, मुझे वह बुला रहा है काल।"[2]

---

१. मथुरा का स्तम्भ लेख ई० सं० ३८०, उदयगिरी गुहा लेख, सांची का लेख, मेहरोली का स्तम्भ लेख, प्रभावती (चन्द्रगुप्त की कुमारी) का दानपत्र,गुप्त राजाओं की मुद्राएं तथा फाह्यान का यात्रा वर्णन प्रमुख है।

२. श्री गुरुभक्तसिंह : विक्रमादित्य, भाग २६, पृ० १५२–१५३।

इस प्रकार 'विक्रमादित्य' की कथावस्तु में जीवन का विशाल चित्रपट अंकित है। इस आधिकारिक कथा के साथ सहय कुमारी वीणा और वीरसेन सम्बन्धी कथा के निर्वाह में कवि अस्तव्यस्त-सा प्रतीत होता है। विक्रमादित्य में नाटकोचित संवादों की बहुलता, कथावस्तु के प्रवाह में शैथिल्य और चंद्रगुप्त जैसे आदर्श नायक का चित्रण अनुराधा के साथ संबंध स्थापन, जैसे प्रसंग परम्परागत प्रबन्धकाव्य की प्रकृति के अनुकूल प्रतीत नहीं होते।

देवार्चन [१९५२]—इस महाकाव्य में तुलसीदास के जीवन से संबंधित सामग्री का संकलन उनकी रचनाओं में उपलब्ध तथ्यों और जनश्रुतियों से की है। तुलसीदास के चरित्र को महाकाव्य की कथावस्तु के अनुरूप ढालने के लिए, कवि ने कतिपय नवीन घटनाओं और पात्रों की भी उद्भावना की है। 'देवार्चन' की कथावस्तु १३ सर्गों में विभक्त है।

'देवार्चन' में तुलसीदास के बचपन का नाम 'रामबचन' है और उनके पालन-पोषण करने वाले कल्पित माता-पिता का नाम 'कमला' और 'चिंतामणि' माना है। धर्ममाता 'कमला' की वात-व्याधि से मृत्यु हो जाने पर रामबचन की देखभाल चिन्तामणि के एक मित्र की पत्नी 'भारती' करती है। रामबचन और भारती गंगा की बाढ़ में बह जाते हैं। साधुओं के एक दल द्वारा मूर्च्छित रामबचन की रक्षा होती है। मातृ-पितृ विहीन रामबचन साधुओं के साथ भ्रमण करता हुआ काशी के प्रसिद्ध विद्वान् शेष सनातन के आश्रम में पहुंच जाता है। रामबचन वहाँ लगन से शिक्षा ग्रहण कर 'श्री पंडित' के नाम से प्रख्यात हो जाता है। कुछ समय बाद चिन्तामणि शास्त्रार्थ में भाग लेने के लिए काशी आते हैं, और वहाँ वे श्री पंडित (रामबचन) अपने पुत्र से मिल जाते हैं। चिन्तामणि 'श्री पंडित' को अपने साथ गाँव ले जाते हैं और उनका विवाह रत्ना से कर देते हैं। रत्ना के गर्भ से एक पुत्र 'तारक' का जन्म होता है। 'श्री पंडित' को उनके गुरु शेष सनातन के निमंत्रण पर शीतला से ग्रस्त 'तारक' को छोड़कर काशी जाना पड़ता है। पीछे से 'तारक' की मृत्यु हो जाती है। उनकी पत्नी तारक के निधन पर अपनी माँ के घर चली जाती है। 'श्री पंडित' लौट आने पर अर्द्धरात्रि में ही गंगा पारकर ससुराल पहुँच जाते हैं। पति को देखकर पुत्र शोकाकुल रत्ना विह्वल हो पति की गोद में गिर पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में 'श्री पंडित' का मन चंचल हो उठता है। पुत्र-शोकाकुल पत्नी को पति की कामुक चेष्टायें अच्छी नहीं लगती हैं। रत्ना चुभने वाले कटु शब्दों में पति की भर्त्सना करती है। 'श्री पंडित' रत्ना के व्यंग्य वचनों से आहत हो तत्क्षण संसार से विरक्त हो जाते हैं। वे राम-भक्ति

में लीन हो, काशी में शेषसनातन के आश्रम में चले जाते हैं। वहाँ शेषसनातन विद्वन्मंडली के समक्ष 'श्री पंडित' को दीक्षा देकर उनका नाम 'तुलसीदास' रख देते हैं।

'तुलसीदास' देश-भ्रमरण करते हुए 'रामचरित मानस' की रचना करते हैं। तुलससीदास की भेंट गंगातट पर अब्दुर्रहीम खानखाना से होती है और वे तुलसीदास की विरह्-विधुरापत्नी रत्ना को पत्र द्वारा सान्त्वना प्रदान करते हैं। तुलसीदास एक बार रत्ना को देखने की इच्छा से सन्यासी वेश में उसके द्वार पर पहुँच जाते हैं। रत्ना भिक्षा देने द्वार पर आती है और यकायक सन्यासी वेश में अपने पति को देखकर उसका भिक्षा-थाल उसके हाथ से छूट-कर गिर जाता है। परन्तु सन्यासी राम-नाम उच्चारण करता हुआ अन्तर्धान हो जाता है। संक्षेप में देवार्चन का यही कथानक है। इसमें कवि ने परंपरित जन-त्रुटियों का आधार लेते हुए अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना कर नये प्रयोगों को जन्म दिया है।

प्रस्तुत कृति के कथानक में 'तारक' पुत्र की कल्पना जन-श्रुति पर आधारित है पर पुत्र की मृत्यु पर शोकाकुल रत्ना का कामातुर पति को फट-कारना, तथा 'चिन्तामणि', 'कमला' और 'भारती' आदि से संबंधित कतिपय प्रसंग जन-श्रुति और इतिहास-सम्मत सिद्ध नहीं होते। प्रस्तुत प्रबंधकाव्य को कथावस्तु में कल्पना का बाहुल्य है।

तप्तगृह [१६५४]—'तप्तगृह' के वस्तु-विन्यास को भूमिका में व्यक्त कवि की धारणा के आधार पर सरलता से समझा जा सकता है—"परन्तु मैंने इस पुस्तक को इतिहास की घटनाओं से बोझिल बनाना उचित नहीं समझा और बिम्बसार की कथा के मार्मिक अंश को ही अपने प्रबंध का आधार बनाया।"[1] कवि की इस स्वीकृति से यह स्पष्ट है कि इस खंडकाव्य की कथावस्तु का आधार इतिहास है। इसमें कवि ने "बिम्बसार तथा कोणक के ख्यात् इतिवृत्त को मौलिक ढंग से कहने का प्रयास किया है। संपूर्ण काव्य एकादश सर्गों में समाहित है। सम्राट बिम्बसार गौतम बुद्ध की विचारधारा से प्रभावित हैं। आचार्य देवगुप्त, कोणक को महाराजा बिम्बसार के विरोध में उत्साहित करते हैं। राजश्री के मोह में राजकुमार कोणक अपने पिता बिम्बसार को 'तप्तगृह' में बंदी बनाकर एक नापित द्वारा उनका वध करा देता है। महाराजा बिम्बसार पुत्र के इस मृत्युदंड के व्यवहार को भी नवीन क्रान्ति

१. केदारनाथ मिश्र प्रभात : तप्तगृह, निवेदन पृ० १।

तृषित और अछूतों की सेवा भी करवाई है। कवि मीरां के जीवन को चित्रण करने में तिथि और संवतों के चक्कर में नहीं पड़ा है।"[1]

मीरां काव्य की कथावस्तु के विषय में कवि का दृष्टिकोण स्पष्ट है। "प्रथम सर्ग में साधारण बालिका मीरां को उसकी मां ने जिस गिरधर नागर की ओर इंगित किया, उसी को अन्य सर्गों में उसने स्वप्न में, मां के मरण पर वत्सल के रूप में, दादाजी के पास जिज्ञासा रूप में, प्रणय पर पति के रूप में और वैधव्य पर आश्रम के रूप में तथा जन-साधारण की आत्मा के स्वरूप में ग्रहण किया है—यही क्रम-विकास प्रस्तुत काव्य का प्रयास रहा है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति, हास-उपहास, व्यंग-विनोद को भी विस्मृत नहीं किया गया है।"[2] इन्हीं भाव विन्दुओं को मीरां की कथावस्तु में कवि ने संजोया है।

परम्परागत महाकाव्य की कथावस्तु की दृष्टि से 'मीरां' का कथानक कई स्थलों पर शिथिल हो गया है और अनेक वर्णनों के मध्य कुछ स्थलों पर कथावस्तु का वेग रुका हुआ सा प्रतीत होता है। वैविध्यपूर्ण जीवन का सांगोपांग चित्रण भी इसमें परिलक्षित नहीं होता है। परन्तु कथावस्तु की नवीन उद्भावनाओं, वर्णन-वैविध्य और मार्मिक प्रसंगों की रचना को देखते हुए कवि का यह नूतन प्रयोग प्रशंसनीय है।

तात्याटोपे [१९५७]—इसकी कथावस्तु का आधार १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता सग्राम का इतिहास है। इसमें प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के अमर सेनानी तात्याटोपे की देश-भक्ति और उसके वीरतापूर्ण कार्यो का क्रमबद्ध उल्लेख है।

रचनाकार ने अपने प्रबन्धकाव्य में देश की स्वतन्त्रता के लिए आत्म-बलिदान, जनजागरण, राष्ट्र प्रेम तथा शत्रु के विध्वंस के लिए सामूहिक सगठन की आवश्यकता पर बल दिया है। यही इसकी कथावस्तु की प्रमुख विशेषता है। कवि ने इतिहास की प्रामाणिक घटनाओं के आधार पर ही कथावस्तु का विस्तार किया है। तात्याटोपे इसका नायक है।

विष्णुप्रिया [१९५७]—विष्णुप्रिया खण्डकाव्य की कथावस्तु के आधार-ग्रन्थ शिशिर कुमार घोष कृत 'श्री अमिय निमाई चरित' और श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी कृत 'श्री चैतन्य चरितावली' है। कथा के सम्बन्ध में कवि का कहना है कि प्राप्त सामग्री तो आज तक भी मैं बहुत नहीं पढ़ पाया हूँ, परन्तु कथा

---

१. श्री परमेश्वर द्विरेफ : मीरां, प्रथम सर्ग, प्रणेता का पृष्ठ, पृ० ९।
२. वही, प्रणेता का पृष्ठ, पृ० ९।

मैंने संक्षेप में जान ली। वास्तव में मुझे महाप्रभु के विषय में कोई खोज नहीं करनी थी, इतना ही जानता था—"कि 'विष्णुप्रिया' का व्यक्तित्व तो मानों स्वयं उन्हीं ने मेरे अन्तस में आकर स्पष्ट कर दिया था।"[1] इससे स्पष्ट है कि कवि ने इस कृति में महाप्रभु श्री चैतन्य देव और उनकी पत्नी विष्णुप्रिया के जीवन से सम्बन्धित उन्हीं प्रमुख घटनाओं का संग्रह किया है, जिनसे 'विष्णु-प्रिया' के व्यक्तित्व पर विशेष प्रकाश पड़ा है।

कवि ने प्रस्तुत खण्डकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण करके किया है। संक्षेप में कथानक इस प्रकार है—नवद्वीप के मायापुर ग्राम में जगन्नाथ और शची को गौरहरि पुत्र-रूप में प्राप्त हुए। गौर के अग्रज विश्वरूप बाल्यावस्था में संन्यासी हो गये। कालान्तर में जगन्नाथ भी स्वर्गवासी हुए। माता शची ने गौर का लालन-पालन किया। गौर विद्याभ्यास करके शास्त्रार्थ करने लगे; किन्तु अपने सहपाठी रघुनाथ की श्रेष्ठ नैयायिक बनने की महत्त्वाकांक्षा को देखकर गौर ने अपने न्यायग्रन्थ को गंगा में बहा दिया। विष्णुप्रिया राजमान्य, विद्वान् कुलीन की कन्या है। वह गौर की माता शची को गंगा स्नान करते समय नित्यप्रति प्रणाम करती है। ऐसे ही अवसर पर उसकी सखी विनोदवश गौर को उसके अनुरूप वर कहती है। पूर्व-राग का उदय श्रद्धा-भाव के माध्यम से होता है। 'श्रद्धा हुई मुझको न होगी वह किसको ?'[2] वह प्रेममग्न होकर यही कह सकी—"मेरे भगवान सबके हो, मैं उन्हीं की हूँ।"[3] इस प्रकार प्रेम विवाह के रूप में वर्द्धित हुआ। विष्णुप्रिया का प्रेम प्रारम्भ से ही त्यागमय है, भोगमय नहीं। 'बीता कुछ समय विनोद भरे मोद में'[4] थोड़ा ही समय बीता कि गौर पिता का गया श्रद्ध करने चले गये, किन्तु जब वे लौटकर आये तो भक्ति रस में ओतप्रोत थे। आगे चलकर गौर ने गृह त्याग दिया। विष्णु-प्रिया पर ही सास की सेवा का भार रहा। 'विष्णुप्रिया' का सम्पूर्ण जीवन साधनामय रहा। गौर के, प्रभु मूर्ति में विलीन होने के अनन्तर भी विष्णुप्रिया ने उनकी प्रतिमा की पूजा में अपने शेष जीवन को व्यतीत किया।

वस्तुतः इस काव्य का प्रणयन विष्णुप्रिया के उपेक्षित चरित्र के पुरस्कारण के निमित्त हुआ है। इसमें परित्यक्ता पत्नी के जीवन चरित का आख्यान

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त : विष्णुप्रिया, पृ० ५।
२. वही, द्वितीय संस्करण, पृ० १६।
३. वही, पृ० १७।
४. वही, पृ० २०।

घटनाओं और पात्रों के चयन में द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से अधिक सहायता ली है। इसके प्रारम्भ में १२ सर्गों का कथानक अन्तिम आठ सर्गों के कथानक से अधिक प्रभावशाली है। बाणभट्ट के जीवन से सम्बन्धित परम्परागत कथानक में कवि ने कोई विशेष हेर-फेर नहीं किया है।

हर्ष चरित में देश-देशान्तर में घूमता हुआ बाण कई बड़े-बड़े राजकुलों में जाता है तथा अपने अध्ययन-अध्यापन से उद्भासित अनेक गुरुकुलों में रहता है। उसे बड़ी-बड़ी गोष्ठियो में बैठने का अवसर मिलता है। बाणाम्बरी में कुछ परिवर्तन मिलता है। यहाँ बाण की अपनी एक अभिनय मण्डली है जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही सम्मिलित हैं। वह घूम-घूमकर अनेक श्रेष्ठ नाटकों का अभिनय प्रस्तुत करता है। यहाँ बणाम्बरीकार, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से प्रभावित जान पड़ता है।

यहाँ बाण सीधा हर्ष से न मिलकर पहले कृष्णवर्धन से मिलता है और हर्ष द्वारा उसके अपमानित होने पर कृष्णवर्धन स्वयं उसे सान्त्वना देने आते हैं।

बाण का कुछ समय तक अपने बन्धु-बान्धवों में रहना, फिर प्रभावित सम्राट का स्वयं बाण के घर आकर उसे शरदोत्सव के लिए आमन्त्रित करना, उत्सव में अपना रत्नाहार बाण के कण्ठ में डालकर बाण को सम्मानित करना तथा फिर उसे राजभवन में लेजाना आदि प्रसंग कादम्बरी से प्रभावित दिखाई देते हैं।[1]

स्थाण्वीश्वर में रहकर पर्याप्त यश अर्जित करने के बाद बाण का अपने जन्मस्थान प्रीतिकूट को लौट जाना, मल्लिका से उसके द्वितीय पुत्र का जन्म, एक बार पुनः स्थाण्वीश्वर लौटकर बाण का अपनी अधूरी कृति को समाप्त करने का प्रयास, किन्तु बीच में ही देहावसान, श्री हर्ष का शवयात्रा में सम्मिलित होना, अन्त्येष्टि संस्कार आदि प्रसंग यत्किंचित् परिवर्तन के साथ परम्परागत कथावस्तु के अनुकूल प्रतीत होते हैं।

इस कृति में बाण का वेणी से विवाह, वेणी के नेत्रहीन होने का प्रसंग, बाण द्वारा नाटक मंडली की स्थापना, बाण की अभिनय कुशलता, [illegible] प्रसंग, बाण-रेखा-मैत्री, रेखा का संन्यास, वेणी की मृत्यु, बाण का [illegible] निवास, मल्लिकोद्धार, मल्लिका से विवाह, पुत्रोत्पत्ति, [illegible] आदि प्रसंग एकदम नवीन हैं।

---

१. 'अपरेद्यु निष्क्रम्य [illegible] ।
प्रविशस्य [illegible] : [illegible] ॥'

रत्नावली [१९६३]—इसमें गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रेयसी, जीवन की संगिनी और परित्यक्ता रत्नावली के अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। कवि ने रत्नावली और तुलसी के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का आकलन विशेषतः कल्पना और किंवदन्तियों के आधार पर किया है। इस कृति की कथावस्तु के आधार के विषय में 'कदाचित् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस रचना में प्रामाणिक या अप्रामाणिक जनश्रुति केवल प्रस्थान-विन्दु का कार्य करती है, शेष सारी कृति मनोहारी कवि-कल्पना ही है।'[1] रत्नावली और तुलसी का परिणय,[2] तुलसी के द्वारा अस्वस्थ रत्ना के हाथ से भरा घड़ा छीनकर लाना,[3] अन्य नारियों का व्यंग व रत्ना को जादूगरनी बताना,[4] रत्ना का द्वन्द्व,[5] गुरु शेष सनातन की गुरु दक्षिणा का ऋण,[6] रत्ना का पितृगृह जाना,[7] तुलसी का वहाँ भयावह रात्रि में पहुँचना,[8] और रत्ना का मानसिक व भावात्मक द्वन्द्व[9] आदि प्रसंगों की सृष्टि में इतिहास और कल्पना का मणिकांचन संयोग है।

रत्नावली की कथावस्तु के प्रतिपाद्य विषय तथा वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में स्वर्गीय आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी जी का यह मत है कि कवि ने 'नाथ' से राम को, पतिव्रत धर्म से लोकधर्म को, वैयक्तिक कर्त्तव्य से सामूहिक कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व दिया है, इस महान कर्त्तव्य के पालन में एक अबला नारी की शारीरिक और मानसिक स्थिति क्या हो जाती है, इस तथ्य को कवि ने इस रचना में बड़े कौशल से प्रस्तुत किया है।[10] यद्यपि 'रत्नावली' के चरित को हम साढे तीन सौ वर्षों से जानते आये हैं, किन्तु इस कृति से पूर्व स्वतन्त्र रूप से हिन्दी साहित्य में कोई कृति देखने में नहीं आई। इस दृष्टि से उपेक्षित

---

१. श्री हरिप्रसाद 'हरि' : रत्नावली, पृ० ३–४।
२. वही, पृ० ३६।
३. वही, पृ० ५३।
४. वही, पृ० ५४–५५।
५. वही, पृ० ६०।
६. वही, पृ० ६१–७१।
७. वही, पृ० ८५।
८. वही, पृ० ८४–८५।
९. वही, पृ० ८५–१०५।
१०. वही, पृ० ६–७।

ऐतिहासिक ऊर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि नारीपात्रों से सम्बन्धित प्रबन्धकाव्यों की परम्परा में हरिप्रसाद 'हरि' का यह प्रथम प्रयास स्तुत्य है।

(२) आधुनिक एवं अर्वाचीन कथावस्तु वाले प्रबन्धकाव्य

(अ) चरितात्मक :—

वर्तमान युग में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने वाले महापुरुषों के चरित्रांकन का प्रयास जिन प्रबन्धकाव्यों में हुआ है, उन्हें हमने चरितात्मक प्रबन्धकाव्यों की कोटि में रखा है। इस वर्ग में निम्नलिखित प्रबन्धकाव्य प्रमुख हैं—

जननायक, जगदालोक, युगस्रष्टा : प्रेमचन्द, सरदार भगतसिंह, मानवेन्द्र आदि।

कथावस्तु के अनेक मर्मस्पर्शी प्रसंगों जैसे—गांधी जी का विवाह,[1] अफ्रीका के लिए प्रस्थान,[2] सत्याग्रह,[3] कारागार जीवन,[4] कस्तूरबा की मृत्यु,[5] गांधी जी हत्या,[6] आदि के वर्णनों में कोई मौलिकता दृष्टिगत नहीं होती है। वस्तुतः कतिपय स्थलों पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें वर्णित प्रसंग 'आत्मकथा' के छन्दोबद्ध रूपान्तर मात्र हैं। मद्यपान और मांसाहार की निन्दा तथा सत्संग और ब्रह्मचर्य की महिमा एवं कामिनी के मोह पाश में बन्धे हुए मनुष्य की दुर्दशा के वर्णन में परम्परागत उपदेशात्मकता परिलक्षित होती है, यथा—

'यौवन की जंजीर डाल, नारी नचा दिया करती है।
एक मधुर मुस्कान हृदय को, बरबस खींच लिया करती है॥
तृप्ति नहीं तेरी मनुष्य! यह प्यास नहीं बुझती पी-पीकर।
अन्त पियासा ही जावेगा, चाहे जितन पी जीवन भर॥'[7]

जगदालोक [१९५२]—इसकी कथावस्तु का आधार गांधी जी 'आत्मकथा' तथा रघुवीरशरण मित्र कृति 'जननायक' प्रतीत होते हैं। कवि ने गांधी जी का जन्म, उनकी शिक्षा, इंगलैण्ड यात्रा, बैरिस्टर बन कर भारत को लौटना, दक्षिण अफ्रीका जाकर वहाँ की प्रवासी भारतीय जनता की दशा को सुधारने के लिए सत्याग्रह करना, वहाँ से लौटकर भारत में स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह एवं असहयोग आन्दोलनों का छेड़ना, कारागार में बन्दी होना, भारत विभाजन, हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक संघर्ष, शरणार्थियों की दुर्दशा, महात्मा जी का साम्प्रदायिक उपद्रवों को शान्त करने का प्रयास, उनकी हत्या तथा शोक प्रदर्शन और गांधी जी के शव का दाह संस्कार आदि का वर्णन परम्परागत गांधी साहित्य में उपलब्ध सामग्री आधार पर यत्किंचित परिवर्तन के साथ किया है।

---

१. श्री रघुवीरशरण मित्र : जननायक, बधाई, सर्ग १, पृ० ३८।
२. वही, सर्ग ६, पृ० ९१।
३. वही, सर्ग ११, पृ० १९१।
४. वही, सर्ग १५, पृ० २५२।
५. वही, सर्ग २५, पृ० ४३६।
६. वही, सर्ग ३१, पृ० ५७३।
७. वही, सर्ग २, पृ० ४७।

इस कृति में प्राचीन प्रवन्धकाव्यों की परम्परा के अनुसार काव्य का प्रारम्भ हिमालय के वर्णन के साथ शिव और पार्वती के सम्भाषण से होता है। भारत की परतन्त्रता से चिन्तित पार्वती से भगवान शंकर कहते हैं—

'लेगा जन्म भारत में, कोई दिव्यात्मा नर।
होगा फिर स्वाधीन देश यह, उसका सम्बल पाकर।।'[1]

इस प्रकार की कल्पना अन्य काव्यों में नहीं की गई है। प्रस्तुत कृति की कथा-वस्तु में शंकर-पार्वती के वार्तालाप से महापुरुषों के अवतारों की प्राचीन परम्परा के दर्शन होते हैं। आधुनिक युग की दृष्टि में इस प्रकार की कल्पना संगत प्रतीत नहीं होती।

युगस्रष्टा : प्रेमचन्द [१९५९]—इस महाकाव्य में कवि ने उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द के ज सम्बन्धित प्रमुख घटनाओं को अपने काव्य का विषय बनाया है। इसमें कुल आठ सर्ग हैं। कथावस्तु का प्रारम्भ प्रेमचन्द के पिता के देहावसान के अन्तर श्मशानभूमि के मर्म-स्पर्शी दृश्य से होता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् प्रेमचन्द के परिवार की दयनीय स्थिति, कठिन परिस्थितियों में पड़कर प्रेमचंद का विद्याभ्यास तथा साहित्य-सृजन और अकाल में ही उनका काल-कवलित हो जाना आदि प्रसंग ही प्रस्तुत रचना के आधार-स्तंभ हैं।

इसके कथानक की प्रमुख विशेषता यह है कि रचनाकार ने शोषक और शोषित के जीवन की विषमताओं, सामाजिक कुप्रथाओं, रूढ़ियों तथा ग्राम-वासियों के जीवन की विषमताओं आदि प्रसंगों का प्रगतिवादी विचारधारा के अनुकूल वर्णन किया है।

प्रेमचन्द जी की रचनाओं के आधार पर ही प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु का निर्माण हुआ है। 'सुजान भगत' और 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियों के आधार पर रचित ग्राम जीवन का यह चित्र द्रष्टव्य है—

'धीरे–धीरे दिनकर थक कर,
निज शयन–कक्ष में जाता था।
खलिहानों बीच 'सुजान भगत'
अपना अनाज बरसाता था।
गाता था पास भिखारी वह,
जो खाली चला गया घर से।

---

१. ठाकुर गोपालशरण सिंह : जगदालोक, सर्ग १, पृ० २५।

मन भर अनाज की भिक्षुक को,
बांध दी पोटली निज कर से ।
पंचायत बैठी उधर जहाँ,
'खाला' दुख-कथा सुनाती थी ।
चौधरी पंच परमेश्वर की
जो जय जयकार मनाती थी ।'[1]

इस कृति सम्पूर्ण कथावस्तु प्रेमचन्द जी के साहित्य पर ही आधारित है। प्रेमचन्द के जीवन से सम्बन्धि कुछ घटनाओं को कवि ने अन्य साहित्यकारों के आलोचनात्मक ग्रन्थ एवं जन-श्रुत्तियों के आधार पर निर्मित की हैं।

वर्तमान युग के साहित्यकारों को महाकाव्य का नायक बनाकर उनके जीवन-चरित का रूपायन वस्तुतः एक प्रयोग है। इसके पूर्व भी 'देवार्चन' और 'मीरां' जैसे प्रबन्धकाव्यों की परम्परा मिलती है, किन्तु 'तुलसी' और 'मीरां' ऐसे पात्र हैं जो साहित्यक दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भी जन मानस में पूज्य हैं, पर कथा-सम्राट् प्रेमचन्द अपनी साहित्यकार को स्वतन्त्र-रूप से महाकाव्य का विषय बनाना आज के युग की नूतन उपलब्धि है।

सरदार भगतसिंह [१९५४]—इसमें शहिद भगतसिंह की सम्पूर्ण जीवन-गाथा अंकित है। कथानायक भगतसिंह को २३ वर्ष की अवस्था में सन् १९३१ की २३ मार्च को सायंकाल ७-२३ पर फाँसी लगी थी।[2] इसी कारण कवि ने प्रस्तुत महाकाव्य की कथावस्तु को भी २३ सर्गों में विभािजित किया है। क्रमश प्रत्येग सर्ग में शहीद के जीवन की प्रमुख घटनाएँ तथा देश की सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियों का चित्रण एक-एक वर्ष के आधार पर ही किया है। प्रथम सर्ग में सितम्बर सन् १९०७ ई० से अगस्त सन् १९०८ ई० तक की घटनाओं का वर्णन है। यह क्रम इसी प्रकार आगे चलता गया है। अन्तिम सर्ग में अगस्त सन् १९३० से २३ मार्च १९३१ तक की घटनाओं का वर्णन है।'[3]

प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु में शहीद भगतसिंह के परिवार का परिचय, जन्म, बाललीला, आंग्ल शासकों के कुकृत्य, देश की दयनीय स्थिति तथा स्वतन्त्रता संग्राम के अन्य साथियों के साथ कथानायक' के साह-

---

१. श्री परमेश्वर द्विरेफ : प्रेमचन्द, सर्ग ६, पृ० ८६।
२ श्री कृष्ण सरल' : सरदार भगतसिंह : प्राक्कथन : पृ० १२।
३. वही, पृ० १२।

सिक कार्यों का सुन्दर वर्णन हुआ है। इस प्रवन्ध में राष्ट्रप्रेम और राष्ट्र भक्ति का नव-उद्‌बोधन है। जननायक, जगदालोक आदि प्रवन्धकाव्यों की भाँति प्रस्तुत प्रवन्ध में भी कथानायक के चरित्र के साथ तत्काली इतिहास की सुन्दर झाँकी हैं।

इसके कथानक की महत्त्वपूर्ण विशेषता क्रांतिकारियों के उद्देश्य और सिद्धान्तों का यथातथ्य चित्रण करना है। इसमें आये हुए सभी पात्र एवं घटनाएँ प्रमाणिक हैं। इस चरितकाव्य की कथावस्तु का संकलन कवि ने शहीद के परिवार के सदस्यों, सहपाठियों, सम्वन्धियों तथा अवशिष्ट क्रांतिकारियों व अन्य अधिकृत व्यक्तियों से व्यक्तिगत सम्वन्ध स्थापित कर किया है।'[1] प्रवन्धकार ने चरित नायक के विचारों से तादात्म्य स्थापित करने के ध्येय से उस सभी साहित्य को पढ़ने का प्रयत्न किया है जो शहीद ने स्वयं पढ़ा था। इसके अतिरिक्त संसार में जहाँ-जहाँ क्रान्तियाँ हुई हैं, उन सवका अध्ययन भी लेखकीय पृष्ठभूमि के लिए आवश्यक समझा गया है। लेखक ने उन सभी स्थलों का यथासंभव निरीक्षण किया है जो शहीद के कार्यक्षेत्र रहे थे।'[2] उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति की कथावस्तु सर्वथा प्रामाणिक है। कवि ने अपनी कल्पना का प्रयोग केवल घटनाओं की व्याख्या करने में ही किया है। शहीद के जीवन के जीवन से सम्वन्धित उन्हीं प्रमुख घटनाओं की कवि ने अपने काव्य का विपय वनाया है जिनकी प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं है।

मानवेन्द्र [१९६५]—मानवेन्द्र प्रवन्धकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। इसमें कवि ने राष्ट्रनायक नेहरू के जीवन-चरित को अपने काव्य का विपय वनाया है। कवि ने नेहरू के चमत्कारी व्यक्तित्व में नारायण को देखने का प्रयास किया है, जैसा कि इन शब्दों से व्यक्त होता है—

> 'कभी कभी ही इस धरती पर–होता जन्म अनोखा।
> कभी कभी होता नर तन में-नारायण का धोखा॥'[3]

यहाँ पर कवि पर परम्परागत अवतारवाद की झीनी-सी छाया नजर आती है। मानवेन्द्र की कथावस्तु में प्राचीन लोक प्रचलित परम्पराओं के निर्वाह हेतु जन्मोत्सव, पुत्र की माता का कुआ पूजना,[4] विवाह के समय

---

१. श्री कृष्ण 'सरल' : सरदार भगतसिंह : प्राक्कथन : पृ० ११।
२. वही, पृ० १२।
३. श्री रघुवीरशरण मित्र : मानवेन्द्र, पृ० २५।
४. वही, पृ० २६।

नेग का घोड़ी पर आना, बना-बनी गाना,[1] समधी के घर गालियों के गाने आदि का वर्णन किया है, यथा—

'कैसे तेरे चाचा ताऊ।
मानस हैं ये या हैं हाऊ।
मोती बड़ा वकील हरामी।
घूमता है घर घर में नामी।।'[2]

ऐसे प्रसंगों का वर्णन कवि ने महाकाव्योचित कथावस्तु के परम्परागत लक्षणों को निभाने के लिए ही किया जान पड़ता है। जीवन के चित्रपट को अंकित करने में, हमारी दृष्टि में, कवि नये प्रयोग किये हैं क्योंकि अन्य प्रबन्ध-काव्यों में, कुआ पूजने व बना-बनी गाने के प्रसंग नहीं मिलते हैं। हाँ केशव-रामचन्द्रिका में गालियों का गाने का प्रयोग अवश्य हुआ है। ऐसा लगता है जाने व अनजाने में कवि केशव की इस परम्परा को आगे बढ़ा रहा है।

कथावस्तु में नेहरूजी के जन्म से लेकर मृत्यु तक के विशाल जीवन के अंकन के साथ-साथ कवि ने भारतीय स्वतन्त्रता का संक्षेप में पूर्ण इतिहास दे दिया है। यह बृहत् प्रबन्धकाव्य चार खण्डों और चालीस सर्गों में विभक्त है। प्रत्येक सर्ग के शीर्षक का नाम काव्य की वस्तुगत सामग्री के आधार पर रखा गया है।

प्रतिपदा [१९६८]—मेवाड़ के इतिहास से उपलब्ध 'प्रतिपदा' खण्ड-काव्य का कथानक सालुम्बरावंश साहीदास के दक्षिण कर वीर दुर्जयसिंह के जीवन चरित्र को उभारता हुआ मध्यकालीन इतिहास के कुछेक पक्षों के चित्रण एवं तत्कालीन परिस्थितियों, प्रथाओं और वातावरण को प्रस्तुत करता है। 'आखेट-प्रथा' मेवाड़ी वीरों की परम्परा[3] को सूचित करती है। प्रस्तुत प्रबन्ध की कथावस्तु में प्रतिपदा के एक दिन के एक आखेट का वर्णन है। आखेटकों में चारण लोग, विश्राम-काल में अपनी वाणी से वीरों के मन में उल्लास और उत्साह भरते हैं इस घटना के साथ कई पूर्वा-परवर्ती घटनाएँ भी जुड़ी हुई हैं।

---

१. श्री रघुवीरशरण मित्र : मानवेन्द्र, पृ० ९१–९२।
२. वही, पृ० ९३।
३. ये वीर फागुन मास की प्रथम प्रतिपदा को अवश्य (आखेट के लिए) जाते थे भावी अभ्युदय के लिए उसकी सफलता को शकुना शकुन मानते थे।—(दे० प्रतिपदा, पृ० २)

(व) भावात्मक व चिन्तनात्मक कथावस्तु वाले प्रबन्धकाव्य

जिन प्रबन्धकाव्यों में कथा-संघटन व चरितात्मकता के स्थान पर भावना व चिन्तन को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है उन्हें इस वर्ग के अन्दर लिया जा सकता है। इस वर्ग के प्रमुख प्रबन्धकाव्य निम्नलिखित हैं—

मेघावी, ज्योतिपुरुष, कामिनी, लोकायतन आदि।

मेघावी [१९४७]—डा० रांगेय राघव ने अपने प्रथम प्रबन्धकाव्य 'मेघावी' में कुछ नवीन परम्पराओं का सूत्रपात किया है। 'मेघावी' का कथानक १४ सर्गों में विभक्त है। कवि ने प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में सर्ग के आख्यान को सूत्र रूप में गद्य में कह कर एक अभिनव प्रयोग किया है। 'मेघावी' काव्य का नायक तो नहीं है किन्तु कवि ने काव्य का मानवीकृत रूप में (मानव-मेधा) एक महत्त्वपूर्ण और एकाकी पात्र अवश्य है, जिसके माध्यम से कवि ने अनेकरूपता की जगह एकरूपता लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। 'मेघावी' को ही केन्द्र बिन्दु मानकर काव्य में बिखरे हुए चिन्तन-व्यापार को संजोने का प्रयत्न किया गया है। इसके विविध सर्गों में स्थान-स्थान पर अनेक विराट् तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन भी है। ग्रह-नक्षत्र, पंचभूत, सृष्टि के उपादान, गतिमयता आदि प्रसंग विश्लेषण के माध्यम बने हैं। काव्य के प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध 'मेधा' से है और इस विषय में स्वयं कवि भी अनेक समस्यायें और समाधान की खोज में गम्भीर हो गया है। 'मेघावी' के माध्यम से कवि के अपने विचार, अनुभव और सिद्धान्त प्रस्फुटित हुए हैं। इसमें सर्वत्र चिन्तन का प्राधान्य है।

इसकी कथावस्तु स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कही जा सकती, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो विचारों की उधेड़बुन में, एक झीने आवरण में, एक क्षीण-सा कथासूत्र परिलक्षित होता है। कवि सारे भूगोल और खगोल तत्त्वों के भीतर गति या परिवर्तन को सृष्टि का मूल सत्य मानता है और इस सत्य का आधार सम्पूर्ण सृष्टि के महानृत्य के बाद पृथ्वी पर भूत का स्पन्दन तथा उस पर अनेक रूपात्मक सृष्टि का उद्भव और विकास, मानव ज्ञान का विस्तार, सभ्यता, दर्शन, संस्कृति, राजनीति, धर्म आदि की दृष्टि से मानव जातियों के उत्थान-पतन, सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का घोर विरोध, पूँजीवाद पर आधारित सभ्यता के प्रति अरुचि, मार्क्सवाद के प्रति आस्था, साम्यवाद में विश्व कुटुम्बकम् की भावनाओं के प्रसार को स्वर्णिम स्वप्न मानता है। ये सभी कथासूत्र 'मेघावी' में भानुमति के कुनबे के सदृश् प्रतीत होते हैं।

दर्शन के उपरान्त ही दोनों में प्रेम हो जाता है। कुछ माह व्यतीत हो जाने के बाद पथिक कामिनी को छोड़कर चला जाता है। वियोग की घड़ियों में कामिनी अपनी विरहानुभूति को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करती है। पथिक भी विरहानुकूल है, किन्तु इस वियोग का कारण वह स्वयं है। पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त पथिक पुनः लौट आता है। प्रस्तुत कृति के संयोग और वियोग के चित्रों में पर्याप्त मांसलता दिखाई देती है।

लोकायतन [१९६४]—श्री सुमित्रानंदन पंत का यह महाकाव्य पहले के हर प्रबंधकाव्य से अलग है। प्रस्तुत ग्रन्थ में न तो द्विवेदी युगीन महाकाव्यों के समान अतीत का गौरव गान है, न शुद्ध अथवा नारी का उद्धार है और न परवर्ती प्रबंधकाव्यों की भाँति किसी एक सार्वभौम समस्या के विरोधी पहलुओं की टक्कर में संशय और द्वन्द्व-ग्रस्त चेतना का चित्रण है। इसके कवि का लक्ष्य तो 'मूर्त विराट' पर केन्द्रित है। घटनाएँ और पात्र उसी विराट के एक और अंश हैं। यह एक चिन्तन प्रधान प्रबंध है जिसमें महात्मा गांधी के अतिरिक्त वंशी कवि, माधोगुरु, शंकर, श्री, हरि, कामना, गोपिका, शोभा, सीरी आदि सभी पात्र कल्पित हैं। कवि ने इसमें विशाल भारत देश को सुन्दरपुर के प्रतीक द्वारा प्रस्तुत किया है तथा सीता को भू-चेतना मानकर कृषि युग की स्थापना, विविध पात्रों के माध्यम से सैद्धान्तिक दार्शनिक निरूपण आदि तत्त्वों के बीच देवर, भाभी, जीजी, पति-पत्नी इत्यादि लौकिक संबंधों को भी, अरविंद दर्शन के विभिन्न चेतना स्वरों के साथ निरूपित करने का प्रयास किया है। इस कारण इन सब तत्त्वों के समावेश से मूर्त के अमूर्तीकरण की प्रक्रिया शिथिल अस्वाभाविक, जटिल और अनावश्यक रूप से लंबी हो गई है।

'लोकायतन' की कथावस्तु का निरूपण आधिकारिक प्रासंगिक, अवांतर कथाओं और घटनाओं के शीर्षकों ने नहीं कर सकते और न उसके प्रारंभ, मध्य, अवसान अथवा निगति, फलागम इत्यादि का निर्देश इसमें किया जा सकता है, क्योंकि लोकायतन की रचना करते समय यह निर्माण योजना कवि के सम्मुख नहीं रही है। ऐतिहासिक कथासूत्र इतिहास की सारी घटनाओं को समेटता हुआ, अनेक द्वारों के बीच होता हुआ विश्वोन्मुखी होता है।

इसमें कवि ने मंगलाचरण, विभिन्न प्रान्तों की भेष-भूषा, विदेशों की सैर, विस्तृत नगर वर्णन और प्रकृति वर्णनों में प्राचीन रूढ़ियों के निर्वाह का प्रयास किया जान पड़ता है, किन्तु इस वर्णन-बाहुल्य के कारण कवि ने यथास्थान प्रतीकात्मक रूप से सीता को भू-चेतना मानकर कृषि-युग के वैभव का गान किया है और सुन्दरपुर को भारत देश मानकर विविध पात्रों (वंशीकवि

हरि, शंकर, श्री, सीरी, शोभा व माधोगुरु आदि) के माध्यम से, अपने विचारों का सैद्धान्तिक और दार्शनिक विवेचन किया है। लोकायतन एक विचार-प्रधान काव्य है। 'लोकायतन' का निर्माण साधना की उस मंजिल पर हुआ है जहाँ भविष्यदर्शी चिन्तक को अपने स्वप्न धरती पर उतरते दिखाई देते हैं। इस प्रकार लोकायतन दार्शनिक और वैचारिक सम्भावनाओं का लक्ष्य प्रधान भविष्योन्मुखी काव्य है।[1] कथावस्तु की दृष्टि से 'लोकायतन' अपने सभी पूर्व-कर्ता महाकाव्यों से अलग है। यह एक नूतन प्रयोग है। लोकायतन की कथा-वस्तु में लोकजीवन को महाकाव्य का सा चित्रण हैं। स्वयं कवि ने इसे लोक-जीवन का महाकाव्य माना है। अतः कथावस्तु की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबंधकाव्य में कवि के मानस का लोकजीवन ही अभिव्यक्त हुआ है।

वस्तुगत प्रस्तुत प्रयोगों की मीमांसा :—

प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं। उनके समाधान के लिए परंपरागत मूल्यांकन की कसौटियों में कुछ परिवर्तन आते रहते हैं। यही प्रयोग कहलाते हैं। "जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परंपरा की दुहाई देते हैं वे यह भूल जाते हैं कि परंपरा कम से कम कवि के लिए कोई ऐसी पोटली बाँधकर अलग रखी हुई चीज नहीं है, जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परंपरा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है। जब तक वह उसे ठोक बजाकर तोड़-मरोड़ कर आत्मसात् नहीं कर लेता, तब तक वह इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाय।[2] प्रत्येक युग का मेधावी कवि आँख मूँद कर हर बात को स्वीकार नहीं कर सकता। वह अपनी समसामयिक समस्याओं का निदान अपने ढंग से ढूँढा करता है। अतः हर युग का कवि प्राचीन कथा को नये वातावरण की खराद पर चढ़ाकर नये रूपों मे ढालता है। हर क्षेत्र में वह नया प्रयोग करता है। कथानक के चयन में, नवीन प्रसंगों की उद्-भावना में, कथा के विन्यास में, कथा प्रसंगों के स्थानान्तरण में, कथा के विभिन्न मोड़ों में, घटनाओं के चुनाव में तथा जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति में वह जो नये तरीके अपनाकर कथावस्तु में नवीनता लाता है; उन्हें ही कथावस्तु के प्रयोग कहे जा सकते हैं।

---

१. डा० सावित्री सिन्हा : तुला और तारे, पृ० १६५।
२. अज्ञेय : दूसरा तार सप्तक : भूमिका, पृ० ६–७।

परिचय का स्वरूप बहुत कुछ भावात्मक है तथ्यपरक या इतिवृत्तात्मक नहीं; अतः इसे परंपरागत स्वीकार नहीं किया जा सकता। सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा की योजना अधिकांश काव्यों में जाने-अनजाने हो गई है। शास्त्रानुमोदित व परम्परागत स्वरूप के निर्वाह का पालन इनमें से कुछ रचयिताओं ने अत्यन्त सचेष्ट रूप से किया है, किन्तु इन रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा और विद्रोह की भावना का सूत्रपात्र इन रचनाओं में हो गया था, ऐसा निश्चित रूप से दिखाई देता है।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में वस्तुगत रूढ़ियाँ इसलिए कम हो गई हैं कि इनके प्रति न तो अब विशेष आकर्षण रहा और न इनकी अलौकिकता पर विश्वास।[1] फिर भी विवेच्य युग के प्रबन्धकाव्यों में जिनके कथानक के उपजीव्य ग्रन्थ मुख्यतः प्राचीन साहित्य ही हैं इनमें इनकी बहुलता है। महाभारत पर आश्रित जयभारत में यह कैसे सम्भव था कि इन रूढ़ियों का उपयोग न हो। चैतन्य प्रभु व महावीर जैसे दिव्य पुरुषों के चरित्र पर आधारित विष्णुप्रिया तथा वर्द्धमान में यह कैसे सम्भव था कि उनकी अलौकिकता के चित्रण में इनका उपयोग न हो। रामकुमार वर्मा तथा दिनकर जैसे प्रबुद्ध कवियों के प्रबन्धकाव्य एकलव्य में आश्रय हेतु व्याघ्र-बलिदान[2] तथा रश्मिरथी में परशुराम द्वारा कर्ण को शाप देने में[3] इन रूढ़ियों का उपयोग किया गया है। पर विचार प्रधान प्रबन्ध होने के कारण मेघावी में इन रूढ़ियों का अवकाश नहीं रहा।

स्वातन्त्र्योत्तर काल के प्रबन्धों में दूसरा वर्ग उन रचनाओं का है जिनमें न तो शास्त्रीय लक्षणों से पूर्णतः बंधा रहने का आग्रह है और न इन निर्दिष्ट लक्षणों की सर्वथा उपेक्षा की गई है। इनके कवियों ने मध्यम मार्ग अपनाया है। पूर्व परम्परा के प्रति उनके हृदय में आस्था और नवीन के ग्रहण में उदार दृष्टि है। जैसे—

२. अंशतः नवीन प्रयोग अपनाने वाले प्रबन्धकाव्य :—

ऊर्मिला, रत्नावली, रश्मिरथी, जयभारत, एकलव्य, कैकेयी, दमयन्ती आदि।

इन काव्य रचयिताओं के हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति पूर्णआस्था परिलक्षित होती है। इन कवियों की रचनाओं में जितना नय,पन कथाशिल्प

---

१. एस. एम. दास गुप्ता, 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर', पृ० २८।

२. डा० रामकुमार वर्मा : एकलव्य–संकल्प सर्ग, पृ० १८५।

३. रामधारीसिंह 'दिनकर' : रश्मिरथी, सर्ग २. पृ० २१।

हैं। बाह्य या सक्रिय जगत् में उप-पात्रों ने उपस्थित होकर कथा की प्रगति और संघर्ष में योग बहुत कम स्थलों पर दिया है।

वर्णन रूढ़ियों की जितनी मुक्त मन से उपेक्षा 'नवादों' में हुई है उतनी अन्यों से नहीं मिलती। 'ऋतंवरा' और 'तप्तगृह' में मंगलाचरण की योजना है किन्तु आधुनिकीकरण करके, किसी आराध्य देव की जय-जयकार से काव्य का आरम्भ उन्होंने भी नहीं किया। 'तप्तगृह' में मानव की वन्दना से काव्य का आरम्भ है तो 'ऋतंवरा' में वाणी वन्दना से। वस्तु निर्देश, आशीर्वचन, निजपरिचय आदि निर्जीव रूढ़ियाँ प्रायः सभी ने त्याग दी है। रूढ़ि के पालन के लिए सर्ग के अन्त में भावी कथा का संकेत भी प्रायः नहीं मिलता है। अधिकांश प्रबन्धों के कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों की भूमिका में काव्य-वस्तु के स्रोत, स्वरूप और प्रेरणा की तर्क और प्रमाण-पुष्ट व्याख्या कर नूतन परंपरा का सूत्रपात किया है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि विवेच्य युग के अधिकांश प्रबन्धों की कथावस्तु का मूलाधार वेद, रामायण, महाभारत, पुराण और इतिहास ही हैं, किन्तु वर्तमान युग की नैतिक चेतना और आदर्श के अनुकूल उनमें यत्रतत्र परिवर्तन किए गए हैं। अनेक नवीन प्रसंगों की मौलिक उद्भावनाएँ की गई हैं। अधिकांश प्रबन्धों में कथातत्त्व को बहुत अधिक प्रमुखता देने की प्रवृत्ति नहीं दीखती। स्थूल घटनाओं का वर्णन प्रायः कम मिलता है। इतिवृत्तात्मकता का स्थान बहुत अंशों में मनोवैज्ञानिक भाव निरूपण ने ले लिया है। 'आत्मजयी', 'संशय की एक रात', 'ऋतंवरा', 'अनंग', 'ज्योति-पुरुष', 'कैकेयी', 'कनुप्रिया', 'उर्वशी', 'रत्नावली', 'भूमिजा' आदि ऐसे अनेक प्रबंधों में मानसिक वृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया, संघर्ष और उनकी व्याख्या करते हुए कथा को आगे बढ़ाया गया है। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण 'आत्मजयी', 'रावण', 'दैत्यवंश', 'अंगराज' आदि ऐसी रचनाओं में बुद्धिवाद के आधार पर शंकापूर्ण स्थलों का खण्डन कर अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवीय रूपों का बहिष्कार कर उन्हें स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया गया है। परम्परागत शास्त्रीय रूढ़ियों के पालन में भी कवियों का कोई आग्रह नहीं दिखाई देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस काल के प्रबन्धकाव्यों के कथानक प्रायः पुरानी रचनाओं से छनकर आ रहे हैं, पर उन्हें तराश कर हीरों की भाँति नया रूप प्रदान किया जाता रहा है। प्राचीन सत्य को नवीन आदर्शों के कोण से देखा गया है।[1] पुरानी धरती पर नये वैज्ञानिक तरीकों से खेती की गई है।

---

१. जे. ए. फ्राउड : शोर्ट स्टडीज आन ग्रेट सब्जेक्ट्स, पृष्ठ ३८।

चरित्र-चित्रण

४ | चरित्र-चित्रण

हिन्दी प्रबन्धकाव्यों की चरित्र-भूमि पर आदिकाल से लेकर आलोच्य-काल तक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि प्रबन्धकाव्यों की चरित्र-भूमि अपनी चरितांकन-साधना में वैविध्यपूर्ण एकता को लेकर चलती है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों के पात्रों में, जहाँ एक ओर परम्परागत चरित्र का अंकन हुआ है वहाँ दूसरी ओर युगानुकूल नव्य दृष्टि से अनुप्राणित उनकी नवीन व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की गई हैं। मानव जीवन के सात्त्विक, राजस एवं तामस की व्यंजना के साथ तदनन्तर के विवेचन में आलोच्य युग के प्रबन्धकारों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी ग्रहण किया है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रबन्धकाव्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रबन्ध-काव्य की कथा को कवि पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा ही नये प्रभाव से युक्त तथा युगानुरूप चित्रित करने में सफल होता है। प्रत्येक कवि अपने प्रबंधकाव्य के लिए प्राचीन अथवा अर्वाचीन पौराणिक अथवा ऐतिहासिक एवं प्रसिद्ध अथवा कल्पना-प्रसूत कथा को ले सकता है, किन्तु वह अपने दृष्टिकोण अप-नाने में स्वतन्त्र होता है और तदनुसार उसके पात्रों की चरित्र-रेखाओं का निर्माण होता है। इस प्रकार कवि अपने पात्रों को परम्परा की भूमिका पर प्रतिष्ठित करता हुआ भी उनके चरित्र-चित्रण को नवीन वेश-भूषा एवं वर्णों में प्रस्तुत करता है।

उल्लेख किया है। प्राचीन काव्यों में काव्य-शास्त्र के निर्देशों का यथाशक्ति पालन हुआ है, परन्तु आधुनिक प्रबन्धकाव्यों में परम्परा पालन के स्थान पर नवीनता के प्रति ही अधिक आग्रह मिलता है। आधुनिक युग में साहित्य के प्रत्यंग में जो युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ उसका प्रभाव पात्रों के चरित्रांकन पर भी पड़ा। इस प्रकार आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में नायक सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है। यह परिवर्तन वस्तुतः आधुनिक युग के सूत्रपात के साथ-साथ ही हमें दिखलाई पड़ने लगता है जो धीरे-धीरे विकास पाता हुआ आलोच्य युग तक आते-आते पूर्ण परिपुष्ट व सुपक्व आधारशिला ग्रहण कर लेता है।

चारित्रिक नवीनता की यह भूमिका युग के नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण बनी। राजनीतिक क्षेत्रों में हुई भारी उथल-पुथल से भी उसके विकास को योग मिला। मानवतावाद के उदार और क्रान्तिकारी परिवर्तित दृष्टिकोण ने जहाँ राजनीति के क्षेत्र में राजतन्त्र की जड़ें खोदकर जनतन्त्र को जन्म दिया और साम्यवादी व समाजवादी समाज-निर्माण का उद्घोष किया वहाँ साहित्य में दलितों, शोषितों, उपेक्षितों और निम्नवर्गीय पात्रों के प्रति उदार व सहानुभूतिपूर्ण सद्भावना को स्थान दिया। आलोच्य युग के प्रबन्धकाव्यों में आधुनिक युग के इस परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण परम्परागत शास्त्रीय निर्देशों का उल्लंघन करते हुए कवियों ने निम्नवर्गीय पात्रों को भी अपने प्रबन्धकाव्य में नायक का स्थान दिया है और उनके चरित्र को नवीन गौरव और उदात्तता से मंडित किया है। 'एकलव्य' में निषाद पुत्र एकलव्य को नायक का स्थान देकर कवि ने अपने इसी मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसी प्रकार आधुनिक युग में ऐसे पात्रों के चरित्रांकन में हम परिवर्तित विद्रोही स्वर के दर्शन करते हैं जो प्राचीन परम्परा के अनुसार निन्दित, गर्हित और तामस गुणों से युक्त हैं, किन्तु नवीन दृष्टिकोण ने उनके चरित्रांकन को नवीन रेखायें प्रदान कर उन्हें नवीन रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। 'रावण',[1] 'तारकासुर',[2] 'कर्ण',[3] 'हिरण्याक्ष', 'हिरण्यकशिपु'[4] आदि परम्परागत निन्दित व निरादृत पात्रों को नायक का

---

१. 'रावण महाकाव्य', 'दशानन', 'भूमिजा' आदि :
२. 'तारकवध'।
३. 'अंगराज', 'सेनापति कर्ण', 'रश्मिरथी' आदि।
४. 'दैत्यवंश'।

स्थान देकर उन्हें नवीन गौरव प्रदान किया गया है। आधुनिक युग की परिवर्तित दृष्टि के कारण आधुनिक कवियों ने सदा से उपेक्षित पात्रों का उनके अनुरूप महत्त्व प्रदान कर उन्हें गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। 'ऊर्मिला', 'विष्णुप्रिया' आदि के चरित्रांकन में इसी दृष्टि का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक कविदृष्टि ने परम्परा प्राप्त कलंकित चरित्रों की कालिमा को नई रेखायें प्रदान करते हुए उनका कालुष्य धोकर उन्हें समुज्ज्वल रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। 'कैकेयी' के चरित्र को लेकर लिखे जाने वाले प्रबन्धकाव्यों में हम कैकेयी के चरित्रांकन में इसी उदार मानवीय दृष्टि के दर्शन करते हैं।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में हमें एक ओर तो युगानुरूप नवीन दृष्टिकोण से अनुप्राणित पात्रांकन मिलता है, दूसरी ओर परम्परागत विशिष्टताओं से युक्त चरित्र भी चित्रित हुए मिलते हैं। परम्परा और प्रयोग की दृष्टि से आलोच्य युग के प्रबन्धकाव्यों में हम पात्रों के चरित्रांकन में उभय प्रकार की प्रणालियों के दर्शन करते हैं। प्रायः कवियों ने परम्परा विशिष्ट पात्रों का अंकन करते हुए उनमें नवीन विशिष्टताओं का प्रयोग किया है।

आलोच्य युग के प्रबन्धकाव्यों में परम्परा और प्रयोग के परिप्रेक्ष्य में पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विचार करने के लिए सुविधा की दृष्टि से संपूर्ण पात्रों को पिछले अध्याय के अनुसार ही वर्गों में विभक्त करते हुए उनकी चरित्रगत विशेषताओं पर आगे विचार करेंगे।

वैदिक-परम्परा के अन्तर्गत लिखे गये आलोच्य-युगीन प्रबन्धकाव्यों की कथावस्तु के प्रमुख स्रोत रामायण एवं महाभारत ये दो महाकाव्य रहे हैं।

वैदिक-परम्परा की कथावस्तु से सम्बन्धित पात्र :-

वस्तुतः रामायण और महाभारत सम्पूर्ण भारतीय काव्य-साहित्य के उपजीव्य रहे हैं। आलोच्य प्रबन्धकाव्य भी अधिकांश इन दोनों ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण कर चले हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न पुराणों से कथानक लेकर भी अनेक प्रबन्धकाव्य रचे गये हैं। प्रस्तुत परम्परा के अन्तर्गत विरचित प्रबन्धकाव्यों के पात्रों की चरित्रगत विशिष्टताओं पर हम पृथक्-पृथक् रूप से दृष्टिपात करना अधिक समीचीन समझते हैं।

एक रात', 'तुमुल', 'पाषाणी' आदि प्रमुख हैं। इनमें मुख्यतया राम, सीता, लक्ष्मण, ऊर्मिला, कैकेयी, रावण, मन्दोदरी, धन्यमालिनी, मेघनाद, सुलोचना, शूर्पणखा, कैकसी, अहल्या आदि पात्रों के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इनके परम्परागत चरित्रांकन के साथ-साथ प्रयोग का सफल निर्वाह करते हुए उन्हें नवीन रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।

राम :—

आलोच्य प्रबन्धकाव्य—'रामराज्य', 'भूमिजा', 'दशानन', 'रामकथा कल्पलता', 'संशय की एक रात', 'ऊर्मिला', 'कैकेयी' 'रावण' आदि में राम का चरित्रांकन हुआ है। इन समस्त काव्यों में राम का चरित्र 'रामायण' के राम की भाँति आदर्श और मर्यादायुक्त होते हुए भी मौलिक है। 'साकेत' की भाँति 'रामराज्य' में राम के अतिमानव रूप के चित्रण के साथ मानव रूप का भी दिग्दर्शन हुआ है :—

> "मानव भी श्री राम हैं, अतिमानव भी राम,
> उसी रूप में वे सुलभ, जिसको जिससे काम।"[1]

राम मानवतादर्श के प्रतीक है। वे शील, शक्ति और सौन्दर्य से युक्त हैं। धर्म-संस्थापन उनका कार्य है और लोक-कल्याण उनका उद्देश्य। उन्होंने आर्य सभ्यता का प्रचार और भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा की।[2] आलोच्य प्रबन्धकाव्यों के कवियों ने राम के व्यक्तित्व का मानवीय पक्ष चित्रित करने का विशेष प्रयत्न किया है। यही कारण है कि 'संशय की एक रात' के राम ने लंका पर आक्रमण करने के पहले परिषद् की इच्छा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है'—

> "अब मैं निर्णय हूँ
> सबका
> अपना नहीं"[3]

पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में राम का व्यक्तित्व कहीं भी संशयशील नहीं बनाया गया है, जबकि 'संशय की एक रात' के राम के हृदय में यह शंका उठायी गई है कि क्या बन्धुत्व, मानवीय एकता, धर्म आदि युद्ध के बिना सम्भव नहीं हैं? बिना युद्ध के शान्ति सम्भव नहीं है? यहाँ पर भगवान् राम

---

१. रामराज्य, प्रस्तावना, पृ० ११।
२. प्रमाण—कैकेयी, पृ० ५६ तथा ७७।
३. संशय की एक रात, पृ० ६६।

को उनके रामत्व से परे एक विवेकशील तथा प्रश्नानुकूल राजकुमार के रूप में चित्रित किया गया है, यथा—

मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बन्धु !
मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है
उसको ही
हां, उसको ही जगाना चाहता रहा हूँ बन्धु !
क्या यह सम्भव है ?
क्या यह नहीं है ?[1]

इतना ही नहीं राम अपने आप को समस्त परिवार के सदस्यों व अन्य आत्मीय जनों के कष्ट का कारण मानते हुए पश्चाताप प्रकट करते हैं—

"पिता की मृत्यु
विधवा जननियाँ
कौन है इनका निमित ?
पत्नी का हरण
पिता के मित्र जटायु का मरण
मेरे लिए—
उपेक्षित अंगद हुए,
देहदाही हुए हनुमान
किसके लिए ?
ऊर्मिला सी देवि
विरहणी किस प्रयोजन के लिए ?
व्यक्ति का वनवास
परिजन और पुरजन के लिए
अभिशाप क्यों बन जाए ?
व्यक्तिगत मेरी समस्याएं
क्यों ऐतिहासिक कारणों को जन्म दें ?
राम के कारण
भरत जैसा सौम्य
निर्वासित हो ?
+ + + +

---

१. संशय की एक रात, पृ० २४ ।

लक्ष्मण !
मेरी पात्रता को यों न पूजो ।
मेरा व्यक्ति
आत्म पश्चाताप है
केवल पराजय है ।"[1]

राम के परम्परागत चरित्र में इस प्रकार की मनोभूमियाँ अथवा चिन्तनपीठिकाएँ नहीं मिलती हैं । 'भूमिजा' का राम भी सीता के निर्वासन पर पश्चाताप करता है ।[2] 'ऊर्मिला' में लंका-विजय के पश्चात् विभीषण को राज देते समय राम ने जो कुछ कहा वह उनके उद्देश्य का सूचक है और एक प्राचीन भारतीय राजा के कर्त्तव्य का परिचायक है :—

"विश्व-विजय की चाह नहीं थी,
और न रक्त-पिपासा थी ।
केवल कुछ सेवा करने की,
उत्कंठित अभिलाषा थी ।
इतना था विश्वास कि हम हैं
लोकोत्तर धन के स्वामी
लोक-हिताय बांटना जिसका
धर्म हमारा निष्कामी ।"[3]

आलोच्य काल के सभी प्रबन्धकाव्यों में राम के धीर, वीर और गंभीर व्यक्तित्व का तथा उनकी लोकमंगलकारी भावना का, लोक-शिक्षक की वृत्ति आदि का अंकन परम्परानुरूप है; किन्तु 'दशानन' एवं 'रावण' प्रबन्धकाव्यों में कवियों ने राम को परम्परागत नायक के स्थान पर प्रतिनायक बनाकर एक नया प्रयोग किया है ।

सीता :—

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में जहाँ एक ओर सीता के परम्परागत नायिका रूप का चित्रण 'रामराज्य', 'भूमिजा', 'ऊर्मिला' आदि काव्यों में हुआ है, वहाँ दूसरी ओर नवयुग की चेतना से प्रेरित 'दशानन' एवं 'रावण' महाकाव्यों में उसे प्रतिनायक की पत्नी के रूप में ग्रहण किया गया है । सीता के

---

१. संशय की एक रात, पृ० २८–२९ ।
२. देखिये—भूमिजा, पृ० ८८–८९ ।
३. ऊर्मिला, पृ० ५३९ ।

चरित्र में परम्परागत भारत-लक्ष्मी की गरिमा है, सौन्दर्य की समुज्ज्वल आभा है। वह सौन्दर्यशालिनी उत्कृष्ट गुणयुक्ता, आदर्श पत्नी और वात्सल्य-मयी माता के रूप में चित्रित हुई है।[1] सीता के चरित्र का परिचय माता सुमित्रा के वन-गमन के अवसर पर कहे गये इन शब्दों में स्पष्ट झलकता है—

> "पति परायणा, पतित पावना,
> भक्ति भावना मृदु तुम हो,
> स्नेहमयी, वात्सल्यमयी, श्री—
> राम-कामना मृदु तुम हो,[2]

'भूमिजा' में कवि ने सीता को 'कृषि' का साकार रूप माना है।[3] ऊर्मिला के कवि ने सीता को सामान्य नारी की भाँति हास-परिहार करते हुए भी बताया है—

> 'मेरी विमल ऊर्मिला को तुम खूब प्यार करलो, देवर,
> कहाँ मिलेंगे चौदह वर्षों तक फिर ये मधु-मधुर अधर ?'[4]

पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य 'साकेत' एवं 'पंचवटी' में भी सीता लक्ष्मण का हास-परिहास मिलता है। अतः यहाँ कवि ने उसी परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है, कोई नवीनता इस परिहास में दृष्टिगत नहीं होती। सीता करुणामयी है और माता के समान सबको स्नेह देती है। वन-गमन के समय लक्ष्मण को विदा देती हुई ऊर्मिला के दुःख का वह अनुभव करती है। वह ऊर्मिला को सान्त्वना देती है तथा उसका सच्चे हृदय से गुणगान करती है—

> 'बहिन, तुम्हारे हृदय-सिन्धु के
> बड़वानल की ज्वालाएं—

---

१. "पर मातृत्व उमड़ता मेरा
मुख देखूं जब लक्ष्मण का।" —ऊर्मिला, पृ० २८७।

२. वही, सर्ग ३, पृ० ३२७।

३. "कृषि से मिली समाई कृषि में अब तुम कृषि को सींचो।"
—भूमिजा, पृ० १४१।

४ ऊर्मिला, सर्ग ३, पृ० २७२।

मैं जानूं हूं कितनी शोषक
हैं वे अति विकरालाएं ।'[१]

ऊर्मिला की हृदय-व्यथा को जानते हुए भी सीता लक्ष्मण को अयोध्या में रोक पाने में अपने आपको असमर्थ पाती है—

'बस चलता तो मैं न कभी यह
बुरी घड़ी आने देती,
बस चलता तो लखन लाल को
मैं न कभी जाने देती ।
\+ + + +
पर, क्या करूं नहीं समझेंगे
ये लक्ष्मण समझाये से ।'[२]

पूर्ववर्ती प्रबन्काव्यों में सीता के हृदयगत इन विचारों का इतना सुन्दर अंकन नहीं मिलता । 'रामराज्य' में सीता के मर्यादापूर्ण चरित्र का ही सर्वत्र चित्रण हुआ है । उन्हें अपने पतिव्रत एवं शील के आदर्श की रक्षा के लिए अग्नि-परीक्षा भी देनी पड़ती है—

'धधका अनल प्रचण्ड, कुशंका भस्म कराता
वानर निशिचर बोल उठे, 'जय सीता माता' ।
लक्ष्मण पैरों गिरे, हुई फिर जय, जय वाणी
प्रभु भी तब कह उठे 'धन्य सीते कल्याणी' ।'[३]

'रावण महाकाव्य' में कवि ने सीता के परम्परागत आदर्श चरित्र के अंकन के साथ-साथ उसे एक नीति परायण, दूरदर्शी नारी के रूप में भी चित्रित किया है । वह शूर्पणखा-वध के लिए तत्पर लक्ष्मण को, रूपवती अबला पर ऐसी अनीति करते देखकर रोकती है और नारी पर हाथ उठाने के शास्त्र-निषेध का हवाला देते हुए, सोये सिंह को जगाने एवम् वनवासियों पर इस कृत्य से आपत्ति बुलाने का निर्देश करती हुई कहती है—

'बोली सरुष सिया 'तुम देवर ! लियो लाज को जीती ।
रूपवती अबला पे ठाढ़े ऐसी करत अनीति ।।

---

१. ऊर्मिला, सर्ग ३, ० २७५ ।
२. वही, पृ० २७५–२७६ ।
३. रामराज्य, दशमसर्ग, ७, पृ० १०९ ।

नारिन पे इमि हाथ डारिबो लिख्यो कहूं है नाहीं ।
आपु समान महा-बल-योधा भयो कौन जग मांही ।।
बैठे-ठाले वनवासिन पे जनि आपत्ति बुलावौ ।
रावन की वह भगिनि आपु जनि सोवत सिंह जगावौ ।।
जो पे याहि मारिहौ देवर । अयस रावरौ ह्वै है ।
अवला-वध-कलंक को टीको भला कौन धौ ध्वै है ।।'[1]

इस प्रकार सीता के चरित्र में परम्परित आदर्श के साथ आलोच्यकाल के प्रबन्ध कवियों ने कतिपय नवीन रेखाएँ भी प्रस्तुत की हैं ।

लक्ष्मण :—

आलोच्यकाव्यों—'रावण', 'भूमिजा', 'दशानन', 'संशय की एक रात', 'रामराज्य', 'ऊर्मिला', 'रामकथा-कल्पलता' आदि में लक्ष्मण का चरित्र अपने परंपरित गुणों के आधार पर ही चित्रित हुआ है । 'ऊर्मिला' काव्य के नायक लक्ष्मण में एक सुदृढ़ता का परिचय मिलता है :—

'थोड़े से सहवास-काल में यह जान सकी हूं अब तक,
कि वे महायोगी, वे इन्द्रियाजित, वे गुड़ाकेश, वे अपलक ।''[2]

इसके अतिरिक्त लक्ष्मण आदर्श प्रेमी व आदर्श पति भी हैं । ऊर्मिला के प्रति उनका असाधारण प्रेम है ।[3] वन-गमन के समय लक्ष्मण प्रेम के समक्ष कर्त्तव्य को महानता को अधिक महत्व देते हुए ऊर्मिला को विश्वास दिलाते हैं कि वह निर्जन वन में भी उनके हृदय में बनी रहेगी, उसे भूल नहीं पायेंगे—

'मैं खोजूंगा तुम प्रसून को,
उन जंगल के शूलों में ।
तुम्हें पुकारूंगा पद-पद को,
प्रति ठोकर की भूलों में ।''[4]

राम-वन-गमन के कारण लक्ष्मण को कैकेयी की दूरदर्शिता का द्योतक मानते हुए ऊर्मिला की कैकेयी सम्बन्धी गलत धारणा का निवारण

---

१. रावण महाकाव्य, ११।३२-३३ ।
२. ऊर्मिला, पृ० १०४ ।
३. वही, पृ० १५१ ।
४. वही, पृ० १६१ ।

करते हैं[1] तथा मां सुमित्रा को यह विश्वास दिलाते हैं कि वन में वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी आदर्शों की रक्षा करेंगे और मां का दूध नहीं लजाऐंगे।[2] 'ऊर्मिला' में साकेत की भाँति लक्ष्मण को विनोद व हास-परिहास करते हुए भी बतलाया है।[3] राज-भक्त लक्ष्मण 'संशय की एक रात' में कर्म की चुनौती को स्वीकार करते हैं। वे राम के माथे पर चिन्ता की रेखा तक नही देखना चाहते हैं।[4] राम आज्ञा दें तो लक्ष्मण अपने पुरुषार्थ के बल पर अकेले ही सीता को ला सकते हैं। लक्ष्मण के पुरुषार्थ भरे व्यक्तित्व की एक झलक देखिये—

> आज्ञा करें राम
> देखें फिर पौरुष इस बन्धु का।
> × × × ×
> लंका यदि ध्रुव पर भी होती तो
> भाग नहीं पाती बन्धु
> लक्ष्मण के पौरुष से।[5]

आलोच्य प्रबन्धकाव्य—'भूमिजा', 'दशानन', 'रावण' आदि में लक्ष्मण के चरित्र में कोई नवीनता नहीं दिखलाई देती।

आलोच्यकाल के जिन प्रबन्धकाव्यों में लक्ष्मण का चरित्र जहाँ भी प्रसंगवश आया है, वहाँ उसे कवियों ने प्रायः पराक्रमी, त्यागी, स्वाभिमानी, आदर्श मातृभक्त व उग्र प्रकृति वाला आदि परम्परागत गुणों से युक्त ही चित्रित किया है।

---

१. ऊर्मिला, पृ० २६१–२६३।

२. मां, देखोगी : दूध तुम्हारा
नहीं लजाएगा लक्ष्मण
देकर अपने प्राण करेगा
वह आदर्शों का रक्षण, —ऊर्मिला, पृ० ३३६।

३. वही, पृ० ५६५–५६६।

४. देखिये—संशय की एक रात, पृ० २२।

५. वही, पृ० २२।

ऊर्मिला :

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने नायिका प्रधान 'ऊर्मिला' प्रबन्धकाव्य लिखकर काव्य क्षेत्र में चिर उपेक्षित[1] 'ऊर्मिला' के चरित्र की युगानुकूल झाँकी प्रस्तुत की है। 'साकेत' में ऊर्मिला के चरित्र का अनुपम विकास अवश्य हुआ है, किन्तु वहाँ पर राम–सीता–लक्ष्मण के सामने उसे वह प्रमुख पात्रत्व नहीं मिल सका है जो ऊर्मिला में मिला है। ऊर्मिला इस काव्य की नायिका है। काव्य का नामकरण 'ऊर्मिला' ही इसके नायिका प्रधान होने की सूचना देता है। 'ऊर्मिला' के बचपन का प्रसंग जैसा 'ऊर्मिला' में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। बचपन से ही ऊर्मिला चंचल और नटखट है। अपनी बहिन सीता के साथ उपवन में खेलना, कहानी सुनना–सुनाना, मन लगाकर अध्ययन करना आदि बातें उसे विशेष प्रिय हैं।[2]

ऊर्मिला का चरित्र उज्ज्वल है। वह सुन्दरी, सास-ननद व समस्त परिजनों की प्रशंसक है :—

> "कितना सुन्दर मुख, क्या लोचन, ओ कैसी मीठी बोली।
> \+ + + +
> वह लज्जा की मूर्ति, ऊर्मिला वह सौम्य सुठि की प्रतिमा,
> आत्म निवेदन की छोटी सी मूरत है वह गुण गरिमा।"[3]

उक्त पंक्तियों में ऊर्मिला के परम्परागत व्यक्तित्व का सुन्दर अंकन हुआ है। वह आदर्श पतोहू, पत्नी और वीर रमणी के साथ-साथ सौन्दर्य सम्पन्न शीलवती नायिका है। चित्रकला से उसे विशेष रुचि है।[4]

पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य 'साकेत' में ऊर्मिला और लक्ष्मण का हास-परिहास तो विस्तार से वर्णित है, किन्तु देवर शत्रुघ्न तथा ननद शान्ता के साथ जैसा हास-परिहास आलोच्यकाल के इस प्रबन्ध में दिखाया गया है वैसा अन्यत्र नहीं है, यथा—

---

१. संस्कृत साहित्य में काव्य यज्ञशाला की प्रान्तभूमि में जो दो-चार अनादृत होकर पड़ी है, उनमें ऊर्मिला का ही प्रधान स्थान है।
—रवीन्द्रनाथ : प्राचीन साहित्य, पृ० १०।

२. ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृ० ५०–६४।

३. वही, द्वितीय सर्ग, पृ० ८४–८६।

४. वही, सर्ग २।३४।

क्यों भाभी, क्या इसी रूप में उनका सतत ध्यान करती हो ?
मेरे अपराजित दादा का यों ही सदा स्मरण करती हो ?
'लल्ला ! तुम जल्पक हो । लज्जारुणावनता ऊर्मिला बोली,
पगले, चुप हो । तब जननी की यों आदेशांगुलिया डोली ।'[1]

इस प्रकार ननद शान्ता के साथ हुए वार्तालाप में ऊर्मिला की प्रत्युत्पन्नमति वाग्विदग्धता भी द्रष्टव्य है—

"शान्ते, जीजी विदेह के घर, द्वार बुहारे हैं चतुराई,
अपनी चिन्ता करो, न पूछो कि यह चतुरता कैसे पाई,
कई वेद विद् बैठे रहते उनको द्वार-देहली पर नित,
नंनदोई भी वहीं न पहुंचे होकर तुमसे कहीं उपेक्षित ।"[2]

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में ऊर्मिला जहाँ एक ओर परम्परागत चारित्रिक भूमिका पर अवतीर्ण हुई है, वहाँ दूसरी ओर सर्वाधिकार-सतर्क प्रबुद्ध नारी के रूप में भी प्रस्तुत हुई है । वह कोमल हृदय वाली अबला ही नहीं, एक विदुषी वीरबाला भी है । अपने अधिकार को प्राप्त करने में वह सचेष्ट दिखलाई पड़ती अधर्म के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए वह लक्ष्मण को प्रेरित करती हुई कहती है—

"धर्म-धारणा में, मेरे प्रिय
तुम प्रचंड-सी क्रान्ति करो,
सदा विचार, सद्भाव तर्कमय
कृति से सबकी भ्रांति हरो,"[3]

'ऊर्मिला' का यह रूप नवीन है । पूर्ववर्ती रामकाव्य परम्परा के किसी भी प्रबन्धकाव्य में ऊर्मिला के इस रूप के दर्शन नहीं होते । इतना होने पर भी वह लक्ष्मण को वन जाने से रोकती नहीं है :—

आग लगा, सुख-बाग जलाए
राग-सुहाग लुटाते-से,
मेरे प्रिय तुम विपिन पधारो
ममता-मोह छुटाते-से ।[4]

---

१. ऊर्मिला, सर्ग २।८७, पृ० १०० ।
२. वही, सर्ग २।११७, पृ० १०६ ।
३. ऊर्मिला, सर्ग ३।१४६, पृ० २४४ ।
४. वही, सर्ग ३।१३१, पृ० २३५ ।

वह विश्व उद्धार के हेतु अपने सुखों का त्याग केवल चौदह वर्षों के लिए ही नहीं चौदह युगों तक करने को तैयार हैं :—

> चौदह बरस ? नहीं प्रिय चाहो—
> यदि चौदह युग लो जाओ,
> खूब करो उद्धार विश्व का
> ज्ञान-रश्मियाँ फैलाओ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में ऊर्मिला का चरित्र परम्परा की पृष्ठभूमि में अंकित होते हुए भी अनेक दृष्टिकोण से नवीन है।

कैकेयी :

'कैकेयी' प्रबन्धकाव्य में कैकेयी के लांछित रूप को मार्जित बनाने का समुचित प्रयास दृष्टिगोचर होता है। 'रामराज्य' के कवि ने तो वन-गमन से काव्य का प्रारम्भ करके भी कैकेयी की वीर-याचना, दशरथ की विह्वलता और मृत्यु आदि प्रसंगों को छुआ तक नहीं। सम्भव है कैकेयी के लांछित चरित्र को कवि चित्रित करना ही नहीं चाहता हो, इतना ही नहीं वह राम-वन-गमन का कारण कैकेयी को न मानकर नियति को मानता है :—

> होना था सम्राट जिन्हें, वे सहसा हुए विपिन वासी
> विश्व-चक्र में सदा सर्वदा किसकी रही नियति दासी।[1]

गेन्दमणि शर्मा कृत 'कैकेयी' प्रबन्धकाव्य में तो कैकेयी के परम्परित लांछित रूप को और अधिक गहरा बना दिया गया है। दशरथ के इस कथन में कैकेयी की कठोरता व निर्दयता झलकती है—

> "हां ! यह ले तलवार और बस कर इसको सीने के पार
> देख न सकता मैं राघव को पर वन जाने को तैयार।"[2]

इस प्रबन्धकाव्य में कैकेयी के चरित्र को आंग्ल शासकों की भांति कूटनीतिपूर्ण बतलाया है। राम-वन-गमन के विरोध में जनता के विद्रोह को दबाने के लिए कैकेयी की निम्नांकित आज्ञा जहां उसकी शासन कुशलता की परिचायक है वहां उसके चरित्र पर एक लांछन भी है :—

---

1. रामराज्य, सर्ग १।११।
2. गेन्दमणि शर्मा : कैकेयी (प्रथम संस्करण) पृ० २८।

"डण्डे का प्रहार करवाना या गोली चलवा देना
एकत्रित हो कहीं भीड़ तो, तितर-वितर करवा देना।"[१]

आगे चलकर कवि ने कैकेयी के चरित्र का परिष्कार करना अवश्य चाहा है, किन्तु वह सफलतापूर्वक उसका निर्वाह नहीं कर पाया है। जनता के प्रति कैकेयी का इस प्रकार का क्रूरतापूर्ण व्यवहार पूर्ववर्ती रामकाव्य परम्परा के किसी भी काव्य में उपलब्ध नहीं है।

इस दृष्टि से यह कवि का एक नूतन प्रयोग ही कहा जा सकता है। 'ऊर्मिला' प्रबन्धकाव्य में 'कैकेयी' के परम्परागत चरित्र को ही अधिकांशतः प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इसमें शेषमणिशर्मा कृत 'कैकेयी' की भाँति उसके चरित्र को गर्हित नहीं बताया गया है। यहाँ पर राम-वन-गमन का उद्देश्य विश्व का उद्धार करना है। इसीलिए तो 'ऊर्मिला' को समझाते हुए लक्ष्मण कहते हैं कि माता कैकेयी अत्यन्त दूरदर्शिनी, राष्ट्रोद्धारक एवं गौरव-कांक्षिणी हैं।[२] यह वरदान और आज्ञा तो केवल औपचारिकता मात्र है :—

"यह वरदान और आज्ञा तो, प्रिये, औपचारिकता है,
राज भरत को, विपिन राम को, यह सब सांसारिकता है।"[३]

यह सारा खेल कैकेयी ने सोच-समझ कर रचा है :—

"कैकेयी ने सोच समझकर
रचा खेल यह सारा जब,[४]—

इन पंक्तियों में कैकेयी के परम्परित लांछित रूप का पूर्ण बहिष्कार किया गया है। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' कृत 'कैकेयी' प्रबन्धकाव्य की नायिका कैकेयी जब राम के राज्याभिषेक की सूचना पाती है तो उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता है, वह स्नेहसिक्त एवं भाव-विभोर हो कह उठती है :—

"अब होगा सम्राट पहन कर राज मुकुट सुन्दर छवि मान।
कि माता का आज विश्व में मेरे जैसा भाग्य महान्॥

* * * * *

---

१. शेषमणि शर्मा : कैकेयी (प्रथम संस्करण) पृ० ५३।
२. ऊर्मिला, सर्ग ३।१८४-१८५।
३. वही, सर्ग ३।१८७।
४. वही, सर्ग ३।१८६।

तुम्हीं सजाओ सिंह द्वार को हर्ष मुग्ध हो स्वर्ग निहार।
रानी, तुम्हीं बनो दीपावली शोभा बनो तुम्हीं शृङ्गार।।
सुत का मंगल, सुख सुत का है राम तुम्हारी जय हो।
सम्राट बनो तुम जय हो! अभिराम! तुम्हारी जय हो।।"[1]

'कैकेयी' के चरित्र की यह विशेषता 'रामचरित मानस', 'साकेत-संत', 'साकेत' आदि अन्य पर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में भी मिलती है। उनमें कैकेयी के चरित्र को लांछन मुक्त करने के लिए मंथरा व भरत के मामा का सहारा लिया गया है, किन्तु इस प्रकार एक चरित्र को बचाने में दूसरे को बदनाम करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने मनोवैज्ञानिक भूमिका पर कैकेयी के चरित्र का विकास किया है। उसके मन में स्वार्थ एवं परार्थ का द्वन्द्व चल रहा है :—

"एक ओर राज्याभिषेक के उत्सव का उल्लास महान्।
और दूसरी ओर सभ्यता संस्कृति का अन्तिम आह्वान।।
एक ओर कामना कि राजा बने लोक प्रिय राजकुमार।
और दूसरी ओर प्रश्न क्यों बने नरक मानव-संसार।।"[2]

अन्त में विजय होती है सामूहिक अचेतन मन की, आर्य संस्कृति व राष्ट्रीय प्रेम की। वह राष्ट्रीय कर्त्तव्य की भूमिका पर वैधव्य को भी स्वीकार करने की कल्पना कर लेती है।[3] वह अपने मन की कोमलता को, राम के प्रति अपने वात्सल्य को राष्ट्रहित के लिए दबा लेती है। वह दृढ़ संकल्प करती हुई कहती है—

मैं नहीं राम को बन्दी होने दूंगी।
भव की आशा को कभी न रोने दूंगी।।
हे राम, उठो कर्त्तव्य सम्भालो अपना।
पूरा करदो जग की आंखों का सपना।।[4]

---

१. केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' कैकेयी, सर्ग ४, पृ० ५६।
२. वही, पृ० ५६।
३.
वैधव्य मुझे स्वीकार राष्ट्र की जय हो,
दासत्व न अंगीकार, राष्ट्र की जय हो।
—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' कैकेयी, पृ० ५६।
४. वही, पृ० ७३।

रावण :—

पौराणिक तथा रामकाव्य परम्परा के कलंकित, तिरस्कृत एवं उपेक्षित पात्रों को ऊँचे उठाने की जो प्रवृत्ति हिन्दी साहित्यकारों ने बंगला साहित्य से प्राप्त की, उसी परम्परा का निर्वाह हिन्दी में 'रावण महाकाव्य' और 'दशानन' (खण्डकाव्य) में हुआ है। दोनों काव्यों में रावण के चरित्र चित्रण का आधार पौराणिक है, किन्तु नवीन प्रसंग-योजना की दृष्टि से कवियों ने अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है।

अदेव, असुर और राक्षस कहे जाने वाला रावण 'दशानन' व 'रावण महाकाव्य' का नायक है। इनमें रावण को महान वीर,[1] स्वाभिमानी,[2] तपस्वी,[3] अति ज्ञानी-कर्मनिष्ठ, त्यागी, पण्डित,[4] प्रणपालक,[5] कुशल धनुर्धर,[6] गम्भीरहृदय,[7] नारी के अपमान के प्रति असहिष्णु,[8] सत्यानुसारी[9] और नीतिज्ञ[10] के रूप में चित्रित किया गया है। 'ऊर्मिला' काव्य में अपने पुन का पक्का[11] रावण रावणत्व को रामत्व से श्रेष्ठ बताता हुआ कहता है—

---

१. रावण महाकाव्य, प्रथम सर्ग, पृ० ७७।

२. उसका स्वाभिमान, निश्चय
ही, यह न सह सका,
पुत्र तुल्य मान तुमसे
वह कुछ न कह सका। —दशानन, पृ० ५४।

३. रावण महाकाव्य, सर्ग ३, पृ० ६९।

४. दशानन, पृ० ३०।

५. वही, पृ० ३१।

६. दशानन, पृ० ३४।

७. वही, पृ० ३५।

८. वही, पृ० ४७।

९. वही, पृ० ५८।

१०. वही, पृ० ७०।

११. रावण, हारे जीत रहे वे,
पर बदले न भाव उनके,
सभी जानते हैं कि बड़े थे
वे पक्के अपनी धुन के। —ऊर्मिला, पृष्ठ सर्ग, पृ० ५४२।

'रावण मरता है, पर जीवित—
है मम रावणत्त्व का तत्त्व
ऐसा तत्त्व कि पद-पद पर जो
ललकारेगा श्री रामत्त्व,
लक्ष्मण, सुखी रहो, कह देना—
अपने अग्रज से कि बली—
रस्सी जल चुकी थी, पर उसकी
ऐंठन तब भी नहीं जली ।'[१]

उपर्युक्त शब्दों में रावण की गौरव गरिमा तथा स्वाभिमान ही परिलक्षित होता है ।

'भूमिजा' में रावण को सीता-भक्त रूप में प्रतिष्ठित कर उसके चरित्र को उठाने का प्रयास किया गया है ।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में रावण का चरित्र परम्परागत रूप में ही चित्रित हुआ है किन्तु कतिपय काव्यों में उसका खलनायकत्त्व सु-नायकत्त्व में बदलने का अभिनव प्रयास दिखायी देता है। जिसमें क्रान्तिकारी दृष्टिकोण एवं प्रगतिशीलता का साक्षात्कार होता है ।

मन्दोदरी :—

स्वातंत्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों ('रावण,' 'दशानन' आदि) में मन्दोदरी नायिका-रूप में चित्रित हुई है । पूर्ववर्ती काव्यों में भी मन्दोदरी को पटरानी के रूप में चित्रित किया गया है । 'रावण महाकाव्य' में मय दानव की पुत्री एवम् हेमा नामक अप्सरा की कोख से उत्पन्न अद्वितीय सुन्दरी[३] मन्दोदरी पार्वती की वन्दना कर पुत्र को गोद में खिलाने की याचना करती हुई[४] पार्वती

---

१. ऊर्मिला, पृष्ठ सर्ग, पृ० ५४५ ।

२. "जितना प्यार दशानन को था, नहीं राम को होगा ।
तेरे द्वारा भिखारी बनकर-आया, हर दुख भोगा ।"
\+ \+ \+ \+ \+ \+
किन्तु प्यार के लिए सत्य को-मैंने नहीं जलाया ।
मर गया मगर वैदेही ! तुझे न हाथ लगाया ।।
—भूमिजा, पृ० २४-२५ ।

३. रावण महाकाव्य, पृ० ६० ।

४. वही, पृ० ६१-६४ ।

से अभीष्ट वर प्राप्त कर राक्षस वंश की विभूति की वृद्धि के लिए सुरेश को जीतने वाले योद्धा पुत्र मेघनाद को प्राप्त करती है। यहाँ मन्दोदरी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता पुत्रैषणा बताई गई है। पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य-'मानस', 'साकेत' आदि में मन्दोदरी का ऐसा चित्रण नहीं मिलता है।

'दशानन' में मन्दोदरी का चरित्र ममता मयी माता[1] तथा दार्शनिक[2] के रूप में चित्रित हुआ है। वह रामदूत के कृत्य की भर्त्सना करती हुई[3] आश्चर्य चकित होती है—

'हा विडम्बना, किन्तु वहाँ
सम्मान हुआ था ।।
राम दूत के इस कुकर्म का
मान—हुआ था ।।'[4]

इतना होते हुए भी मन्दोदरी के चरित्र में एक सबसे बड़ा दोष यह दिखाई देता है कि अपने वैधव्य व्रत पर तनिक भी आँच न आने देने वाली नारी की-सी दृढ़ता के दर्शन उसमें नहीं होते। स्वार्थ-सिद्धि हेतु देश, राष्ट्र तथा जाति के गौरव को नष्ट करने वाले[5] पतिघाती विभीषण के राज्याभिषेक के उत्सव के समय मन्दोदरी का वैधव्य व्रत लड़खड़ा-सा गया है।[6] उसमें नारी

---

१. दशानन पृ० ८६–८७।
२. वही, पृ० ८४–९०।
३. निरपराध जनता के घर में
आग लगाई
रामदूत ने अपनी शक्ति
कहां दिखाई ?
+ + +
यदि यह है वीरत्व, विश्व
को, नहीं चाहिए
घृणित शक्ति का सत्य
विश्व को नहीं चाहिए ।। —दशानन पृ० ८८।
४. दशानन पृ० ८८।
५. रावण महाकाव्य, सर्ग १४ पृ० १८२–१८३।
६. लंका की रानी बनी रहो भामिनी, "यों कहि नाइनियाँ मुसकाई।
सो सुनी मन्दोदरी अनगाय, लाग्यो सुरनाथ सो मोह घटाई ।।
—वही, पृ० १०९।

सुलभ दुर्बलता इतनी व्याप्त हो गई है कि वह यह सोचती है कि कपिला म्लेच्छ के पाले पड़ गई है। उसकी लज्जा लुटने जा रही है, परन्तु मुँह के ताला पड़ने के कारण वह बोल भी नहीं सकती क्योंकि उसकी रक्षा करने वाला कोई भी दिखाई नहीं देता;[1] और रोते-रोते उसका शरीर इतना क्षीण हो गया है कि हाथ में शरासन भी ग्रहण नहीं कर सकती। परिस्थितियों को प्रतिकूल समझकर वह दूतियों की निर्लज्जतापूर्ण बातों पर, नायिनियों के द्वारा शृंगार करने पर, मालनियों के द्वारा फूलों से सजाये जाने पर और चुरहारिनों द्वारा उसे चूड़ियाँ पहिनाये जाने पर विरोध प्रकट करते हुए रोक नहीं लगाती।[2] इन सब बातों से मन्दोदरी के चरित्र की दुर्बलताएँ ही प्रकट होती हैं। मन्दोदरी की ऐसी मानसिक स्थितियों का चित्रण पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में नहीं मिलता।

मन्दोदरी में धन्यमालिनी जितना भी साहस नहीं कि वह विभीषण को उसके कुकृत्यों पर फटकार दे।[3] यद्यपि कवि ने मन्दोदरी की विवशता बता कर उसके चरित्र का परिष्कार करना अवश्य चाहा है[4] तथापि वह उसके इस दोष को दूर नहीं कर सका है। 'दशानन' में स्वयं रावण ने मन्दोदरी को अपनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।[5]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मन्दोदरी के चरित्र में अपरिपक्वता ही दिखायी देती है। उसके चरित्र का परम्परागत रूप ही कुछ हेरफेर के साथ चित्रित किया गया है।

धन्यमालिनी :—

धन्यमालिनी रावण की पत्नी और अग्निमर्दन की माता है। रावण महाकाव्य में उसका चरित्र प्रतिशोध की ज्वाला में प्रज्वलित कटुसत्य-

---

१. दशानन पृ० १८४।

२. वही, पृ० १८५–१८७।

३. वही, पृ० २०३–२०४।

४. हों गयो हाय कहा यहि को। तनि तो यहि नीच को देखो ढिठाई।
रावन से जग-एक-प्रवीर की। नारि पो मूढ़ रह्यो हथियाई॥
सिंह की भाग लह्यो ससि ने। पुरोडास सयपो कहुँ रासभ खाई।
औ विनता-सुत की बलि पै। भला काग सयपो कहुँ दीठि लगाई?
— वही, सर्ग १३, पृ० १८४।

५. वही, पृ० ५३।

"सोय गई सखियाँ सिगरी
तब राज कुमार हिये यों विचारी।
क्यों न मयंक सों भेजों संदेस,
सुलोचना के ढिग यों निरधारी ।।"[1]

पूर्ववर्ती रामकाव्य परम्परा में मेघनाद के प्रेम-विषयक चरित्र का ऐसा विकास दृष्टिगत नहीं होता है। लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध के वर्णन में मेघनाद का युद्ध कौशल परम्परागत रामकाव्यों की भाँति ही परिलक्षित होता है।[2]

सुलोचना :—

आलोच्य युग के 'रावण', 'तुमुल', 'दशानन' आदि प्रबन्धकाव्यों में सुलोचना के चरित्र की प्रसंगवश चर्चा की गई है। 'रावण' में इसकी चरित्र-सृष्टि एवं प्रासंगिक प्रेम-कथा के रूप में उपस्थित होती है।[3] अपने बंकलोचनों के कारण इसे 'सुलोचना' कहा गया है। 'दशानन' में इसके सौन्दर्य की चर्चा करते हुए उसे ब्रह्मा के हाथों की माया, कंजलोचनी, गर्वीली और रति की छाया की संज्ञा दी गई है।[4] मेघनाद की मृत्यु के पश्चात् सती होने के उल्लेख[5] से इसके पातिव्रत्य तथा अद्भुत आत्मोत्सर्ग[6] का परिचय मिलता है।

इस प्रकार आलोच्य काव्यों में सुलोचना के चरित्र का परम्परागत रूप ही अंकित हुआ है। प्रयोग की दृष्टि से सुलोचना के चरित्र में कोई नवीनता दृष्टिगत नहीं होती।

---

१. रावण महाकाव्य ७।२२।
२. वही, ३।११।१४।
३. वही, ६।३६–४६।
४. वह सुलोचना ब्रह्मा के
हाथों की माया,
अति गर्वीली, कंज लोचनी
रति की छाया।

—दशानन पृ० १७।
५. रावण, १३।२१ तथा देखिये दशानन, पृ० १८।
६. दशानन, पृ० २१।

शूर्पणखा : –

रावण की बहन शूर्पणखा का चरित्र 'रावण महाकाव्य' में नवीन रूप में परम्परा के प्रतिकूल चित्रित हुआ है;[१] किन्तु 'दशानन' में इसका चरित्र परम्परानुसार उन्मादिनी,[२] दुःशीला, कामुक व रूपवती[३] के रूप में ही चित्रित हुआ। 'रावण महाकाव्य' में वह कुशल राजनीतिज्ञ[४] तथा जटिल प्रश्नों का समाधान करने वाली,[५] राजधानी की अध्यक्षा,[६] प्रभावशालिनी,[७] निर्भीक,[८] तथा स्वाभिमानिनी[९] नारी का चरित्र लेकर प्रकट हुई है। इस काव्य में कवि ने उसकी कामुकता की उपेक्षा कर उसके चरित्र को राजनीतिक दृष्टि से परखा है। लक्ष्मण द्वारा अंग-भंग कर दिए जाने पर 'खर' के सामने जाकर उसका रोना-बिलखना[१०] उसके चरित्र में नारी सुलभ दुर्बलता को व्यक्त करता है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में 'रावण महाकाव्य' को छोड़ शेष काव्यों में शूर्पणखा के चरित्र का परम्परागत रूप ही देखने को मिलता है। 'रावण' में इसे कर्तव्यनिष्ठ नीति पटु-शासन संचालिका के रूप में चित्रित कर कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

---

१. नारी का अपमान, हृदय
पौरुष का जागा।
मेरा मन, तत्क्षण ही
रण करने को भागा। —दशानन पृ० ४७।

२. वही, पृ० ४७–४८।
३. वही, पृ० ४८।
४. रावण महाकाव्य, ५।३।
५. वही, ३।३२।
६. वही, १०।४०।
७ वही, सर्ग ११।८।
८. वही, ११।२८।
९. भवन कक्ष में जाय शूर्पनखा दूत हि लियो बुलाई।
दर्पण की दिसि देखि लियो निज-चित्र विरूप बनाई॥
ताहि दियो पाती संग अपनी रावन पास पठाई।
पुनि निकार निज मन्दिर में आगि आपु लगाई।–वही, ११।३६।
१०. रावण महाकाव्य, ११।३७।

'पाषाणी, हाँ पाषाणी, चेतना मूढ़ अनियंत्रित वाणी ।
दग्ध हृदय, उच्छ्वास-अनल, हूँ आज पाप, कल थी कल्याणी ।
नाम न लो मेरा, वह भी अब बँधा ग्लानि के तार-तार से ।
सबसे कह दो मरी अहल्या, अपने ही चेतना भार से ।।'[1]

कवि ने आलोच्य प्रबन्धकाव्य 'पाषाणी' में अहल्या के चरित्र को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर उतारा है । उससे साधारण नारी की भाँति अपनी भूल का प्रायश्चित कराया गया है । राम के चरण-कमलों में बैठकर उसने अपने पाप एवं ताप का शमन किया है । इसमें अहल्या के 'शिला' बनने के परम्परागत अतिप्राकृत अलौकिक रूप का निराकरण कर कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है—

'ऐसा लगता था उसे, नहीं केवल देह ही,
मन को भी कोई इस शीतल करुणा–वारि–धारा से,
कर रहा अभिषिंचित
और मन के मैल धुले जाते हैं,
मन की शिला से सौ–सौ सिन्धु उतर जाते हैं
हीरक–मन उज्ज्वल और उज्ज्वलतर होता है ।'[2]

पुराण एवं महाभारत से सम्बन्धित-पात्र

महाभारत व विभिन्न पुराण ग्रन्थ भी रामायण के समान ही भारतीय चिन्तना को अधिकाधिक प्रभावित करने में प्रमुख रहे हैं । महाभारत से कथावस्तु ग्रहण कर रचे गये स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में 'अंगराज', 'रश्मिरथी', 'जयभारत', 'सेनापति कर्ण', 'हिडिम्बा', 'शल्यवध', 'पांचाली', 'दानवीर कर्ण', 'कौन्तेयकथा', 'द्रौपदी', 'द्रोण', 'एकलव्य', 'दमयन्ती' आदि प्रमुख हैं । विभिन्न पुराणों से कथानक लेकर जो प्रबन्धकाव्य आलोच्य काल में लिखे गये उनमें 'दैत्यवंश', 'पार्वती', 'आत्मजयी', 'कनुप्रिया', 'उर्वशी', 'कूबरी' आदि मुख्य रूप से उल्लेख्य हैं । उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों में प्रमुखतया निम्नांकित पात्रों के चरित्रांकन पर विशेष प्रकाश डाला गया है—कृष्ण, कर्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, शल्य, जयद्रथ, नल, एकलव्य, कुब्जा, नचिकेता, द्रौपदी, गान्धारी, कुन्ती, हिडिम्बा, दमयन्ती, पार्वती, राधा, उर्वशी आदि ।

---

1. पाषाणी षष्ठ स्पर्श, पृ० ८४ ।
2. वही, षष्ठम स्पर्श, पृ० ११८-१२२ ।

कर्ण :—

कर्ण महाभारत का एक ऐसा पात्र है, जो खल पक्ष का प्रबल समर्थक होते हुए भी अनुपम शालीनता, ओज और शौर्य से मण्डित है। दुर्योधन जैसे खल नायक का मित्र होते हुए भी कर्ण का चरित्र पाठकों के हृदय में मित्रता, नैतिकता, दानशीलता और वीरता के रूप में अंकित है। कर्ण का चरित्र इतना मोहक है कि उसे अनेक कवियों ने अपने काव्य में नायक बनाकर यश-प्राप्ति का प्रयास किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों—'अंगराज', 'कर्ण', 'रश्मिरथी', 'सेनापति कर्ण' आदि में कर्ण नायकत्व के पद पर प्रतिष्ठित है। इन काव्यों के कवियों ने कर्ण के चरित्र को अद्‌भुत रूप दिया है। कर्ण की वीरता,[१] दानशीलता,[२] कर्म-प्रियता,[३] धर्म-प्रियता,[४] कर्म-वीरता, गुरु-भक्ति,[५] निष्कपट-मित्रता[६] आदि गुणों को आदर्श रूप में चित्रित किया गया है। विवेच्य युग के कवियों ने अपने प्रबन्धकाव्यों में कर्ण को वर्ग-भेद, धर्म-भेद एवं वर्ण-भेद आदि से प्रपीड़ित समाज के प्रतिनिधि का रूप दिया है। कर्ण भुज-बल वालों का, धर्म-परित्याग न करने वालों का, समाज की अग्नि से जलने वाले कलंकित व्यक्तियों का एवं पग-पग पर बाधा झेलनेवाले पुरुषों का आदर्श है।[७] चाहे वह भाग्य का हेठा हो, किन्तु पृथ्वी का अवैध पुत्र वीरकर्ण अपनी धुन का पक्का है।[८] वह नियति की क्रूरता को नतमस्तक हो स्वीकार नहीं करता, वरन् पुरुषार्थ के बल पर उसका पूर्ण प्रतिरोध करता है—

> **चरण का भार लो, सिर पर संभालो,**
> **नियति की दूतियों! मस्तक झुकालो।**
> **चलो जिस भांति चलने को कहूँ मैं,**
> **ढलो जिस भांति ढलने को कहूँ मैं।**

---

१. रश्मिरथी, पृ० ८५, अंगराज, २१।६४ तथा ७, १–५६।
२. अंगराज, ७।७० तथा ८, २५–२६।
३. करके दूषित शर का प्रयोग, हम नहीं चाहते विष भोग।
—अंगराज, पृ० २५६ तथा देखिए रश्मिरथी, पृ० १८१।
४. अंगराज, ४,८६, म० शा० प० ३,४–६।
५. रश्मिरथी, द्वितीय सर्ग, पृ० १६।
६. अंगराज, २,५२।
७. रश्मिरथी, चतुर्थ सर्ग, पृ० ६० सातवां संस्करण।
८. द्रौपदी, पृ० १३।

न कर छल-छद्म से आघात फूलो,
पुरुष हूँ मैं, नहीं यह बात भूलो :-
कुचल दूंगा, निशानी मेट दूंगा,
चढ़ा दुर्दम भुजा की भेंट दूंगा ।[1]

कर्ण की इस उक्ति में पौरुष ही नहीं अपितु समस्त मानवता के पुरुषार्थ का स्वर निनादित है। वह तो उसे ही पुरुष मानता है जो नियति के भाल पर निज बल से पांव धरकर चलता है।[2] स्वयं कृष्ण भी महाभारत में कर्ण की चारित्रिक उच्चता का चित्रण करते हैं।[3]

'सेनापति कर्ण', 'जयभारत', 'कर्ण', 'अंगराज', 'रश्मिरथी' आदि प्रबन्धकाव्यों में कर्ण का दानी रूप परम्परागत है, किन्तु उसे कवियों ने अपने ढंग से अङ्कित किया है।

आनन्दकुमार ने 'अंगराज' में कर्ण के चरित्र को सर्वोत्कृष्ट रूप में चित्रित करते हुए उसे क्रूर युद्ध का समर्थक नहीं बताया है। कवि के अनुसार कर्ण की मानवतावादी भावना युद्ध-क्षेत्र में भी जीवित रही है—

करके दूषित शर का प्रयोग,
हम नहीं चाहते विषय भोग।[4]

उसके अद्भुत पराक्रम और अपूर्व रण-कौशल की प्रशंसा किये बिना उसके प्रतिपक्षी (कृष्णादि) भी नहीं रहे हैं :—

सुरेन्द्र सा है यह चण्ड विक्रमी, प्रचण्ड संहारक देवसिंह सा।
वसुन्धरा का प्रतिबुद्ध आयुधी, रण-प्रमादी, यह रामशिष्य है।[5]

कर्ण के मानसिक द्वन्द्व और जातिगत संघर्ष का चित्रण कर स्वातंत्र्योत्तर काल के कवियों ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। स्वातंत्र्योत्तर प्रबन्ध-काव्यों में कर्ण का मानसिक द्वन्द्व—कुन्ती-कर्ण-संवाद, इन्द्र-कर्ण-संवाद,

---

१. रश्मिरथी (सातवां संस्करण) सप्तम सर्ग, पृ० १२८।
२. वही, चतुर्थ सर्ग, पृ० ५६।
३. त्वमेव कर्ण जानासि वेद वादान् सनातनम्।
त्वमेव धर्म शास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठित: ॥
—महा० उद्योग, पृ० १४०।१३।
४. अंगराज, पृ० २५६।
५. वही, २१।१४, तुलना महा०, उद्योग १७३. ४८-४९।

भीष्म–कर्ण–संवाद, परशुराम–कर्ण–प्रसंग आदि स्थलों पर विशेष रूप से चित्रित हुआ है। महाभारत में इस प्रकार के द्वन्द्व व संघर्ष को स्थान नहीं मिल पाया है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में कर्ण-चरित्र धर्मात्मा, सत्यनिष्ठ, वीर, पुरुषार्थी, त्यागी आदि गुणों से युक्त है। उसके चरित्र को विवेच्य युग के कवियों द्वारा महाभारत से भी अधिक उज्ज्वल रूप में प्रतिष्ठित किया गया है तथा कर्ण के चरित्र को मूल बनाकर अपनी सुधारवादी वृत्तियों की स्थापना की है। यही कारण है कि महाभारत का कर्ण अधिक उग्र है जबकि 'सेनापति कर्ण', 'अंगराज',[1] 'रश्मिरथी'[2] आदि में उसकी भावना कोमल तथा भावुक है और उदार भावना से युक्त भी। वस्तुतः इन कवियों का ध्यान मुख्यतः कर्ण के चारित्रिक उत्कर्ष की ओर रहा। परिणामतः कर्ण के चरित्र में एक विशेष प्रकार की अहम्मन्यता के दर्शन होते हैं जो कर्ण को उक्त गुणों से सम्पन्न बनाये रखती है।

आलोच्य काव्य का नायक कर्ण जहाँ अपने परम्परागत गुणों को समाहित किए हुए है वहाँ वह समाज के निम्न वर्ग का मुखिया रहा है। वह वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए सचेष्ट है और सुखी मानवता के लिए स्वप्न देख रहा है।

युधिष्ठिर :—

विवेच्य युग के प्रबन्धकाव्यों में कवियों ने युधिष्ठिर के चरित्र को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से परखा है।

'शल्यवध', 'द्रौपदी', 'रश्मिरथी', 'जयभारत' आदि महाकाव्यों में उनके परम्परागत उज्ज्वल चरित्र को आदर्श रूप में चित्रित किया गया है। इन प्रबन्धकाव्यों में वे अविकारी, श्रेष्ठ-आकाश-पुरुष, कामार्थ-भाव से मुक्त, विवेकी, अकाम, तत्त्वगुण-ज्ञानी रूप में अंकित किए गए हैं।[3] वे धर्म-निष्ठ,[4]

सत्य-प्रिय,[1] क्षमाशील,[2] शान्ति-प्रिय, शरणागत वत्सल,[3] निस्पृह,[4] दयालु,[5] समता के समर्थक,[6] अनासक्त[7] तथा वीर[8] एवं उदार[9] हैं।

किन्तु उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त युधिष्ठिर के चरित्र का, कुछेक प्रबन्धकाव्यों में, दूसरा पक्ष भी देखने को मिलता है। युधिष्ठिर का परम्परा से मुक्त चरित्र-चित्रण करने का प्रयास विशेष रूप से 'अंगराज' के कवि ने किया है। 'अंगराज' में युधिष्ठिर के चरित्र की पूर्णतः काया ही पलट दी गई है उनके परंपरागत श्रेष्ठ चरित्र का मुलम्मा एक झटके में उतार दिया गया है। 'अंगराज' प्रबन्धकाव्य में युधिष्ठिर प्रायः सभी अवगुणों से युक्त स्वार्थान्ध, राज्यलोलुप,[10] अनाधिकार चेष्टा करने वाले, भोगी,[11] छली,कपटी, अधर्मी,[12] गुरुहत्यारे,[13]

---

१. देखिये – जयभारत, पृ० ७० ।

२. वही, पृ० २२६ ।

३. वही, पृ० २०८ तथा ४४७ ।

४. वही, पृ० १४५ ।

५. वही, पृ० १४१ ।

६. वही, पृ० ५७ तथा १४२ ।

७. देखिये—रश्मिरथी, पृ० ५७ ।

८. शल्यवध, पृ० ३६ । महाभारत, शल्य० ७।३३ ।

९. देखिये—जयभारत, पृ० २२६ ।

१०. ''''युधिष्ठिर की राज्य-लोलुपता का ध्यान कीजिए युधिष्ठिर दूसरे के राज्य पर आँखें लगाये था।''''युधिष्ठिर ने अपने भाई से उसी का राज्य छीन लिया।''''वह तो स्वार्थान्ध था।

—अंगराज, भूमिका, पृ० १६–२० ।

११ वही, पृ० २० ।

१२. वही, पृ० २१–२२ ।

१३. ८५ वर्ष का द्रोण जिस समय १६ वर्ष के युवक की भाँति उत्तेजित होकर संहार कर रहा था और'''' ''''उस समय धर्मराज ने विश्वासघात किया। निरस्त्र गुरु का वध कराके इसने अपनी कृतघ्नता और नीचता का परिचय दिया।

—अंगराज भूमिका, पृ० [illegible] ।

'अंगराज' में दस हज़ार हाथियों के समान बलशाली भीम[1] को जातीय-गर्व कर्ण के अपमान में व्यक्त होता है।[2] अंगराजकार ने दुर्योधन-वध प्रसंग में भीम को छली व दुष्कर्मी बताया है—

"छली भीम को देख दुष्क्रिया कुप्त हुए बलराम।"[3]

दुर्योधन के वध के समय भीम का प्रतिकार भले ही छल-युक्त या धर्म-विरुद्ध कहा जाय, किन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरता है। इसी प्रकार गुप्तजी ने मृत्यु-शैया पर पड़े दुर्योधन के मस्तक पर भीम के चरणाघात को लज्जायुक्त कहा है—

"पापी मैं नहीं, यह कहकर भीम ने,
मारी एक लात और सिर पर उसके।
हैं हैं भीम, बोल उठे कृष्ण युधिष्ठिर भी
अर्जुनादि का भी सिर नीचा हुआ लज्जा से।"[4]

भीम के चरित्र में कठोरता और शूरवीरता के साथ दया, दया-सद्-भावना तथा कोमलता का भी अनुपम योग है—

सुधीजन जगत के
क्या कहेंगे सोचो तुम्हीं। स्वार्थ साधना में जो
भेजे काल रण में हिडिम्बा के तनय को।
यौवन के मद में बनाया, जिसे प्रेयसी
और फिर छोड़ दिया कुल विचार से
+ + + + +
होती है कहो क्या नहीं वेदना प्रसव की
दानवी को, या कि पुत्र मोह नहीं होता।[5]

उपर्युक्त कथन में भीम की व्यथा निहित है। इनमें भीम का मानसिक द्वन्द्व भी स्पष्ट हो जाता है जो चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में एक मौलिक देन है। पूर्ववर्ती काव्यों में पात्र के मानसिक द्वन्द्व और अन्तःसंघर्ष की ओर इतनी

---

१. देखिये—महाभारत, आदि० १२८।२२।
२. देखिये—अंगराज, पृ० ३१।
३. देखिये—अंगराज, सर्ग २३, पृ० २८४।
४. जयभारत, पृ० ४०४-४०५।
५. सेनापति कर्ण, पृ० २११।

सूक्ष्मदृष्टि से ध्यान नहीं दिया जाता था, जितनी सूक्ष्मदृष्टि से आज का कवि ध्यान देता है। सेनापति कर्ण में भीम के मानसिक द्वन्द्व को बड़ी कुशलता से अंकित किया गया है।[1]

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में, पाण्डवों में भीम का चरित्र ही ऐसा है जो आदर्श की जंजीरों को तोड़कर समय-समय पर यथार्थ चरित्र के रूप में चित्रित हुआ है।

अर्जुन :—

अर्जुन स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में आज भी अपना पूर्ववर्ती स्थान बनाए हुए है। इसका चरित्र महाभारतीय अर्जुन से साम्य रखता है।

अर्जुन के वीरत्व की दिव्यता को परम्परावादी कवियों ने यथावत् चित्रित किया है, किन्तु अन्य कवियों ने अर्जुन के चरित्र के चित्रण में मौलिक दृष्टि का परिचय देते हुए उसे नया आवरण पहनाया है। 'साधना' और 'तत्परता' अर्जुन के चरित्र की विशेषताएँ हैं। उत्साह उसका भूषण है—

थे वे सभी सुयोग्य किन्तु अर्जुन की निष्ठा।
उन्हें दिलाकर रही सभी से अधिक प्रतिष्ठा।[2]

महत्त्वाकांक्षी,[3] अर्जुन समस्त विश्व को अपनी धनुर्विद्या के सामने नत देखना चाहता है।[4] अर्जुन का धनुष-कौशल शास्त्रास्त्र प्रदर्शन, द्रुपद-पराजय, लक्ष्य-वेध और शिव के साथ युद्ध में द्रष्टव्य है। साधनारत अर्जुन 'एकलव्य' महाकाव्य में रातभर तम-वेध-लक्ष्य की साधना करता है, और तपस्या करके शिव को प्रसन्न करता है तथा उनसे और अन्य देवताओं से अनेकानेक दिव्य अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करता है।[5]

आज्ञा-पालक अर्जुन अपने गुरुजनों की आज्ञा के पालन को आदर्श मानता है। उसे धर्म-निष्ठ अग्रज की आज्ञा विशेष रूप से मान्य है। युधिष्ठिर

---

१. सेनापति कर्ण, पृ० ५५ :
२. जयभारत, पृ० ५१।
३. "देव प्रतिद्वंदिता करेगा शिष्य आपका,
सहन करेगा नहीं दास किसी धन्वी को।" —एकलव्य, पृ० २२७।
४. सिद्धि निज धनुर्वेद की तभी मैं मानूंगा,
जब विश्व के समस्त, धन्वी नत जानु हों। —वही, पृ० २२५।
५. देखिये—अस्त्र लाभ सर्ग, जयभारत।

के द्यूत-क्रीड़ा में राज्य, पत्नी आदि के हार जाने पर क्रोधित भीम को समझाते हुए अर्जुन अग्रज की करनी को शिरोधार्य करने को कहता है।[1] वस्तुतः वह सच्चे मन से आर्य युधिष्ठिर का अनुगत है।[2] इसके साथ ही वह गुरु के प्रति सच्चा अनुरागी है। द्रोण अपने प्रिय शिष्य अर्जुन के वीरत्व से प्रसन्न हैं।

'द्रोण' काव्य में अर्जुन के वीरत्व का चित्रण गुरु मुख से इस प्रकार किया गया है—

आचार्य बोले—मैं प्रतिज्ञाबद्ध हूँ,
मेरी यह चेष्टा रहेगी कल, कुँअर।
जीवित पकड़ कर धर्म-सुत को बांध लूं,
दिखती मुझे है एक गुरु बाधा, मगर—
जब तक रहेगा अर्जुन छांव सा,
सम्भव नहीं, कोई उन्हें छू भी सके;
कोई पहुंच भी जाय उनके पास, तो
है कौन, जो बच पार्थ-शर से जी सके ?[3]

गुरु द्रोण अपने भक्त, प्राण-प्यारे,[4] श्रद्धालु,[5] वीर[6] व दुलारे[7] शिष्य

---

१. कहें भीम कुछ तब तक अर्जुन बोले - छले गये हैं आर्य,
पर मां की कथनी-सी हमको इनकी करनी भी स्वीकार्य।
—जयभारत, पृ० १४६।

२. वही, पृ० १५६।

३. द्रोण, पृ० ३२।

४. प्रिय से—उसी प्रिय पार्थ अपने प्राण से—
अब सामना करना पड़ेगा ही मुझे। —द्रोण, पृ० २६।

५. जिसको पढ़ाया प्रेम के प्लुत भाव से,
जिसकी विजय मेरे हृदय का चाव है
बेजोड़ जिसकी बुद्धि मेरा गर्व है
बेजोड़ जिसमें भक्ति श्रद्धा भाव है। —वही, पृ० २६।

६. जिसने मुझे निज शौर्य से जग में रखा
बदला चुका, राजा द्रुपद को बांधकर —वही, पृ० २७।

७. लड़ना पड़ेगा अब उसी कौन्तेय से
कौन्तेय जो मेरा दुलारा शिष्य है। —वही, पृ० २७।

से लड़ना नहीं चाहते । वे उसकी वीरता को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं क्योंकि वीर अर्जुन की विजय ही गुरु द्रोण के हृदय का चाव है ।[१] अर्जुन ही उनके भविष्य की सुरक्षा है ।[२]

'जयभारत', 'द्रोण' तथा 'सेनापति कर्ण' में अर्जुन के चरित्र को मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसा गया है ।

कृष्ण कर्ण का सामना करते समय अर्जुन को बचाना चाहते हैं, वे कर्ण के युद्ध करते-करते थक जाने पर ही अर्जुन को कर्ण के समक्ष लड़ने भेजना चाहते हैं,[३] किन्तु उस समय द्रौपदी अर्जुन के वीरत्व को धिक्कारती है—

जानती जो दुर्जय धनुर्धर जगत में,
काल पृष्ठधारी है अकेला सुत राधा का,
तब तो स्वयंवर में वरती उसीको मैं ।[४]

द्रौपदी की यह ललकार अर्जुन के वीरत्व को जगाने के लिए पर्याप्त है । उसका स्वाभिमान जाग उठता है ।[५]

'अंगराज' में अर्जुन चरित्र की दृष्टि से निम्न श्रेणी का ठहरता है । वह युद्ध-नीति की उपेक्षा करता है ।[६] उसका वीरत्व संदेहास्पद है, वह भीरु है, उसकी विजय का कारण उसकी वीरता नहीं अपितु दैव या छल है । वह मिट्टी की मूर्ति के समान[७] विभूतिहीन है । उसके प्रति जनमानस में सहानुभूति तक नहीं—

अपने समीप जनता समीप । बन गया परन्तप दिवादीप ।
खोकर सब लोक-सहानुभूति । मिट गई पार्थ-पार्थिव-विभूति ।।[८]

अर्जुन-चरित्र में उपर्युक्त गुणावगुणों के अतिरिक्त उसके मानसिक द्वन्द्व को भी विवेच्ययुगीन कवियों ने भलीभांति परखा है । अर्जुन समस्त

---

१. द्रोण, पृ० ३६ ।
२. यह शिष्य मेरा ही प्रसिद्ध भविष्य है । —वही, पृ० ३७ ।
३. देखिये—अंगराज, भूमिका, पृ० ३७ ।
४. सेनापति कर्ण, पृ० १६२ ।
५. सेनापति कर्ण, पृ० १६४ ।
६. अंगराज, पृ० २१६ ।
७. वही, पृ० २६३ ।
८. अंगराज, पृ० २६३ ।

दिव्यास्त्रों से सम्पन्न है किन्तु स्वार्थवश एकलव्य से ईर्ष्या करता है। गुरु द्वारा एकलव्य का अंगूठा मांग लेने पर अर्जुन को प्रसन्नता का अनुभव होता है।[1] एकलव्य को स्वयं से अधिक धनुर्वेद--कौशल में प्रवीण पाकर अर्जुन गुरु के प्रति शंकित-सा दीख पड़ता है ।[2] इसके अतिरिक्त मानसिक द्वन्द्व के बीच अर्जुन एकलव्य की साधना की प्रशंसा, निस्पृहता की स्तुति[3] करता है और अपने चरित्र की दुर्बलता को स्वीकार करता है—

> सत्य हीं मैं ज्ञान प्राप्ति में रहा हूँ असफल,
> तभी तो मैं मानहीन होके यहाँ बैठा हूँ।[4]

अर्जुन के मानसिक द्वन्द्व की चरम सीमा का चित्रण तो उस समय देखने को मिलता है जब आर्य जाति के नष्ट होने की सम्भावना से उग्र होकर वह एकलव्य की दक्षिण भुजा काटने की कल्पना करता है किन्तु मानव अर्जुन उसी समय इस बुरी भावना को घोर अपराध मानते हुए धिक्कृत करता है ।[5]

इस प्रकार एकलव्य, अर्जुन का मोह, कर्णार्जुनयुद्ध जैसे कतिपय प्रसंगों के अन्तर्गत अर्जुन चरित्र में मानसिक द्वन्द्व और मनोवैज्ञानिक मानवीय दुर्बलतायें भी पाई जाती हैं। अर्जुन--चरित्र के अपकर्ष के लिए अंगराज तो अपवाद ही है। शेष काव्यों—'द्रोण', 'सेनापति कर्ण' 'कौन्तेय-कथा', 'द्रौपदी', 'जयभारत', 'एकलव्य' आदि—में अर्जुन का चरित्र कुछ हेर-फेर के साथ महाभारत के अनुरूप ही चित्रित किया गया है।

धृतराष्ट्र :—

हमारे प्रबन्धकाव्यों में धृतराष्ट्र का चरित्र महाभारत के धृतराष्ट्र की अनुकृति सी है। इस पात्र के चरित्र-चित्रण में विशेष अन्तर नहीं आ पाया है। अन्तर केवल मानसिक द्वन्द्व का है; जिसके अन्तर्गत धृतराष्ट्र सत्य-प्रेमी होने के साथ राज्य-प्रेम और पुत्र-प्रेम का मोह नहीं छोड़ सका है। विदुर,

---

1. महाभारत, आदि० १३१।६० ।
2. एकलव्य, पृ० २५४ ।
3. कितना विश्वास होगा एकलव्य वीर में,
   जो कि गुरु मूर्ति को ही गुरु मान बैठा है। —वही, पृ० २५४ ।
4. वही, पृ० २६४ ।
5. (क) एकलव्य, पृ० २६६–६७ । (ख) जयभारत, पृ० ५५ ।

भीम, युधिष्ठिर, द्रोण, कृष्ण[1] आदि के विचारों से धृतराष्ट्र प्रभावित है, किंतु धृतराष्ट्र को अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन के प्रति प्रेम का आग्रह इतना है कि वह उसे अपने अनुचित काम के लिए भी प्रेरित कर सकता है। इस प्रकार धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व में अस्थिरता पाई जाती है। कहीं-कहीं तो वह भय से भी पुत्र की मनचाही करता दिखाई देता है। वस्तुतः धृतराष्ट्र नेत्रान्ध[2] तो है ही किन्तु उससे भी अधिक पुत्र-मोहान्ध है।[3] द्रौपदी चीर-हरण अवसर पर 'गान्धारी-धृतराष्ट्र' वार्तालाप में उसका पुत्र मोह इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

"देवि ! ठीक ही कहती हो तुम, मैं अन्धा भी देख रहा।
अपने चारों ओर, अन्त अपनों का रक्त-रक्त बहा।
पुत्र-मोह उससे भी दुस्तर मज्जित करता है मुझको,
सबल तुम्हारा मातृ-हृदय यह लज्जित करता है मुझको।[4]

यही नहीं, पुत्र-मोह के कारण धृतराष्ट्र युधिष्ठिर के सामने शर्मिन्दा है,[5] और कृष्ण से क्षमा-याचना करता है,[6] फिर भी कुविचारी[7] दुर्योधन का पक्ष-पात लेता है—

पुत्र मोह वश अन्ध नृप को सोच हुआ,
पक्षपात प्रत्यक्ष न हो, संकोच हुआ।
उन्हें विदुर का नहीं कणिक का मंत्र रुचा-

का दुर्योधन प्रकृतिवश दुर्दान्त होते हुए भी गुणज्ञ और कुल-कान्त भी दिखाई देता है।[1] 'जयभारत' के युधिष्ठिर की दृष्टि में दुर्योधन और एकलव्य की मित्रता जघन्य है।[2] इससे सिद्ध होता है कि परम्परावादी कवियों ने दुर्योधन के चरित्र को अनुदार रूप में ही अधिक चित्रित किया है।

दूसरे वर्ग के कवि 'दिनकर', 'लक्ष्मीनारायण मिश्र', 'आनन्दकुमार' आदि ने अपने काव्यों में दुर्योधन-चरित्र को परिष्कृत कर दिया है। इन कवियों के मतानुसार पाण्डव-पक्ष अत्यन्त प्रबल है और दुर्योधन के प्रति पूर्ण न्याय नहीं हुआ है। वास्तव में दुर्योधन के चरित्र में जो दोष आ गया है उसका कारण राज्य है; किन्तु उसकी राज्य-विषयक आसक्ति सामान्य है। उसे राज्य का घमण्ड नहीं है किन्तु राज्य के मामले में वह स्वाभिमानी अवश्य है। वह पराक्रम में विश्वास रखने वाला, हठधर्मी होता हुआ भी भाग्यवादी[3] तथा आशावादी भी है। वह युद्ध का संदेश भेजता है, पराजय के कारणों की जांच करता हुआ, परास्त न होकर संघर्ष करता है। इन बातों से उसके स्वाभिमान के साथ उसका वीरत्व भी स्पष्ट हो जाता है। वह भीष्म व द्रोण के पतन को भाग्य की छलना मानता है;[4] नहीं तो इतने लोकविश्रुत वीर इस प्रकार मारे जाते ? इसी प्रसंग में वह धर्मराज की सत्य प्रियता पर व्यंग करता है।[5]

'रश्मिरथी',[6] 'सेनापति कर्ण'[7] और 'अंगराज' आदि काव्यों में दुर्योधन के प्रारम्भिक द्वेष का कारण पाण्डवों के जन्म को बताया गया है। वह अपने वंश में पाण्डव जन्म की कथा को कलंक मानता है।[8]

उसे अपने वंश पर गर्व है। स्ववंशज न होने के कारण ही सम्भवतः दुर्योधन ने पाण्डवों को राज्य नहीं दिया।

---

१. देखिये—जयभारत, पृ० ४२।
२. वही, पृ० ५७।
३. सेनापति कर्ण, पृ० २८—२९।
४. वही, पृ० ६, ३१।
५. वही, पृ० ७।
६. रश्मिरथी, पृ० ६।
७. सेनापति कर्ण, पृ० ८—९।
८. देखिये—वही, पृ० ७।

उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यकारों ने दुर्योधन के चरित्र का परिष्कार करते हुए उसे निष्कलंक बनाने का प्रयास किया है।[1] आनन्दकुमार मिश्र ने तो द्यूत का का उत्तरदायित्व भी युधिष्ठिर पर डाल दिया है।[2] द्रौपदी के अपमान के प्रसंग में भी इसके चरित्र की व्याख्या अपने ढंग से की गई है।[3] आलोच्यकाल का दुर्योधन ईर्ष्यालु, दम्भी और तामसी नहीं है, अपितु आत्मबली भी है।[4]

कहने का तात्पर्य यह है कि आलोच्यकाल के प्रबन्धकाव्यों में सामान्यतया दुर्योधन के चरित्र में परिष्कार कर दिया गया। यह परिष्कार भावना-गत ही नहीं अपितु तार्किक भी है। दुर्योधन के प्रत्येक गुणावगुण के पीछे तर्क है। तत्कालीन वंशगत एवं जाति बंधन के युग में उसका पाण्डवद्रोही बन जाना स्वाभाविक ही है। आलोच्यकाल के कवियों ने दुर्योधन के चरित्र के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि परिस्थितियों में व्यक्ति का चरित्र कैसा हो सकता है ?

दुर्योधन के चरित्र को चित्रित करने में प्रत्येक कवि का अपना-अपना पृथक् दृष्टिकोण रहा है। यह दृष्टिकोण उनके आधुनिक विचारों पर आधारित है, किन्तु इससे उन्हें पुराने दुर्योधन को नये प्रकाश में लाने तथा दुर्योधन को पर्याप्त रूप से सुयोधन बनाने का अवसर मिला है।

दु:शासन :—

दु:शासन दुर्योधन के अनुजों में महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्त्व रखता है। यही एक ऐसा व्यक्ति है जो छाया की तरह दुर्योधन के साथ रहता है तथा प्रत्येक अवसर पर उसकी आज्ञा का पालन करता हुआ दिखाई देता है। वह दुर्योधन के आदेश की ही प्रतीक्षा में रहता है।[5] वह अग्रज की आज्ञाकारिता-वश शुभाशुभ व लोकनिन्दा[6] का तनिक भी विचार नहीं करता। वह भीम के साथ प्रारम्भिक संघर्ष, द्रौपदी-चीर-हरण और युद्ध[7] आदि के प्रमुख अवसरों पर भाई

१. अंगराज, पृ० ७५।
२. वही, पृ० ७४।
३. वही, पृ० ७६।
४. सेनापति कर्ण, पृ० ३१।
५. देखिये—जयभारत, पृ० २१५।
६. कहे मुझे जो कुछ लोक चाहे
   भाई नहीं किंकर हूँ तुम्हारा,
   मैं चाहता राज्य नहीं तुम्हें ही। —वही, पृ० २१५।
७. अंगराज, सर्ग ११।६, पृ० २००।

की सहायता करता दिखाई देता है। दुर्योधन के प्रति घोर आस्था ही उसके चरित्र का प्रमुख गुण है; वस्तुतः वह भ्रातृ-भक्त है।[1]

आलोच्य काव्यों में दुःशासन के चरित्र के उक्त गुणों का पूर्ण रूपेण समावेश हुआ है। 'जयभारत' में वह दुर्योधन की मानसिक व्यथा के समय धैर्य बंधाता हुआ कहता है—

> 'स्वयं तुम्हीं अग्रज, राज्य मेरे।
> समाप्ति में ही सुख जो तुम्हें है
> तो क्यों न मैं भी निज भाग्य पाऊं?
> मैंने न तो धर्म न कर्म जाना
> माना सदा जीवन में तुम्हीं को।'[2]

ऐसे भ्रातृ भक्त का चरित्र क्यों नहीं श्रद्धा से मंडित होगा। दुःशासन भ्रातृ-प्रेम के लिए एक आदर्श है।

सेनापति कर्ण' के कवि ने तो दुःशासन के इन गुणों से प्रभावित हो उसे 'सुशासन' के रूप में चित्रित किया है। कवि को उसके व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण सहानुभूति है।[3]

मिश्र जी ने अपने काव्य में पत्नी को संतप्त देखकर दुःशासन को धैर्य बंधाते तथा कर्म-सिद्धि की कामना करते बताया है।[4] इस प्रकार दुःशासन के परम्परागत चरित्र का परिष्कार कर आलोच्यकाल के कवियों ने उसे व्यक्तिगत आशा और विश्वास के आधार पर चित्रित कर नया रूप प्रदान किया है। 'महाभारत' में दुःशासन के चरित्र का ऐसा उत्कर्ष दिखाई नहीं देता है।

भीष्म :—

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में भीष्म के चरित्र पर आधारित कोई पृथक् महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य की सृष्टि नहीं हुई है, किन्तु 'जयभारत', 'सेनापति कर्ण,' 'अंगराज' आदि में प्रसंगानुकूल आया भीष्म का आदर्श चरित्र उज्ज्वलता के गौरव से मंडित दिखलाया गया है। भीष्म के चरित्र में मानव के उन विशेष गुणों की स्थापना की गई है, जिनके कारण मानव को देवत्व का स्थान प्राप्त होता है। महामना भीष्म का अखण्ड ब्रह्मचारी, आदर्श पितृभक्त,

---

1. जयभारत, पृ० २१४–२१५।
2. वही, पृ० २१४–२१५।
3. देखिये—सेनापति कर्ण, पृ० १३८।
4. वही, पृ० १५१–१५४।

सत्य-प्रतिज्ञ एवं अद्भुत वीर रूप महाभारत में चित्रित है; किन्तु आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में तो उनके चरित्र में उपरोक्त गुणों के साथ मानसिक द्वन्द्वों की भी प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया है। महाभारत की परम्परा का पालन करने वाले कवियों ने भीष्म-चरित्र को परम्परागत आदर्श के अनुरूप चित्रित किया है, किन्तु मनोवैज्ञानिकता के समर्थक कतिपय कवियों ने उनके चरित्र में मानसिक द्वन्द्वों की सृष्टि की है।

भीष्म की आदर्श पितृभक्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य ही उनके विश्वव्याप व्यक्तित्व का परिणाम है। उन्होंने पिता की प्रसन्नता के लिए राज्य का त्याग कर अविवाहित रहने का व्रत लिया। इस प्रकार विश्व के सामने त्याग का अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया।[1] 'जयभारत' में उनका यह गुण परम्परानुरूप ही चित्रित हुआ है।[2] उनका धर्म-हेतु सहर्ष प्राण-त्याग[3] करना किसी दधीचि के अस्थि-त्याग से कम नहीं है। अपने वचनों के पक्के भीष्म विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न वंश को संकट से बचाने के लिए भी अपनी प्रतिज्ञा भंग करने को तैयार नहीं।[4] इसीलिए अम्बा की प्रार्थना पर वे ध्यान नहीं देते[5] और ब्रह्मचर्य व्रत पर अडिग रहते हैं।[6]

वीर भीष्म का युद्धक्षेत्र में दूसरा ही रूप दिखाई देता है समरभूमि में विकराल भीष्म[7] लगातार शर-वर्षा से शत्रुपक्ष का ध्वंस करते जाते हैं।[8] अपने साहसी रणवीर रूप में भीष्म अरिपक्ष के लिए चुनौती का काम करते हैं—

> वीर आक्रमक दल को आता। बढ़ा भीष्म मौर्विका कंपाता॥
> युद्ध-निमंत्रण सबको देता। दौड़ा वह अगणित रण-जेता॥
> बढ़ा भीष्म अरिदल पर ऐसे। दिनपति उदयाचल पर जैसे॥[9]

---

1. महाभारत, आदि० १००।६४-८६।
2. जयभारत, पृ० ३५।
3. महाभारत, आदि० १०७।८४-८६।
4. वही, १०३।१६-२१।
5. वही, १७८।३३।
6. सेनापति कर्ण, पृ० २१-२२।
7. महाभारत, भीष्म पर्व १०७।७६-७७।
8. देवार्चन—अंगराज, पृ० १६१।
9. वही, पृ० १६०।

आचार्य द्रोण चरित्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'अंग-राज', जयभारत', 'एकलव्य', 'द्रोण' आदि में इनका चरित्र प्राचीन भूमिका पर नये परिवेश में अंकित हुआ है। इन काव्यों में द्रोण अद्भुत तेज और ज्ञान के कारण अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के साथ चित्रित हैं—

श्वेत जटा, विस्तृत ललाट, कसी भौंहें हैं,
नेत्र हैं विशाल, रक्त वर्ण उठी नासिका।
श्वेत श्मश्रु बीच ओठ, जैसे शुभ्र-अभ्रों की,
ओट सन्ध्या काल–मध्य दुर्ग फाकलश है।[1]

द्रोण ब्राह्मण छात्रों से भिन्न वृत्ति वाले परशुराम के शिष्य[2] गार्हस्थ्य-भार के कारण आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त,[3] किन्तु वेदों को जानने वाले,[4] जनपूजित, द्विज-कुल में सिरमोर,[5] सौभाग्यवान राज-गुरु भी हैं।[6] ब्राह्मण वृत्ति से भिन्न[7] रुचि रखने वाले द्रोण के चरित्र में ब्राह्मणत्व और क्षत्रिय का अद्भुत सामंजस्य है, अतः इसे इनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। युद्ध-क्षेत्र में कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़, पराक्रमी,[8] पराक्रमी-वृद्ध,

---

१. एकलव्य, पृ० १२।

२. द्रोण, पृ० १५–१६।

३. (क) द्रोण, पृ० ८–१०। (ख) एकलव्य, पृ० ३८।

४. देखिये—एकलव्य, पृ० ७–८।

५. 'महर्षि भरद्वाज के पुत्र और भार्गव परशुराम के शिष्य होने के कारण आचार्य द्रोण उच्च संस्कारों से सम्पन्न थे। वे वेदों को जानने वाले थे; किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी।' —वही, आमुख पृ० ४।

६. देखिये—द्रोण, पृ० २।

७. वही, पृ० ६।

८. बोले आचार्य—"धनञ्जय! भूल रहे हो।
यह समर क्षेत्र है, विद्यापीठ नहीं है।
गुरु नहीं, शत्रु हूँ मैं इस समय यहाँ पर;
जाना चाहो, तो मुझे जीत कर जाओ।
रिपु-दल में आज अगर अश्वत्थामा भी।
होता मेरे सन्मुख, तो भी क्या होता?
मैं बाप नहीं होता, न पुत्र वह होता।
गोतों के मरवम पुरुष! होश में आओ।"
—द्रोण, पृ० ५१ तथा देखिये पृ० ५३ भी।

युद्धाचार्य[1] द्रोण पर ब्राह्मणत्व सदैव हावी रहता है।[2] गुरु भाई तथा मित्र द्रुपद से अपमानित[3] होने पर इनके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठती है।[4] उनके स्वाभिमान[5] पर चोट लगे घाव को भरने के लिए वे (द्रुपद से अपमान का बदला लेने के लिए) अर्जुन को अद्वितीय धनुर्वेद की शिक्षा देने के लिए कृत संकल्प है—

> "मेरे उर में एक सदैव कृत्या राक्षसी
> करती हुंकार रही, शीघ्र प्रतिशोध ले—
> इस अपमान का तू; इस हुंकार ही ने
> मुझे कराया प्रण! केवल मैं पार्थ को

---

१. जहां जहां जिस ओर द्रोण का रथ चलता था।
शस्त्र चिता पर वहां शत्रु–मण्डल जलता था।।
+ + + +
रौद्र रूप दर्शित हुआ रण में युद्धाचार्य का।
अद्भुत विज्ञापन हुआ दारुण दारुण–कार्य का।।
—अंगराज, पृ० २०७।

२. (क) देखिये—जयभारत, पृ० ३८४–३८५।
(ख) मैं भी परन्तु विचित्र वेदी वीर हूं।
लड़ने चला हूं और चिन्ता धर्म की?
+ + + +
पर विप्र के संस्कार को मैं क्या करूं?
इस युद्ध में भी हो रहे बलवान हैं। —द्रोण, पृ० ३६।

३. (क) "मैत्री? रही होगी; पर अब क्या है? मैत्री है?
किसकी है? किससे है? विप्र की नरेश से"?
—एकलव्य, पृ० ४६।
(ख) देखिये—द्रोण, सर्ग १, पृ० २१।
(ग) "मैत्री होती है समान से",
द्रुपद तुम्हारी ही यह उक्ति, —जयभारत, पृ० ६६।

४. देखिये—एकलव्य, पृ० २२४।

५. देखिये—द्रोण, पृ० ६।

अद्वितीय धनुर्वेद दूंगा अल्पकाल में।
और कोई शिष्य कभी उसकी समानता,
कर न सकेगा वह ऐसा शिष्य मेरा हो।"[1]

गुरु होने के कारण द्रोण के समक्ष दोनों पक्ष समान हैं,फिर भी अर्जुन उनका विशेष प्रिय शिष्य है।[2] उनकी दृष्टि में दुर्योधनादि कलुष-कुल तथा अनिष्ट के अवतार हैं।[3] तत्कालीन राजनीति के कारण[4] उन्हें विवश हो एक-पक्षीय बनना पड़ता है। वे गुरु होने के कारण आचार्य का दायित्व और कर्त्तव्य समझते थे। साथ ही भीष्म की राजनीति और तत्कालीन सामाजिक स्थिति से भी वे परिचित थे। यही कारण है कि उन्होंने एकलव्य की प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया और उसे अपना शिष्य नहीं बनाया।[5] राजगुरु पद की विशेष मर्यादा होने के कारण ही एकलव्य की निष्ठा भाव से प्रभावित होते हुए भी उन्हें विवशतावश यही कहना पड़ा—

किन्तु मेरे शिक्षण के वे ही अधिकारी हैं,
जो कि भूमिपुत्र नहीं; किन्तु भूमिपति हैं।

+ + + +

राज गुरु हूं विशेष पद की मर्यादा है,
शिक्षा नीति राजनीति के पदों चलती है।
शारदा की वाणी यहां बोली है स्वर्ण में।[6]

एकलव्य को शिष्यत्व पद प्रदान न करने के कारण उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व[7] भी उठता है कि शिक्षा सरस्वती की धारा है जो अनन्त है। फिर राजगुरु ही बनकर क्यों रहूँ? और अन्ततोगत्वा सच्चे अर्थ में गुरु द्रोण इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—

---

१. एकलव्य, पृ० २२५।
२. देखिये—द्रोण, पृ० ३६-३७।
३. वही, पृ० ३८।
४. देखिये—एकलव्य, पृ० २२२।
५. निश्चय ही आचार्य द्रोण भीष्म पितामह की राजनीति से अनुशासित थे—विवश थे, यद्यपि वे आचार्य की मर्यादा को समझते थे।
—एकलव्य, आमुख, पृ० ५।
६. एकलव्य, आमुख, पृ० ४।
७. वही अन्तर्निवेदन सर्ग पृ० १२६।

जाति भेद नहीं, वर्ग भेद भी नहीं,
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु द्रोण के चरित्र का आलोच्य युग के हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में जिन परम्परागत पक्षों के आधार पर चित्रण हुआ है उनमें से कुछ पक्षों की पुनर्व्याख्या भी हुई है। एकलव्य-प्रसंग में द्रोण का चरित्र परम्परा से ही निन्द्य रूप में चित्रित हुआ है, वे अर्जुन को अनुपम धनुर्धर बनाने के लिए स्वयं एकलव्य का 'त्वयांगुष्ठो दक्षिणां दीयतामिति' कहकर गुरु-दक्षिणा रूप में मांग लेते हैं, किन्तु आलोच्य-काल के कवियों ने उनके चरित्र पर लगे इस दोष का निवारण कर दिया है। 'एकलव्य' काव्य में स्वयं एकलव्य परिस्थिति की गम्भीरता और गुरु की विवशता से परिचित है अतः स्वयं ही दक्षिणा के रूप में दक्षिण अंगुष्ठ अर्पित करता है—

"गुरु का हृदय खण्ड-खण्ड हो, असम्भव !
दक्षिणांगुष्ठ ही हो खण्ड-खण्ड मेरा जो कि
पार्थ को बनादे अद्वितीय धन्वी विश्व में !
गुरु-प्रण-पूर्ति करे सब काल के लिए,
जय गुरु देव ! यह रही मेरी दक्षिणा।"

\+ \+ \+ \+

गुरु मूर्ति के समीप हाथ रख दाहिना,
एक ही आघात में अंगुष्ठा काटा मूल से।[2]

गुरु हृदय अन्ततोगत्वा गुरु हृदय ही होता है। द्रोण एकलव्य को बाहु-बीच भीच कसकर हृदय लगाकर बोल उठते है—

'एकलव्य हे !
तुम विप्र हो, हे शिष्य ! गुरु द्रोण शूद्र है।
हा, तुम्हारी गुरुता में गुरु हुआ लघु है।[3]

आलोच्ययुग के प्रबन्धकाव्यों में व्यक्त द्रोण-चरित्र के समक्ष दुराग्रही शायद ही ठहर पायें। इनके चारित्रिक महत्व को ध्यान में रखते हुए

---

१. एकलव्य, आमुख, स्वप्न सर्ग, पृ० २२२।
२. एकलव्य, दक्षिणा सर्ग पृ० २८६।
३. वही, सर्ग, पृ० २८८।

'एकलव्य' काव्य के द्रोण की तुलना यदि हम प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के आचार्य चाणक्य से करें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस काव्य में इनका महत्व नायक एकलव्य से कम नहीं है। द्रोण काव्य के नायक द्रोण ही हैं। सम्भव है कि 'रुद्रजी' ने तो द्रोण के चरित्र की उत्कृष्टता बताने के लिए ही एकलव्य-प्रसंग को नहीं छेड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'महाभारत' के द्रोण और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों के द्रोण में आज पर्याप्त अन्तर परिलक्षित होता है।

निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-काल के अधिकांश प्रबन्धकारों ने द्रोण के चरित्र को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत करते हुए उनके अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से एकलव्य-प्रसंग में उनके पूर्ववर्ती चारित्रिक कालुष्य को मौलिकता के साबुन से धो दिया है।

अश्वत्थामा :—

अश्वत्थामा द्रोण का पुत्र है। इसके चरित्र के दो रूप मिलते हैं। एक ओर तो वह अदम्य वीरत्व,[1] मैत्री की दृढ़ता,[2] उदारता[3] आदि गुणों से सम्पन्न है, दूसरी ओर युद्ध के अन्तिम दिन की रात्रि में द्रौपदी के पुत्रों, धृष्टद्युम्न तथा अन्य वीरों की हत्या के पाप से भी लांछित है।

सम्बन्ध द्रोण की हत्या से जोड़ा गया है। द्रोण का वध युद्ध करते हुए नहीं हुआ, अपितु ध्यानावस्था में धृष्टद्युम्न ने द्रोण का सिर काट डाला और इसीलिए अश्वत्थामा भी पितृघाती से प्रतिकार लेने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है।[1]

अश्वत्थामा को मानसिक क्षोभ के कारण, कवि बार-बार धृष्टद्युम्न के वध की प्रतिज्ञा कराता है।[2] इस प्रकार पाण्डव-पुत्रों की कथा को असत्य बताते हुए, अन्य कृत-प्रतिज्ञ वीरों के साधनों के अनुरूप अश्वत्थामा को हत्या के दोष से मुक्त कर, कवि ने अश्वत्थामा की चरित्र-सृष्टि को नया मोड़ दिया है; किन्तु गुप्तजी ने 'जयभारत' में इस पाप-कर्म की निन्दा की है। 'जयभारत' में अश्वत्थामा अपनी भूल को स्वीकार करता हुआ कहता है—

सचमुच ही मुझमें पाप पुण्य का अब क्या बोध बचा है ?
लेने को देकर और सभी कुछ, बस प्रतिशोध बचा है।[3]

प्रतिशोध की भावना के अतिरिक्त अश्वत्थामा का शेष चरित्र उसके शौर्य की प्रतिष्ठा के अनुकूल ही है। 'अंगराज' में उसका चरित्र 'महाभारत' और 'जयभारत' की ही भाँति चित्रित हुआ है।[4]

शल्य :—

'शल्य-वध' के अन्तर्गत शल्य का चरित्र भी महाभारत के अनुरूप है। वह अपने शौर्य, प्रणपालन, अद्भुत साहस और कर्त्तव्य-पालन में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता। प्रण-पालन के लिए वह अपने सम्बन्धियों की भी उपेक्षा करके संकट में उनके विरुद्ध हथियार सम्भाल लेता है। युद्ध को निन्द्य और बन्धु-विग्रह को दुर्भाग्यपूर्ण मानने वाला शल्य अपने कर्त्तव्य से विचलित होने वाला नहीं है। उसकी यह चारित्रिक विशेषता हमारी सम्बन्धित रचनाओं में भी सुरक्षित है।[5]

---

१. एकाकी लड़ूंगा, पितृदेव के निधन का
बदला न लूं जो धृष्टद्युम्न के रुधिर से
तर्पण उन्हें कर, न सींचूं धरातल को
शत्रुओं के शोणित से जाऊं मैं नरक में।
—सेनापति कर्ण, पृ० ३०।

२. वही, पृ० ३०।

३. जयभारत, पृ० ४१४।

४. अंगराज, पृ० २८७।

५. शल्यवध, पृ० ३१–३२।

जयद्रथ :—

'पांचाली', 'जयभारत' आदि प्रबन्धकाव्यों में दुःशला के प्रति जयद्रथ का चरित्र महाभारत के अनुरूप ही चित्रित हुआ है। वह कामुक,[१] कायर, शक्तिहीन[२] तथा तमोगुणी व्यक्ति है। उसमें शौर्य का अभाव है। 'जयद्रथ' में तो वह भीरुता से कर्त्तव्य को भी विस्मृत कर देता है,

> कर्त्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है।
> भय और चिन्ता युक्त मेरा जल रहा सब गात है।[3]

जयद्रथ के चरित्र में नवीनता का कोई पार्श्व दृष्टिगोचर नहीं होता। वह पिसीपिटी लीक पर ही चला है।

नल :—

'द्यूतक्रीड़ा' के अतिरिक्त नल के चरित्र में कोई दोष नहीं है और उसका यह दोष प्राचीन काव्यों की पद्धति पर अंकित हुआ है। 'नैषधीयचरितम्' तथा 'नलनरेश' आदि काव्यों में वह रूपवान, पराक्रमी, विद्वान, नीतिज्ञ और द्यूत विद्या में निष्णात, दृढ़ प्रतिज्ञ,[४] सत्यवादी, पराक्रमी, प्रियानुरागी,[५] पर-दुःख-कातर,[६] प्रजाहित-पालक[७] आदि गुणों से सम्पन्न है जो 'दमयन्ती' के नल में भी दिखाई देते हैं, और उसके अवगुण को भी कवि ने स्पष्ट शब्दों में बता दिया है—

---

१ पीनोष्ठ छोड़ दे दरिद्रता के बन्धन,
आ चल तू मेरे साथ सुकोमल नारी
अपने हाथों से कमल कली गूंथूंगा। —पांचाली, पृ० ६३।

२. दया करो मत मारो मुझको मैं हूं दास तुम्हारा।
—जयभारत पृ० २२६।

३. जयद्रथ वध, पृ० ४१ तथा देखिये—महाभारत, द्रो० ७५।१६।

४. दमयन्ती, पृ० १६३, २००।

५ वही, पृ० १६८।

६ वही, पृ० ४१।

७ प्रजाहित में ही सारे काम
सोचते हैं करते गुण धाम। —दमयन्ती, पृ० २४।

जहां गुण नृप में भरे अनेक।
वहां अवगुण भी उनमें एक—
छिपा है, कि वे खेलते द्यूत
हुए पर, इससे वे न अपूत।[१]

नल के चरित्र पर कुछ सामयिक प्रभाव भी पड़ा है। इससे उसमें कोई दुर्गन्ध नहीं आती। प्राचीन राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों में जनता दुःखी थी, जिसका कारण शासक वर्ग था। द्यूत-क्रीड़ा तत्कालीन शासकों की अभिरुचि का एक अंग बन गई थी। ऐसे समय नल जैसे सुराज्य संस्थापक राजा[२] का सद्चरित्र ही प्रजा के धर्म-कर्म में सहायक सिद्ध हो सकता है। नल चरित्र में यही संदेश मिलता है कि व्यक्ति अपनी विपत्तियों का निवारण सत्यता और धर्मज्ञता से कर सकता है।

'दमयन्ती' प्रबन्धकाव्य में समय की मांग के अनुसार ही नल के द्वारा समाज में नारी का अधिकार व अस्तित्व स्वीकार करवाया है। नल नारी की महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं—

विधि की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि यहां है
उसी शक्ति पर पूर्ण विजय नारीत्व रहा है।
अबला हो तुम किन्तु, विपद के बल हो तुम ही,
विश्व मरुस्थल है यह इसमें जल हो तुम ही।[३]

नारी नर के लिए बहुत बड़ा सम्बल है, उसका अपना अस्तित्व है। नारी के प्रति ऐसा उदात्त दृष्टिकोण 'महाभारत' के नल का दृष्टिगत नहीं होता है। नल वन में कोमलांगी दमयन्ती को कष्ट सहते देखकर दुःखी होते हैं और भावावेश में आकर उसे वन में एकाकी छोड़कर चल देते हैं। प्रिया को त्यागने का पश्चाताप उन्हें निरन्तर दग्ध करता रहता है।[४] अन्ततोगत्वा दमयन्ती-नल के पुनर्मिलन के समय भी नल अपने समस्त दुःखों से मुक्ति का श्रेय दमयन्ती को ही देते हैं।[५]

---

१. दमयन्ती, पृ० २४।
२. देखिये—महाभारत, वन० ५७।४३–४४।
३. दमयन्ती, पृ० २२०।
४. वही, पृ० २५१–५३।
५. वही, पृ० ३०१।

एकलव्य :—

महाभारत के गौण पात्र 'एकलव्य' का चरित्र स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्ध-काव्यों तक आते-आते बहुत कुछ बदल गया है। निषाद का तेजोमय बालक एकलव्य निषाद संस्कृति का ही प्रतीक है। उसने जीवन में संघर्ष करना सीखा है। निषादराज का पुत्र होने के कारण वह शिक्षित और सुसंस्कृत है। बार-बार 'निषाद' शब्द से सम्बोधित होने पर भी वह अपनी मर्यादा में स्थित है। उसने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने जीवन की दिशा नहीं बदली और धनुर्वेद में लाघव प्राप्त किया।[1] उसके चरित्र में दृढ़ निश्चय, जिज्ञासा, शील, साधना, गुरु-भक्ति आदि गुणों का अद्भुत मिश्रण है। इन्हीं के कारण वह इस युग में अवतरित हुआ है। एकलव्य ने जिस आचरण का परिचय दिया है, वह किसी उच्चकुल के व्यक्ति के लिए भी आदर्श है। वह 'अनार्य' नहीं, 'आर्य' है, क्योंकि उसमें शील का प्राधान्य है। यही उसमें महाकाव्य के नायक बनने की क्षमता है, भले ही वह 'सुर' अथवा 'सद्वंश' में उत्पन्न 'क्षत्रिय' नहीं है।[2] तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण ही गुरु द्रोण ने एकलव्य के शूद्र वर्ण होने के कारण विद्यादान का निषेध किया,[3] किन्तु उस अटल जिज्ञासी और सच्चे गुरुभक्त की भावना को कौन रोक सकता था ? गुरु द्रोण अपनी मर्यादा में रहे,[4] किन्तु शिष्य एकलव्य भी अपनी गुरुभक्ति को कैसे

---

१. एकलव्य (आमुख), पृ० ५ तथा देखिए स्तव।

२. वही, पृ० ६।

३. वही, पृ० ६ (स्तव)। (ख) किन्तु मेरे शिक्षण के ये ही अधिकारी हैं,
जो कि भूमिपुत्र नहीं, किन्तु भूमिपति हैं।
—एकलव्य, पृ० १२७।

४ राजा गुरु हैं, विशेष पद की मर्यादा है।
शिष्यनीति राजनीति के वशी बन है चलती।
. . .
जाओ, हे निषाद पुत्र ! तुम हो अस्वीकृत।
—वही, पृ० १२६-१२७।

लांछित कर देता ? मन के गुरु को[1] मन से ही प्रणाम कर लेता और निराश न होकर 'विकृत होगा उठा उर में जो रोग है' इस विश्वास के साथ ही वन में जाकर गुरुमूर्ति (मिट्टी की) के समक्ष अपनी साधना में रत होता है तथा अन्त में, सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।[2] उसके शर-संचालन को देख अर्जुन तक का घमंड चूर-चूर हो जाता है—

दृष्टि से ही पाण्डु पुत्र ऐसे ध्रुव लक्ष्य की,
एक दूसरे को देख-देख करते सराहना ।
निष्प्रभ से हो उठ, लगा उन्हें ऐसा कुछ,
जैसे उनका अभ्यास लघु बाल-क्रीड़ा हो ।
पार्थ का समस्त अहंकार क्षण भर में
गल गया, जैसे वह लघु हिमोपल हो ।
श्वान-मुख में न बाण मारे किसी वीर ने,
मारे बाण उसने हैं पार्थ-पुरुषार्थ में ।[3]

शिष्यत्व में वह अर्जुन से ऊँचा ही पड़ता है । गुरु तो गुरु ही हैं, एकलव्य अपने मिट्टी के गुरु की भी निन्दा नहीं सुन सकता, इसलिए वह अर्जुन को फटकारता हुआ कहता है—

"सावधान, आर्य ! गुरु-निन्दा एक क्षण भी,
सुन न सकूंगा आपके वाचाल मुख से ।
गुरु ज्ञान-दान निष्पक्ष करते हैं सदा,
शिष्य है जो प्राप्त करने में असफल है ।[4]

---

१. आप गुरु मेरे हैं, रहेंगे सब काल में,
हानि क्या ! प्रत्यक्ष नहीं, मेरे मन में तो हैं ।
नाम 'धनुर्वेद' सुना श्री-मुख से आपके,
और मुझे चाहिये क्या ! साधना तो मेरी है ।

—वही, पृ० १२७ ।

२. वही, साधना सर्ग ।

३. एकलव्य, साधना सर्ग पृ० २५० ।

४. वही, पृ० २५८ ।

अपनी साधना में आत्मविस्मृत हो वह नित्य शत-शत लक्ष्यों का संधान करता है। गुरु के संकेत से उसके समक्ष नये-नये रूपों में नई-नई बाण-विद्या साकार हो उठी। आकर्षण, विकर्षण, पर्याकर्षण, अनुकर्षण, मण्डलीकरण, पूरण, स्थापण, आसन्नपत आदि का लक्ष्य-भेद करने में वह पूर्ण कुशल है।[1]

यही नहीं वह अपनी गुरुभक्ति का सच्चा परिचय उस समय देता है, जब गुरु द्रोण पार्थ के साथ उसके आश्रम में पहुंचते हैं और पार्थ को दिए गए अपने प्रण को सुनाते हैं तो एकलव्य 'हाथ में न लूंगा कभी शर-शरासन' की प्रतिज्ञा करता है। वह नहीं चाहता कि प्रतिज्ञा पूरी न हो सकने के कारण गुरु का हृदय खण्ड-खण्ड हो। इसलिए गुरु-दक्षिणा में अपना दक्षिण अंगुष्ठ ही खण्ड-खण्ड कर पार्थ को अद्वितीय धन्वी बनाने की गुरु-प्रतिज्ञा की रक्षा करता है[2] और संसार के समक्ष एक नया आदर्श प्रस्तुत करता है।

उसके अपूर्व त्याग को देख आचार्य द्रोण अर्जुन से कहते हैं—

"गुरु-भक्ति ऐसी जो भविष्य के भाल पर,
तिलक बनेगी रवि-रश्मि को समेट के।
पार्थ रक्त देखो इस एकलव्य वीर का,
जो कि राज-वंश से भी धोया नहीं जाएगा।"[3]

विश्व चाहे अर्जुन को अनुपम धनुर्धर मानले किन्तु आज पार्थ तो इस बात को नहीं मान सकता। अर्जुन को तो एकलव्य की इस घटना से ऐसा लगता है मानो वह उससे गुरु-भक्ति का पाठ सीख रहा है—

'क्षमा करो, एकलव्य ! मेरी धृष्टता।
काटा है अंगुष्ठ, किन्तु बाण ऐसा छोड़ा है,
जो चढ़ा न पाऊंगा कभी धनुष पर मैं।
क्षमा करो, गुरु-भक्ति सीखी आज तुम से।
मैंने राजवंश की मद-भावनाओं से।
गुरु को था हीन माना। तुमने निषाद हो,
गुरु का महत्व सिखलाया इस विश्व को।"

---

१. वही साधना सर्ग, पृ० १०७-१०८ ;
२. एकलव्य, पृ० २१६ ।
३. वही पृ० २१२ ।

अनुरागी[1] हैं। उनका मोहक व्यक्तित्व उर्वशी जैसी अप्सराओं को भी आकृष्ट कर लेता है।[2] पुरूरवा के चारित्रिक गुणों का वर्णन उर्वशी में स्थान-स्थान पर हुआ है।[3] पुरूरवा एक भावुक प्रेमी हैं, वे उर्वशी पर इतने आसक्त हैं कि—

"जिधर-जिधर उर्वशी घूमती देव उधर चलते हैं,
तनिक श्रान्त यदि हुई व्यञ्जन पल्लव-दल से झलते हैं।"[4]

इस प्रकार वे उर्वशी के सौन्दर्य से पूर्ण रूपेण प्रभावित हैं।[5]

पुरूरवा ने उर्वशी के लिए अपने हृदय का सर्वस्व उँडेल दिया है।[6] उर्वशी-प्रेम उन्हें अपनी पत्नी औशीनरी के प्रति उदासीन बना देता है। वे उर्वशी के साथ गन्धमादन पर्वत पर चले जाते हैं। एक सुयोग्य राजा होते हुए भी वे पति के आदर्श का तनिक भी ध्यान नहीं रखते और सैनिकों के साथ अपनी परणीता पत्नी के पास झूठा संदेश तक भिजवाने में संकोच नहीं करते—

करती रहे प्रार्थना त्रुटि हो नहीं धर्म साधन में,
जहां रहूं मैं भी रत हूं ईश्वर के आराधन में।[7]

---

१. पार्थिवेश सम नर, देवताओं के गुरु सम ज्ञानी,
रवि-सम तेजवन्त सुरपति के सदृश प्रतापी मानी;
धनद-सदृश संग्रही, व्योमवत् मुक्त जलद-निभ-त्यागी,
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुध से अनुरागी।
—उर्वशी, अंक २, पृ० ३५।

२. उर्वशी, पृ० ३५।

३. (क) वही, अंक ३, पृ० ५०। (ख) वही, अंक २, पृ० १२।
(ग) वही, अंक २, पृ० ३७।

४. वही, अंक २, पृ० ३२।

५. मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ मृग,
वक्ष पर धर शीश मरना चाहता हूँ
मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूँ—
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।
—वही, अंक ३, पृ० ४१।

६. वही अंक ३, पृ० ४०-४१ तथा देखिये—अंक ३, पृ० ४६-५८।

७. वही, अंक ३, पृ० ४६।

इस प्रकार उर्वशी को ही सर्वस्व मान बैठने वाले राजा पुरुरवा का चरित्र दोष से मुक्त भी नहीं कहा जा सकता। काव्य के अन्त में कवि ने इस मांसल प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम में परिणित कर दिया है और काव्यनायक के चरित्र का परिमार्जन करने का असफल प्रयत्न किया है।[1]

सारांशत: पुरुरवा का चरित्र परम्परा की भूमिका पर भी नवीनता के वर्णों में चित्रित किया गया है।[2]

नचिकेता :—

स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में नचिकेता के चरित्र की कोई विशिष्ट परम्परा उपलब्ध नहीं होती। आलोच्य युग की प्रबन्ध कृति 'आत्मजयी' का नायक नचिकेता के चरित्र-चित्रण का आधार कठोपनिषद् का 'नचिकेता-आख्यान' है। 'आत्मजयी' में कवि ने नचिकेता के अतिप्राकृत और अतिमानवीय रूप का बहिष्कार, स्वप्न[3] आत्महत्या का प्रयत्न,[4] अचेतावस्था[5] आदि स्वाभाविक वृत्तियों के माध्यम से, करके आज के युग के संदर्भ में उसकी मानवीय स्थिति को ही दृष्टि में रखा है। नचिकेता आज के चिन्तनशील मनुष्य की तरह ऐसे मूल्यों के लिए जीना चाहता है जो जीवन में केवल सुख ही नहीं सार्थकता का भी बोध करा सके।[6] उसके अन्दर सत्य की खोज के लिए बृहत्तर जिज्ञासा है। वह सत्य की खोज में अपने हित को गौण मानता है, तथा कायिक जीवन को स्वप्न समझता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह अपने आप को काल (यम) को सौंप देता है। नचिकेता की चिन्ता अमर जीवन की चिन्ता है, इसलिए उसने ऐन्द्रिय सुखों के आधार पर जीवन से समझौता नहीं किया अपितु उसने उस चरम लक्ष्य के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया जो उसे पाने योग्य लगा। यम के द्वारा उसे आत्म-ज्ञान का साक्षात्कार होता है और वह श्रेष्ठ का वरण[7] करता है। अपनी आत्म-शक्ति का परिचय नचिकेता को यम के इन शब्दों में मिलता है—

---

१. उर्वशी, अंक ५, पृ० १४४–१४५।
२. देखिये—उर्वशी, भूमिका, पृ० 'ख'।
३. आत्मजयी : नचिकेता का विषाद पृ० २२–२८।
४. वही, आत्महत्या का प्रयत्न, पृ० ४२–४८।
५. वही, पृ० ५०–५२।
६. गलत जीने से
सही बातें गलत हो जाती हैं। —आत्मजयी, पृ० ६
७. वही, श्रेष्ठ का वरण, पृ० ७४–७५।

"नचिकेता, तू केवल
इन्द्रियों की अपेक्षा ही उदास है ।
उस अव्यय आत्म-चेतना को पहचान
सच्चिदानन्द रूप
जो शुद्ध ज्ञान है · तुझसे दूर नहीं
तेरे ही आसपास है ।''[1]

कवि ने नचिकेता को उपनिषद्कालीन आत्म-पक्ष का प्रतीक माना है तथा उसके पिता वाजश्रवा को वैदिक-कालीन वस्तुवादी दृष्टिकोण का प्रतीक है ।[2] 'सच पूछा जाय तो नचिकेता के सारे असंतोष और विद्रोह का मूल कारण ही यह वस्तुवादी दृष्टिकोण है जो मृत्यु के आगे उसे कोई सान्त्वना नहीं दे पाता । नचिकेता जीवन के प्रति असम्मान नहीं दिखाता, क्योंकि उसके स्वभाव में कुण्ठा या विकृति नहीं । बाद में उसका जीवन को फिर से स्वीकार करना, इस बात का द्योतक है कि उसका विरोध जीवन से नहीं, उस दृष्टिकोण से है जो जीवन को सीमित करे ।''[3] 'कठोपनिषद्' के नचिकेता को कवि ने आधुनिक युग के संदर्भ में चित्रित किया है ।[4]

भृङ्गी ऋषि :—

'तारकवध' में इनको नायक का स्थान मिला है । भृङ्गी ऋषि गिरीश ऋषि के पुत्र और कार्तिकेय के अवतार हैं ।[5] पुराणों के प्रसिद्ध कथानकानुसार असुर तारक का वध भृङ्गी ऋषि के द्वारा दिखलाया गया है । वस्तुतः तारकासुर का दैहिक वध भृङ्गी ऋषि के द्वारा नहीं होता, वे उसकी आसुरी वृत्तियों और चिन्तन-धारा में अपने सत्य, सदाचार, सहिष्णुता, त्याग, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि सात्विक गुणों की सहायता से परिवर्तन ला देते हैं । तारकासुर का यह हृदय परिवर्तन ही उसका वध है ।[6]

शृङ्गी ऋषि विश्व के कल्याणार्थ सतत प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं। वे एक श्रेष्ठ आदर्श मानव हैं। उनके चरित्रांकन में कवि महात्मा गांधी के अहिंसा आन्दोलन से अधिक प्रभावित दीख पड़ता है। शृङ्गी ऋषि महान् अत्याचारी और दुर्दम्य पशुशक्तिसम्पन्न तारकासुर के अनाचारों का प्रतिरोध भी पूर्ण अहिंसा के साथ करते हैं और अन्ततः उसके हृदय की पाशविक वृत्तियों में परिवर्तन करने में सफल हो जाते हैं।[1]

स्वामीकार्तिकेय के द्वारा तारकासुर के वध की पौराणिक कथा के प्रसंग को लेकर शृङ्गी ऋषि के द्वारा तारकासुर के वध (आसुरी वृत्तियों में परिवर्तन) की संघटना को नयी भूमिका देते हुए कवि ने शृङ्गी ऋषि को कार्तिकेय का अवतार मानकर नवीन उद्भावना की है।[2]

द्रौपदी :—

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्य—'सेनापति कर्ण', 'कौन्तेय-कथा', 'रश्मिरथी', 'पांचाली', 'दौपदी', 'जयभारत' आदि में दौपदी का चरित्र पारम्परिक परिप्रेक्ष्य में चित्रित हुआ है। इन काव्यों में दौपदी का चरित्र महाभारत की दिव्यता से मण्डित है, यद्यपि युगानुसार उसमें आवश्यक परिवर्तन भी कर दिये गये हैं।

वह पंच तत्वों (पांचों पाण्डवों) की कल्याणी तथा जीवनीशक्ति है।[3] उसका चरित्र दिव्य है। वह प्रेरणा दायिनी और नारी शक्ति का दृप्त दीप्त प्रतीक है।[4] वह नारी के कर्तव्यों की प्रतिमा है।[5] पतिव्रता[6], दौपदी को अपने पतियों पर तथा अपने सतीत्व पर पूर्ण विश्वास है।[7] अग्निकुमारी

---

१. 'आज मिटा सन्देह हृदय में था जो भारी'

—तारकवध, सर्ग १६, पृ० ५३६।

२. शृङ्गी ऋषि में कार्तिकेय में तनिक न अन्तर। —वही, पृ० ४६५।

३. द्रौपदी जीवनी शक्ति,
पंच तत्त्वों की वह कल्याणी। —द्रौपदी, पृ० १२।

४. देखिये—वही, भूमिका, पृ० ८।

५. जयभारत, पृ० १६१।

६. वही, पृ० २२५।

७. वही, पृ० २२६।

तथा सती पत्नी के गौरव के साथ[1] उसमें नारी हृदय की दयालुता[2] का समावेश है। वह साक्षात् युद्ध-नीति में भाग लेने वाली[3] तथा पाण्डवों को प्रेरणा देने वाली[4] भी है। 'पांचाली' में वह पुरुषार्थ का समर्थन करते हुए अपने अत्याचार के नाश के लिए अपमान भी सहती है।[5] रांगेय राघव ने द्रौपदी के चरित्र को तत्कालीन दास-प्रथा के प्रकाश में चित्रित करने का प्रयास किया है।[6]

द्रौपदी के चरित्र का मूल आधार तो महाभारत ही है, किन्तु भावनाओं की प्रेरणा से वह आदर्श नारी के रूप में चित्रित हुई है। इस सम्बन्ध में 'अंगराज' अपवाद है। इसमें द्रौपदी का चरित्र-चित्रण पृथक वर्णों में व्यक्त हुआ है।

'अंगराज' में द्रौपदी का चरित्र कालुष्य-मुक्त नहीं है। कवि ने इसे चण्टा,[7] नटिका, जघनचपली,[8] (चंचला, बहुगामिनी, असती, नर्तकी) आदि नाम प्रदान कराये हैं। सम्भवतः यही कारण है कि चीर-हरण प्रसंग में उसकी आर्त-पुकार सुनकर भी भरी सभा में उसके प्रति न तो कोई दया दिखाता है और न लाज की रक्षा हेतु कोई उपाय ही करता प्रतीत होता है।[9] यहां तक कि कर्ण जैसा व्यक्ति भी उसे अनार्य-मूर्ति मानता हुआ अनेक अपशब्दों से सम्बोधित करता है—

> री पर्णांगना, सती नाम का व्यर्थ न कर उपहास।
> तव चरित्र में कहीं न मिलता है सतीत्व-आभास॥
> पंचभोगिनी तू वेश्या है, कुल मर्यादा-भ्रष्ट
> और युधिष्ठिर, भीम पार्थ, पर मद पंद है स्पष्ट।[10]

पति का रहता है।[1] अपने बच्चों को कुमार्ग पर चलते देख वह बार-बार सुयोधन को समझाती रहती है कि धन के लोभ के लिए विपत्ति को निमन्त्रण मत दे; किन्तु उसका पुत्र-मोह सबसे प्रबल है।[2] गान्धारी को अपनी विधवा पुत्र-वधुओं का अपने पतियों के साथ क्रन्दन विलाप सुनकर अत्यन्त क्षोभ होता है।[3] उसका ममत्व जाग उठता है और वात्सल्य से विवश हो वह प्रश्नवाचक रूप में ही नहीं कृष्ण को शाप देती है—

कुरु कुल सरीखा वृष्णि कुल भी लड़ परस्पर नष्ट हो,
तो पूछती हूँ कृष्ण, क्या तुमको न इसका कष्ट हो ?[4]

फिर शान्त होकर क्षमा याचना चाहती हुई कहती है—

क्या कह गई मैं हाय, मेरा दोष देव क्षमा करो।[5]

किन्तु स्थित-प्रज्ञ महाशोक से कुपित, सहनशीला गान्धारी की अवज्ञा कृष्ण भी न कर सके अतः उन्होंने उनका शाप स्वीकार किया।[6] इसी प्रकार 'अन्धायुग' में भी गान्धारी कृष्ण को कुल-नाश का शाप देकर पश्चात्ताप प्रकट करती है।[7]

'द्रौपदी' में अपने सौ पुत्रों की मृत्यु के बाद भी उदार हृदया गान्धारी रहे-सहे पाण्डवों के विनाश को नहीं देखना चाहती।[१]

गान्धारी हमारे काव्यों में भी पुरानी ही है। हां कुछ प्रसंगों में उसके चरित्र को मौलिकता की संपृक्ति प्राप्त हुई है, जो नगण्य सी है।

कुन्ती—

'जयभारत', 'सेनापति कर्ण', 'रश्मिरथी', 'अंगराज' आदि में कर्ण-कुन्ती प्रसंग को लेकर कवियों ने कुन्ती के चरित्र को तत्कालीन सामाजिक परिवेश के साथ मानसिक द्वन्द्व के आलोक में चित्रित किया है। कुन्ती के परम्परागत चरित्र की विशेषताओं-सहनशीलता, त्याग, विनयशीलता, गुणग्राह्यता, अतिथि-सेवा, परोपकार की भावना आदि ने उसे एक आदर्श नारी का रूप प्रदान किया है, परन्तु क्वारी के गर्भ से उत्पन्न कर्ण को त्याग ने से उसे कटु आलोचना से मुक्ति नहीं मिली है। 'जयभारत' में उसके मातृत्व,[२] उत्साह,[३] निर्भीक स्वाभिमान,[४] वीर क्षत्रियत्व[५] आदि गुण परम्परागत रूप में ही अंकित किये गये हैं। आज के मानवता-वादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर कवियों ने 'रश्मिरथी' तथा 'सेनापति कर्ण' में कुन्ती को सामाजिक पृष्ठभूमि पर[६] पाश्चाताप की अग्नि में सन्तप्त एवं मानसिक व्यथा से पीड़ित दिखाकर,[७] उसके

---

१. सहनशील नारी की कोई
   करता नहीं अवज्ञा।
   गान्धारी का शाप शीश पर
   लिया देवकी सुत ने
   महाशोक से कुपित हुई जब,
   गान्धारी स्थित प्रज्ञा। —द्रौपदी पृ० ५२।

२. देखिये—जयभारत, पृ० १००।

३. वही, पृ० ३३५।

४. वही, पृ० ३३३–३३५।

५. "मरने में ही जीने वाले जनती हैं हम क्षत्राणी।" —वही, पृ० २४४।

६. देखिये—रश्मिरथी, पृ० ८६–८८।

७. पाप की घड़ी में जन्म मैंने लिया। पाप में,
   जिस घड़ी आयी हो शरीर यही पाता है,
   पुत्रघ्नी पृथा की चिता में आज सारा ही
   भस्म पाप पुञ्ज मेरा होगा।
   —सेनापति कर्ण, पृ० २२५ तथा देखिये पृ० ११८ पर भी।

चरित्र का परिष्कार किया है। परन्तु 'अंगराज' के कवि ने (संभव है पाण्डव विरोधी भावना के कारण ही) कुन्ती की वास्तविक व्यथा को जानने का प्रयास नहीं किया। अंगराज में कवि ने कुन्ती के हृदय की कर्ण के प्रति पुत्र-स्नेह की भावना को शंका की दृष्टि से देखा है और कर्ण के साथ हुए उसके वार्तालाप[1] को कपटपूर्ण माना है। अंगराजकार ने कुन्ती को पाण्डवों के प्राणों की भिक्षा मांगने वाली तथा निज दुष्कर्म की क्षमा याचना करने वाली बताकर उसके परम्परागत आदर्श चरित्र को नीचा गिरा दिया है।[2]

इस प्रकार हमारे कवियों ने कुन्ती को अपने-अपने दृष्टिकोण से नवीन रूपों में चित्रित किया है। समग्र रूप में हम कह सकते हैं कि 'अंगराज' के अतिरिक्त अन्य सभी प्रबन्धकाव्यों में कुन्ती को एक आदर्श नारी के रूप में ही चित्रित किया गया है। कुमारी अवस्था में पुत्र-जन्म की घटना को भी कवियों ने मानवीय उदारता की दृष्टि से देखकर गर्हित नहीं बनने दिया है।

हिडिम्बा—

हिडिम्बा का चरित्र महाभारत के अनुरूप ही चित्रित हुआ है। फिर भी 'सेनापति कर्ण', 'जयभारत', 'हिडिम्बा' आदि में इसके चरित्र के परिष्कृत रूप का प्रस्तुत हुआ है। गुप्तजी हिडिम्बा के राक्षसी चरित्र में मानवता का समावेश करते हुए युधिष्ठिर के मुख से उसके निम्नांकित गुणों की प्रशंसा करवाते हैं—

> आई मातृ वंश में हिडिम्बा किसी भूल से,
> वैसे सुसंस्कार यह रखती है मूल से,
> स्त्री का गुण रूप में है और पुरुष शील में,
> पद्मिनी की पंकजता हुवे किसी भील से ॥[3]

महाभारत की हिडिम्बा में आर्य नारी के गुणों का अभाव है।[4] [illegible]

उपरान्त अपने आपको बड़ी चतुराई से भीमसेन के समक्ष पूर्ण रूप से समर्पित कर देती है।[1] उसने तो अपने मन में भीम को प्रथम भेंट में ही पति रूप में स्वीकार किया था अतः अपने भाई से जबकि वह भीम को मारने के लिए उद्यत होता है तो कहती है—

'सावधान ! मैं वर चुकी हूँ इसे मन में।'[2]

हिडिम्बा अपने मनोरथ को प्रकट करती हुई,[3] तथा कुल की यथार्थता का परिचय देती हुई भीम को अपनी सत्यवादिता से प्रभावित[4] कर लेती है और बड़ी चतुराई से अपना भार भीमसेन पर डाल देती है।[5]

हिडिम्बा का जन्म राक्षस कुल में होने पर भी[6] उसका त्याग और पातिव्रत्य आर्य ललनाओं से किसी भी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। वह पतिव्रता धर्म पर पूर्ण विश्वास रखती है तथा अपने पति को दोनों लोकों को रंजित करने वाला मानती है।[7] यहां तक कि आर्यत्व से परिपूर्ण हिडिम्बा का मन घटोत्कच को इसलिए प्रताड़ित करता है कि वह पितृ निंदक है।[8] वस्तुतः हिडिम्बा को पुत्र मोह से अधिक पति मोह है—

'पुत्र मोह रोक क्या सकेगा पति मोह को ?'[9]

इसीलिए तो वह दानवों से युद्ध की सूचना मिलने पर प्राणपति को सहारा देने की इच्छा से[10] अपने पुत्र से पितृ कुल की रक्षा की याचना करती हुई कहती है—

---

१. देखिये—वही, पृ० ८३-८४।
२. वही, पृ० ७६।
३. ,, ,, ७८।
४. ,, ,, ७६।
५. ,, ,, ८२।
६. देखिये—जयभारत, पृ० ८३।
७. सेनापति कर्ण, पृ० ७६।
८. वही, पृ० ७८।
९. वही, पृ० ७६।
१०. वही, पृ० ६५।

"वत्स ! आज सुख से
करती अनृण हूँ तुम्हें मैं मातृऋण से
तुमको मिला है योग पौरुष दिखाने का
आज वत्स ! जाओ करो रक्षा पितृ कुल की,
जननी तुम्हारी करती है यही याचना।"[1]

इससे प्रतीत होता है कि संकट में पड़े स्वामी का सहायतार्थ शौर्य से मंडित हिडिम्बा स्वयं युद्ध के लिए प्रेरित होती है और कुरुवंश के नाश का प्रण लेती है।[2]

अतः यह कहना उचित ही होगा कि हमारे कवियों ने हिडिम्बा के परम्परागत चरित्र का परिष्कार कर दिया है और उनको मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसते हुए स्त्रियोचित शाश्वत गुणों के आधार पर चित्रित किया है। नारी के त्याग व बलिदान तथा पति के प्रति अक्षय निष्ठा-भाव को सर्वोपरि बताते हुए हिडिम्बा चरित्र को किसी द्रौपदी व सुभद्रा से कम नहीं बताया गया है। वस्तुतः एक राक्षसी में इन गुणों का पाया जाना एवं जाति के लिए आदर्श ही है। आलोच्य काल के कवियों ने हिडिम्बा के अन्तर्द्वन्द्व के रूप में पुरुष की शाश्वत कठोरता और नारी की अतुल्य ममत्व अङ्कित कर अपनी मौलिक तथा दार्शनिक दृष्टि का परिचय दिया है।

दमयन्ती—

दमयन्ती नारी-जगत के लिए अनुकरणीय बन जाती है।[१] दशम सर्ग में द्यूत-क्रीड़ा प्रसंग के पश्चात् दमयन्ती को बीहड़ वन में नल द्वारा सोते हुए छोड़कर चले जाने पर उसका हृदय-विदारक विलाप[२] एकनिष्ठ पतिप्रेम का ही परिचायक है।

हारीत जी की दमयन्ती महाभारतीय दमयन्ती की तरह देवताओं से प्रार्थना नहीं करती अपितु उसका आत्मविश्वास[३] इतना प्रबल है कि स्वयंम्बर के विषय में न तो पिता[४] और न देवता ही इसकी इच्छा में अवरोध बन सकते हैं।[५] अवसर पर दमयन्ती अपने सतीत्व की रक्षा के लिए सशक्त विद्रोह भी करती दिखाई देती है।[६] और आवश्यकता पड़ने पर खड्ग उठाने में भी नहीं चूकती।[७] पातिव्रत्य नष्ट करने वाले के लिए वह साक्षात् कालावतार है।[८] वस्तुतः उसकी पति-भक्ति विश्व में नारियों के लिए एक आदर्श है[९]—

> राज्य के चलवा रही बहु काम,
> दे स्वपति का योग, सोग्या वाम।[१०]

इस तरह हम देखते हैं कि पौराणिक नलोपाख्यान की दमयन्ती का चरित्र आलोच्य काल के काव्यों तक आते-आते परम्परा की अ
हुए युगानुकूल चित्रित हुआ है।

---

१. देखिये—दमयन्ती, पृ० १६० ।
२. वही, पृ० २२६–२३० ।
३. ,, ,, ७० ।
४. ,, ,, १३६ ।
५. ,, ,, ७० ।
६. ,, ,, १३६–१३७ ।
७. ,, ,, २३२ ।
८. दमयन्ती, पृ० २३२ ।
९. वही, पृ० १३८ ।
१०. दमयन्ती, पृ० १५४ ।

पार्वती :—

शिव की अर्धांगिनी और आद्या-शक्ति-पार्वती "पार्वती" महाकाव्य की नायिका है। उनके चरित्र का यह रूप सम्पूर्ण महाकाव्य में छाया हुआ है।[1] उनमें तपोनिष्ठता,[2] पातिव्रत्य,[3] लज्जाशीलता,[4] मर्यादा भाव,[5] अपने उग्रतप से शिव को प्राप्त करने का दृढ़ विश्वास[6] आदि गुणों की प्रतिष्ठा शिवपुराण और कुमार सम्भव की परम्परा में ही दिखाई पड़ती है। कवि ने लोक मर्यादा का ध्यान रखते हुए उनके चरित्र में शील और लोक मंगल की कामना की सुन्दर सृष्टि की है। परिणामतः पार्वती का चरित्र भारतीय नारी का आदर्श बनकर पृथ्वी तल पर ही स्वर्ग-सा अवतरित हुआ दिखाई देता है, यथा—

तपः ज्योति से पूत उमा-सी उज्जवल नारी,
स्नेह-शक्ति से बना सहज नर का त्रिपुरारी;
गृह-गृह में शिव वास दिव्य कैलाश बनाती,
भू में कृति स्थिति दृष्टि-कृपा से स्वर्ग मिलाती।[7]

शारीरिक चेष्टाओं के प्रति अधिक आकर्षित है। अनेक रति दशाओं के कल्पना चित्रों में राधा के वासनाग्रस्त स्वरूप का अंकन हुआ है—

"मेरे अध खुले होठ कांपने लगे हैं
और कण्ठ सूख रहा है
और पलकें आधी मुंद गयी हैं
और सारे जिस्म में जैसे प्राण नहीं है
मैंने कसकर तुम्हें जकड़ लिया है
और जकड़ती जा रही हूं
और निकट, और निकट
कि तुम्हारी सांसें मुझमें प्रविष्ट हो जांय
तुम्हारे प्राण मुझमें प्रतिष्ठित हो जांय
तुम्हारा रक्त मेरी मृतप्राय शिराओं में प्रभावित होकर
फिर से जीवन संचरित कर सके—
और यह मेरा कसाव निर्मम है
और अन्धा, और उन्माद भरा; और मेरी बांहें
नागवधू की गुंजलक की भांति
कसती जा रही हैं
और तुम्हारे कन्धों पर, बांहों पर होठों पर
नागवधू की शुभ्र दंत-पंक्तियों के नीले-नीले चिह्न
उभर आये हैं।"[1]

कोई प्रबन्धकाव्य आलोच्यकाल के अन्तर्गत् लिखा हुआ नहीं मिलता। उन दोनों प्रबन्धकाव्यों में क्रमशः महावीर स्वामी और ईसा के आत्मत्याग, अहिंसा व मानवकल्याणकारी भावना से युक्त जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

महावीर :—

जैन धर्म के उन्नायक भगवान् महावीर का चरित्र स्वातन्त्र्योत्तर प्रबंध-काव्य 'वर्द्धमान' में ही अंकित हुआ है। पूर्ववर्ती हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में इनके चरित्र का इतना विस्तृत स्वरूप देखने को नहीं मिलता। महावीर 'वर्द्धमान' काव्य में नायकत्व के पद पर प्रतिष्ठित हैं। महावीर के पांच नाम—वीर, अतिवीर, महावीर, सन्मति और वर्द्धमान—इनके गुणों पर ही आश्रित हैं।[१]

२८ वर्ष की आयु तक उनका संसार से विराग हो जाता था, परन्तु परिजनों के आग्रह के कारण उन्होंने दो वर्ष के लिए गृह-त्याग स्थगित कर दिया और इस काल में त्याग को सभी गुणों मे श्रेष्ठ मानते हुए दूर-दूर से याचकों को बुला-बुलाकर समस्त सम्पत्ति का दान कर दिया।[1]

उन्होंने संन्यासग्रहणानन्तर बारह वर्ष तक उपवास कर कठोर तपस्या की। उन्हें तपस्वी रूप में अनेक कष्ट उठाने पड़े, किन्तु उन्होंने धर्म का त्याग नहीं किया। महावीर कामदेव द्वारा परीक्षण किये जाने पर भी खरे उतरते हैं।[2] इस प्रकार कठोर तपश्चर्या से अपने पूर्व-कृत कर्मों का क्षय करते हुए उन्होंने क्षमा, मृदुता, आर्जव, असन्तोष, उदारता आदि आत्मिक गुणों का संचयन किया।[3] 'वर्द्धमान' में महावीर स्व-धर्म प्रचारक एवं अहिंसा के उपदेशक के रूप में चित्रित हुए हैं।[4] 'विश्व में अहिंसा परम धर्म है' का संदेश देकर वे हिंसारत मानवता को नया मार्ग दिखलाते हैं।

इस प्रकार महावीर के चरित्र को 'वर्द्धमान' में उनके इतिहास प्रसिद्ध गुणों और विशेषताओं के आधार पर ही चित्रित किया गया है। जैन धर्म के अनुसार महावीर ईश्वर कोटि तक पहुंचते हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कवि ने उन्हें इसी रूप में देखा है।

ईसा :—

'अमृतपुत्र' में ऐतिहासिक पात्र ईसा की चरित्र-सृष्टि सालमान और मगदली नामक दो पात्रों के माध्यम से हुई है। दोनों पात्र ईसा के अनन्य भक्त हैं। इनके लिए ईसा ईश्वरावतार है। नासरा प्रान्त की जो भूमि अत्यन्त पवित्र समझी जाती थी, जहां राजा प्रजा से दूर रहते थे, जहां लोग राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक यन्त्रणाओं के शिकंजे में बुरी तरह जकड़े

चन्द्रगुप्त का यह आचरण अनुचित नहीं कहा जा सकता। 'विक्रमादित्य' के कवि ने ऐतिहासिक पात्र चन्द्रगुप्त के पारम्परिक चरित्र के युगानुकूल चित्रित किया है।

ध्रुवस्वामिनी :—

ध्रुवस्वामिनी 'विक्रमादित्य' में नायिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। वह अनिंद्य सुन्दरी, धीरा, वीरा व स्वाभिमानी नारी है। वह अपने अधिकारों के प्रति सतर्क है। अपनी मान–मर्यादा को खोने की अपेक्षा वह अपने शीश को देना उचित समझती है। शत्रु से प्रतिकार लेने में वह कुशल है। विलासी और भीरु सम्राट रामगुप्त शक-शासक रुद्रसिंह से डरकर ध्रुवस्वामिनी (महारानी) को देने का प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु जब साम्राज्ञी को इस बात का पता चलता है, तो वह सम्राट को उसकी कायरता पर धिक्कारती हुई कहती है —

कृष्ण प्रेम में सरोबार होकर गौर घर रह पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं तब उन्हें गृह-प्रयाण से रोकती हुई विष्णुप्रिया कहती है—

"मेरे प्राण मांगलो प्रयाण ही न मांगों यों ।[1]

विष्णुप्रिया को गौर सोती हुई छोड़कर चुपचाप चले जाते हैं। गौर के संन्यस्त होने का वृतान्त सुनकर उसका नारीत्व आहत हो उठता है—

'अबला के भय से भाग गये थे उससे भी निर्बल निकले,
नारी निकले तो अ-सती है नर-यती कहाकर चल निकले।"[2]

विष्णुप्रिया पति के संन्यास ग्रहण को अनुचित मानती हैं। कवि ने स्वप्न योजना के रूप में गौर की अति मानवीय शक्ति को प्रस्तुत कर विष्णुप्रिया के दृप्त बल और स्वत्वशील नारीत्व को व्यक्त किया है।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों से बाण स्पष्टवादिता, स्वाभिमानता, पाण्डित्य और निर्भीकता परिलक्षित हो रही है जिन्हें उसके चरित्र के स्वाभाविक गुणों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उसका असाधारण व्यक्तित्व कृति में सर्वत्र छाया हुआ है। दृढ़ निश्चय और कलानुराग इसके चरित्र के विशेष गुण हैं।

किन्तु दूसरी ओर, बाल्यकाल से ही मातृ-स्नेह से वंचित बालक बाण पिता के स्नेह को पाकर भी अपनी विशाल मित्र-मंडली में ही सुखानुभव करता है। पिता के लिए वह निरंकुशलकुपुत्र कुल में कलंक सा प्रतीत होता है।[1] पिता की मृत्यु और यौवनारम्भ ने बाण की उच्छृङ्खलता को और भी प्रश्रय दे दिया है। 'देशान्तरावलोकनकौतुकक्षिप्त हृदयः'[2] कहने वाला, भ्रमणशील तथा जिज्ञासु युवक बाण यात्रानुभूति के लिए घर से चल देता है—

अब दान यही दो जब रेखो,
दृग भारत का भूतल देखें,
बरसे विभूति
ढूं-ढूं मैं आर्यावर्त-हृदय
वर्षों तक करूं नित्य सञ्चय
यात्रानुभूति।[3]

उपर्युक्त कथन से बाण के अन्तर्मन की उत्सुकता का कारण भी स्पष्ट हो जाता है।[4] निर्लोभी, स्वाभिमानी, निर्भीक और स्वतन्त्रचेता[5] बाण अपने

---

१. भानु पुत्र निर्लज्ज, चपल, निष्प्रभ अभिनेता ?
मंजुल मन में कौन अंध आंधी भर देता ?
मुझसे भी क्या मित्र मंडली सुखदाई है ?
वात्स्यायन-नभ में क्यों यह बदली छायी है ?
—बाणाम्बरी, सर्ग १, पृ० ६।

२. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, पृ० ६७।

३. बाणाम्बरी, सर्ग ३, पृ० ६८।

४. अन्तर्मन उत्सुक अब भारत-दर्शन-हित-
काव्यात्म-सिद्धि-हित नित मन प्राण प्रियासित,
मैं मगध-कूप-मण्डूक नहीं, मानव हूं
कण्टकाकीर्ण-दश दिग्पथ का कलख हूं। —वही, सर्ग ३, पृ० २४।

५. मैं न हर्ष का सेवक जो भय से अकलाऊं
क्यों जाऊं, मैं क्यों जाऊं, मैं क्यों, क्यों जाऊं?
चाटुकार मैं नहीं, न कुछ भी लोभ नहीं है,
जो स्वतन्त्रता यहां मुझे वह वहां नहीं है,
मेरे गृह ने राज भवन को कभी न देखा,
आश्रित कभी न रही किसी दिन जीवन रेखा।
—वही, सर्ग १०, पृ० १६६।

आदर्शों के प्रति भी जागरूक है।[1] वह अपने आत्माभिमान को नृप के सामने नहीं झुकने देता। सम्राट हर्ष के मुख से अपने सम्बन्ध में अनुचित शब्दों को सुन[2] बाण चुप नहीं रहता अपितु उस समय उसका ब्राह्मणत्व जाग उठता है और वह दृढ़ तथा स्पष्ट शब्दों में सम्राट के कथन का खण्डन कर अपने जातीय गौरव, आत्माभिमान तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय देता है—

मैं बोल उठा, हे देव असोभन बात न हो
नर स्वाभिमान पर निराधार आघात न हो,
आरोप पूर्व अनिवार्य सत्य का अनुशीलन,
मिथ्या भी होते प्राय: जन-मन श्रवण कथन ?[3]

भावुकता में भी वह अपना संयम नहीं खोता। हर्ष द्वारा अपमानित होने पर उनके प्रति द्वेष-भाव नहीं रखता अपितु उन्हें अपनी काव्य-साधना द्वारा प्रभावित करने का निश्चय करता है, यथा—

"नृप दोष नहीं, दोषारोपित गत फला कर्म,
अज्ञात अभी तक शिल्प–सिद्धि का मधुर मर्म,
अन्यथा कलंकित मुझे न करते श्री-धरेश,
पूर्वार्जित पाप सफलता में ही हुआ क्लेश।"
"सम्राट निरादर से नूतन चेतना मिली,
जीवन में जय करने की नव प्रेरणा मिली,
स्वार्णोदय में साहित्यिक तप करना होगा,
संचित पात्र में प्राणामृत भरना होगा।"[4]

इसके पश्चात् अभिनव कुमार द्वारा आत्म-प्रसाद को आत्मार्पित[5] करने के लिए भी कुछ प्रयत्न दिखाई देता है।

इस प्रकार वाण का चरित्र 'कादम्बरी', 'हर्षचरित' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अनुसार ही चित्रित हुआ है। वाणाम्बरीकार ने बाण के चरित्र में किसी नूतनता का समावेश नहीं किया।

मीरां :—

मीरां का चरित्रांकन 'द्विरेफ' जी ने अपने ढंग से किया है; जिसमें वे सफल भी हुए हैं। अब तक मीरां का भक्त-रूप ही देखने में आता है। परन्तु कवि ने मीरां को बालिका, किशोरी और तरुणी के रूप में चित्रित कर एक प्रयोग किया है। प्रथम सर्ग में साधारण बालिका मीरां को उसकी मां ने जिस गिरिधर नागर की ओर प्रेरित किया, उसी को अन्य सर्गों में उसने स्वप्न में मां के मरण पर वत्सल के रूप में, प्रणय पर पति के रूप में और वैधव्य पर आश्रय के रूप में तथा जन-साधारण की आत्मा के स्वरूप में ग्रहण किया है।[1] मीरां के चरित्र का विकास इन्हीं संदर्भों में हुआ है। कृष्ण की अनन्य उपासिका मीरां बचपन से ही चिन्तनशील प्रकृति की थी, जैसे—

> "आंगन में रज-संकुल भू पर
> बालिका एक लघु-लघु सुन्दर
> चुपचाप मौन, निस्पन्दित स्वर
> ज्यों वाणी
> साधक का ज्यों आराधित मन
> ज्यों कवि का लोकोत्तर चिन्तन
> त्यों दीप शिखा सी नत, क्रीड़न-तल्लीना।"[2]

मीरां अपने गिरिधर गोपाल के ध्यान में सभी सामाजिक बातों को भूल जाती है तथा अहर्निश उनका ही चिन्तन करती रहती है। उसका जीवन-लक्ष्य समाज से अलग था। उसने अपने मानस में एक नया लोक बसा लिया था।

बचपन में ही मीरां को माता की मृत्यु के कारण अनेक कष्ट उठाने पड़े। माई जयमल और बाबा रावदूदा जी के साहचर्य में बालिका मीरां बड़ी हुई। वह बाबा रावदूदा के सामने अपनी नवीन जिज्ञासायें रखती तब वे बड़े ही प्रभावित होते थे।

---

१. मीरां, प्रणेता का पृष्ठ, पृ० ६।
२. वही, सर्ग १, पृ० १।

भक्ति-पूरक व्यक्तित्व तो सर्वथा मिलता है, पर देश सेवा समाज सेवा से युक्त व्यक्तित्व इसी काव्य में अभिव्यक्त हुआ है।

तुलसी :—

'देवार्चन', 'रत्नावली' आदि प्रबन्धकाव्यों में तुलसी का चरित्र भारतीय संस्कृति के रक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। तुलसी के प्रारम्भिक जीवन की झांकी प्रस्तुत करते समय कल्पना का ही आश्रय लिया गया है। इनमें तुलसी को विद्वान, पत्नीप्रेमी, रामभक्त आदि रूपों में चित्रित किया गया है। 'देवार्चन' में तुलसी के प्रसिद्ध कामलुब्ध प्रसंग का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है। इसमें तुलसी पत्नी से मिलने के लिए अपनी ससुराल अपने पुत्र तारक की मृत्यु का समाचार पाकर जाते हैं। वहां पुत्र शोक-मग्ना पत्नी के रूप सौंदर्य को देखकर अकस्मात उनके हृदय में काम का दानव जाग उठता है। उसी समय पत्नी के विक्षोभ-पूर्ण वचन सुनकर उनके हृदय में ग्लानि और वैराग्य भावना उद्दीप्त हो उठती है।[1] तुलसी की अन्य चरित्रगत रेखायें दोनों ही प्रबन्धकाव्यों में अपने परम्परागत रूप में ही सामने आती हैं।

रत्नावली :—

'देवार्चन' और 'रत्नावली' प्रबन्धकाव्यों की नायिका रत्नावली का चरित्र उदात्त गुणों से युक्त ही चित्रित किया गया है। 'रत्नावली' के चरित्रांकन में आधुनिक युग की उस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं जिससे प्रेरित होकर कवियों ने इतिहास की उपेक्षिताओं के तमसावृत्त चरित्र को काव्य में गौरवपूर्ण स्थान देकर नवीन आलोक प्रदान किया है। रत्नावली तुलसी के महान् कर्त्तव्य के सम्पादन में प्रेरणा बनकर सामने आती है।[2] रत्नावली राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के प्रति अपना महान् दायित्व मानकर व्यक्तिगत प्रेम आसक्त तुलसीदास को अपनी ओर से मोड़कर जीवन के हितार्थ लगा देती है। परन्तु अपने जीवन-सर्वस्व, प्राणाधार और अनुरक्त-हृदय-पति को इस प्रकार प्रेम-वंचित कर राष्ट्रहित के लिए समर्पित करना इतना सरल नहीं। रत्नावली के निम्नलिखित शब्द उसके इसी हार्दिक द्वन्द्व-भावना को व्यञ्जित करते हैं—

---

१. देखिये—देर्वाचन, एकादश सर्ग।

२. वही, पृ० २८३।

वीरत्व गुण के साथ-साथ लक्ष्मीबाई के चरित्र में देशभक्ति, स्वतन्त्र-प्रियता आदि परम्परागत गुणों के अतिरिक्त, दीन-दुःखियों के प्रति दया, सद्भावना आदि उदात्त मानवीय गुण भी विद्यमान हैं।

आधुनिक कथावस्तु से सम्बन्धित पात्र

आलोच्यकाल में बहुत से ऐसे प्रबन्धकाव्य भी लिखे गये जिनकी कथावस्तु भी आधुनिक ही है। इस युग में देश में अनेक महापुरुष अवतीर्ण हुए जिन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अनवरत कठोर श्रम किया और स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपने प्राणों की आहुती दे दी। महात्मागांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार भगतसिंह आदि ऐसे ही महान् पुरुष रत्न थे। महात्मागांधी के त्यागमय, अहिंसा-प्रधान व आदर्श प्रेरित जीवन को लेकर 'जननायक' व 'जगदालोक', नेहरू के चरित्र को लेकर 'मानवेन्द्र' और भगतसिंह के उत्कट देश-भक्ति-पूर्ण आत्मबलिदान के अंकनार्थ 'सरदार भगतसिंह, जैसे प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन हुआ। हिन्दी कथा साहित्य में युगां-तर उपस्थित करने वाले अमर कथाकार प्रेमचन्द के जीवन का आधार लेकर 'युगस्रष्टाः प्रेमचन्द' नामक प्रबन्धकाव्य लिखा गया। उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों में प्रमुख रूप से प्रेमचन्द, सरदार भगतसिंह, महात्मागांधी और जवाहरलाल नेहरू के चरित्र पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है।

प्रेमचन्द :—

'युगस्रष्टाःप्रेमचन्द' में कवि ने प्रेमचन्द के चरित्र को शोषित व पीड़ित मानवता के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया है, किन्तु प्रेमचन्द के चरित्र की विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश डालने में कवि को सफलता नहीं मिल सकी है। कठिन परिस्थितियों में संघर्षरत प्रेमचन्द के हृदय की विविध मनोदशाओं के चित्रण की ओर कवि ने बहुत कम ध्यान दिया है। प्रेमचन्द हिन्दी के युगां-तरकारी युगस्रष्टा साहित्यकार थे।

प्रस्तुत काव्य-ग्रन्थ में प्रेमचन्द का यह स्वरूप भी सफलतापूर्वक स्पष्टतया नहीं उभर पाया है। मुख्यतया इनकी दीन-हीन अवस्था के अङ्कन की ओर ही कवि का विशेष ध्यान गया है—

"कुर्ता फटा, चप्पलें टूटीं
दुर्बल लेखक मुक्त 'प्रवीण'

बम्ब-विस्फोट होने पर चाहते तो भगतसिंह दिल्ली में पकड़े भी नहीं जाते परन्तु भागने से अच्छा उन्होंने आत्म-समर्पण ही समझा है।[1]

भगतसिंह का चरित्र कुछ ऐसा है कि जो एक बार भी उनके सम्पर्क में आता है, उनका बनकर रह जाता है। उनकी चितवन में कुछ ऐसा संमोहन है जो लोगों के मनों को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। वे जोखिम में साथियों को पीछे धकेलकर स्वयं ही जान झोंकने में हिचकिचाते नहीं हैं।[2]

महात्मा गांधी :—

'जननायक' एवं 'जगदालोक' में महात्मागांधी को नायक के रूप में चित्रित किया गया है। 'जगदालोक' में भगवान् शंकर महात्मागांधी के जन्म की ओर संकेत करते हैं—

"लेगा जन्म भारत में, कोई दिव्यात्मा नर।
होगा फिर स्वाधीन देश यह, उसका सम्बल पाकर॥"[3]

परन्तु जगदालोककार गांधी को 'दिव्यात्मा-नर' की संज्ञा देकर आधुनिक युग की चेतना से सामन्जस्य स्थापित कराने में असफल रहे हैं। 'जननायक' में गांधी प्रकृति प्रेमी,[4] गुरुजनों के प्रति श्रद्धालु, झूठी बातों से डरने वाले,[5] सद्‌ग्रन्थों के अध्येता,[6] दृढ़ प्रतिज्ञ,[7] परिश्रमी,[8] देशाभिमानी,[9] क्षमा-मूर्ति,[10] हिन्दू-संस्कृति के प्रकाश स्तम्भ,[11] शांति-दूत[12] आदि दिव्य गुणों से

---

१. सरदार भगतसिंह, सर्ग २१, पृ० ५४४।
२. है प्रश्न, कौन हम से बम विस्फोट करे?
हम भगतसिंह के हैं, वह खुद ही जाएगा,
छटपटा रहा वह वीर कर्म की पीड़ा से,
काले कानूनों पर वह गाज गिराएगा।
—सरदार भगतसिंह, पृ० ४८४।
३. जगदालोक, सर्ग १, पृ० २५।
४. जननायक, सर्ग २, पृ० ४५।
५. वही, सर्ग २, पृ० ४४।
६. वही, पृ० ५०, ५९।
७. वही, पृ० ५८।
८. ,, ,, ८६—८७।
९. ,, सर्ग ६, पृ० ९९।
१०. ,, ,, १४३।
११. ,, ,, २६४।
१२. ,, ,, ५३०।

प्रबन्धकाव्यों में रावण, मेघनाद, शूर्पणखा, कर्ण, दुर्योधन, दुशासन आदि इतिहास के कलंकी और दोषग्रस्त चरित्रों को उज्ज्वलीकृत रूप में प्रस्तुत करते हुए इनकी तुलना में राम, लक्ष्मण, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि चरित्रों को हीन और धूमिल चित्रित किया गया है। उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों में इतिहास के इन प्रतिनायकों को नायक के पद की प्रतिष्ठा भी प्रदान की गई।

नायकत्व की शास्त्रीय मान्यताओं को भंग करते हुए आलोच्य-युगीन प्रबन्धकाव्यों में साधारण कुलोत्पन्न व्यक्तियों तथा नारियों को नेता और नेत्री पद पर आसीन करने के साथ-साथ अन्य भी कई नवीन प्रयोग किये गये। प्रसिद्ध साहित्यकारों को नायक बनाकर अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे गये। वाणाम्बरी, देवार्चन, युगस्रष्टा:प्रेमचन्द आदि में बाण, तुलसी, प्रेमचन्द आदि महान् साहित्यकारों को नायक मानकर उनका जीवन-चरित्र अङ्कित किया गया।

प्राचीन पात्रों, वस्तुओं, कथाओं आदि को नवीन संदर्भ में ग्रहण करते हुए आज के कवि ने उन्हें मनोविज्ञान व दर्शन के नवीन स्तर पर ला खड़ा कर दिया है और उनकी सहायता से मानव की दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ सुलझाने का प्रयत्न किया है। ऐसे स्थानों पर पात्रों ने अपनी वैयक्तिकता का त्याग कर समष्टिगत भावना का प्रतिनिधित्व किया है। 'कनुप्रिया' में कृष्ण और राधा तथा 'उर्वशी' में पुरूरवा और उर्वशी शाश्वत नर-नारी के प्रतीक हैं। कवि ने इन चरित्रों के द्वारा स्त्री-पुरुष के सनातन आकर्षण और काम-भावना पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

प्रत्येक कवि ने अपने काव्य के द्वारा जनता को नवीन संदेश देने का प्रयास किया है। अपने उद्देश्य के लिए प्रत्येक कवि ने अपने पात्रों को अपने दृष्टिकोण के अनुसार चित्रित किया है। इसके लिए उसे प्रसिद्ध पात्रों की चारित्रिक रेखाओं में परिवर्तन करना पड़ा है। पात्रों का यह चरित्रगत परिवर्तन कुछ प्रबन्धकाव्यों में स्वल्प मात्रा में हुआ है और कुछ में अत्यधिक मात्रा में हुआ है। इसी कारण अनेक प्रबन्धकाव्यों में पात्रों की चरित्रगत विशेषतायें अपनी पूर्ववर्ती स्थिति व स्वरूप के बिल्कुल विपरीत चित्रित हुई हैं।

यह परिवर्तन जितनी अधिक मात्रा में हुआ है उतने ही नवीन प्रयोगों की सृष्टि हुई है। इसके स्थान पर चरित्रगत परिवर्तन की स्वल्पता ने परंपरा का समर्थन किया है। इसी कारण आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में हम चरित्रों के

रस-योजना

लिए जो महत्व आत्मा का है, साहित्य के लिए वही महत्व रस का है। रस ब्रह्म की भांति सूक्ष्म, नित्य, व्यापक और अगोचर है। जैसे ईश्वर हृदय में निवास करता है[1] वैसे ही रसोद्रेक के लिए भी हृदय ही उपयुक्त स्थान माना गया है। साहित्य की, कला की एवं काव्य की प्रेरणा हृदय के नैसर्गिक रसस्रोत का परिणाम है। "रस ही भारतीय शिल्प और कला का प्राण है—उसकी अनुभूति के प्रकार को लेकर बहुत बहस हुई है, पर उसकी अनुभूति की सचाई पर कभी सन्देह नहीं किया गया है।"[2] जो लोग रसवाद का अवमूलन करते हैं वे जीवन और साहित्य के तत्व विशेष को भुलाकर ही करते हैं। आनन्द जीवन का सार है। वही लक्ष्य भी है। जिसमें आनन्द की झांकी नहीं वह जीवन कैसा और जिसमें जीवन नहीं वह साहित्य कैसा ?[3] "आनन्द को दो कोटियों में विभाजित किया गया है—लौकिक और अलौकिक। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाकर लोकोत्तर की सी प्रतीति में लौकिक ही है। साहित्य में रस का यह स्थान साहित्य को जीवन के कितना समीप सिद्ध करता है। इसके लिए किसी क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता नहीं है।[4]

प्रबन्ध प्रतिष्ठित रस :—

प्रबन्धकाव्य के महान् उद्देश्य की पूर्ति और व्यापकता के लिए रस-निर्वाह आवश्यक ही नहीं; कवि के लिए उसका गम्भीर और गहरा प्रभाव उत्पन्न करना भी अनिवार्य है। महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि प्रबन्धकाव्यों की परिभाषा देते समय हम देख चुके हैं कि भामह, दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने महाकाव्य में शृंगार, वीर एवं शान्त आदि रसों में से किसी एक की प्रधानता मानी है, तथा प्रसंगानुसार अन्य रसों की सम्भावना भी व्यक्त की है। खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य आदि में भी कम से कम रस तो होता ही है। किन्तु महाकाव्य की भांति इनमें कोई विशेष रस की अनिवार्यता पर आचार्यों ने जोर नहीं दिया है। प्रबन्धकाव्यों में तो उत्पाद्य और अनुत्पाद्य आधिकारिक और प्रासंगिक विशाल कथाओं और विभिन्न रुचियों एवं स्वभाव वाले पात्र-पात्रियों के कारण एक ही नहीं अनेक रसों के समावेश का अवकाश रहता है।

---

१. 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठिति'

—गीता, अध्याय १८, श्लोक ६१।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हमारी साहित्यिक समस्यायें, पृ० १७२–७३।

३. डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' : बिखरे फूल : साहित्य में रस तत्व, पृष्ठ १३६।

४. वही, पृष्ठ १३८।

जयभारत,[1] रश्मिरथी,[2] कर्ण, पार्वती,[3] सेनापति कर्ण,[4] तारकवध,[5] हिडिम्बा,[6] शल्यवध,[7] पांचाली,[8] युद्ध, विद्रुमोपाख्यान,[9] दानवीर कर्ण,[10] प्रेमविजय,[11]

---

१. देखिये—जयभारत (द्वितीय संस्करण), पृ० ३९२।

२. क्या धमकाता है ! काल अरे
आजा, मुट्ठी में बन्द करूं,
छुट्टी पाऊँ तुझको समाप्त
करदूं, निज को स्वच्छन्द करूं ।
ओ शल्य ! हयों को तेज करो,
ले चलो उड़ाकर शीघ्र वहाँ
गोविंद पार्थ के साथ डटे हों
चुनकर सारे वीर जहाँ । —रश्मिरथी (७वां सं०), सर्ग ७, पृ० १५१।

३. देखिये—पार्वती, सर्ग १७, पृ० ३६४–३६६।

४. "हिला काल पृष्ठ कर में;
वाम कर कांपा, चढ़ी प्रत्यंचा धनुष की,
रोष पूर्ण आंखें हुई, निर्निमेष पलकें,
खिंच उठी भौंहें, वक्र रन्ध्र नासिका के वे
हिलने लगे यों पद्म हिलता ज्यों निशि में
बन्दी कर मधुरस लोभी मधुकर को
खींचकर दारुण पिनाक खड़ा हो गया
वीर, महाकाल ज्यों खड़ा हो सृष्टिलय में ।
—सेनापति कर्ण, मन्त्रणा, पृ० ४६ तथा २०२।

५. तारकवध, सर्ग १६, पृ० ४३८।

६. देखिये—हिडिम्बा (प्रथम संस्करण), पृ० १८, २१ तथा २२।

७. देखिये—शल्यवध, पृ० ३१–३२ तथा ६७।

८. पांचाली, पृ० ३३।

९. विद्रुमोपाख्यान, पृ० ८८।

१० दानवीर कर्ण, पृ० १०।

११. प्रेम-विजय, पृ० ६७।

साहित्यदर्पणकार ने 'उत्तम प्रकृतिर्वीर:' लक्षण देकर वीर रस को अन्य रसों से उत्तम माना है। उनके अनुसार इसका स्थायीभाव उत्साह, देवता महेन्द्र और रंग सुवर्ण सदृश्य होता है। इसमें जीतने योग्य रावणादि आलम्बन विभाव होते हैं और उनकी चेष्टादि उद्दीपन विभाव होते हैं। युद्ध के सहायक (धनुष, सैन्य आदि) का अन्वेषणादि इसके अनुभाव होते हैं। धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क रोमांचादि इसके संचारी भाव हैं। इसके चार भेद हैं; यथा—(१) दानवीर, (२) धर्मवीर (३) दयावीर और (४) युद्धवीर।[१] शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर 'दैत्यवंश' और 'अंगराज' को छोड़कर उक्त सभी प्रबन्धकाव्यों में शास्त्रानुमोदित परम्परागत लक्षणों के आधार पर वीर रस का सुन्दर वर्णन हुआ है। 'दैत्यवंश' के देवासुर-संग्राम सम्बन्धी प्रसंगों में वामन, कुमार, तारक, बाण आदि के शौर्य, पराक्रम और उत्साह के ओजस्वी वर्णन, वीर रस की परम्परा के अनुकूल हैं, किन्तु कृतिकार ने परम्परागत वीर रस के आश्रय और आलम्बन में परिवर्तन कर एक प्रयोग किया है। 'दैत्यवंश' में दैत्यों में तथा 'अङ्गराज' में जाति से पतित अधिरथ सुत कर्ण में वीरत्व की प्रतिष्ठा की गई है तथा उन्हें काव्य में उदात्त नायक के रूप में चुना गया है। इन प्रबन्धों में दैत्यों एवं जाति से च्युत अधम पात्रों को वीरत्व का आश्रय प्रदान कर परम्परा का उच्छेद किया गया है। वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी उक्त प्रबन्धों में सुन्दर निर्वाह हुआ है। 'दैत्यवंश' के लक्ष्मी-स्वयंवर में संयोग, शृङ्गार तथा हंसदूत प्रसंग और ऊषा की विरह कथा वर्णन में विप्रलम्भ शृङ्गार[२] की व्यंजना हुई है। स्वयंवर-प्रसंग में विष्णु को देखकर लक्ष्मी के हृदय की रीति और लज्जा, वितर्क, हर्ष आदि संचारी भावों का चित्रण परम्परागत शृङ्गार के लक्षणों के अनुकूल हुआ है—

> "वन्दि तिन्हें मन में सकुचाय के, सिन्धुजा आगे कछु पगुधारी।
> कोटि मनोज लजावत जे, पुरुषोत्तम में निज डीठि को डारी॥
> ठाढी जकी-सी छिनेक रही, कर्त्तव्यहु को न सकी निरधारी।
> या विधि ताकी दशा अवलोकि, कह्यो इमि चित्त को धारन-वारी॥"[३]

स्वयंवर में लक्ष्मी जब विष्णु के कण्ठ में जयमाला पहनाती है, तब उनमें सात्विक भाव उत्पन्न हो जाता है और रोमांचित हो जाने से मूक हो

---

१. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, ३।२३२–३४।
२. दैत्यवंश, सर्ग ६।२६–३०।
३. वही, सर्ग ४।३८ तथा १३।३६–४४।

जाती है। इस प्रसंग में विष्णु आलम्बन तथा लक्ष्मी आश्रय है। सखियों के विनोद विलासादि उद्दीपन हैं, तथा कम्प, अवाक् होना, कृशता आदि अनुभाव हैं। कवि ने अन्य रस—रौद्र,[1] वीभत्स,[2] भयानक,[3] करुण,[4] अद्भुत,[5] हास्य,[6] शान्त,[7] और वात्सल्य[8] आदि का निर्वाह भी शास्त्रानुकूल किया है। इनके अतिरिक्त 'अङ्गराज' में शृङ्गार,[9] वीभत्स,[10] रौद्र,[11] अद्भुत,[12] 'जयभारत' में रौद्र,[13] भयानक,[14] शृङ्गार,[15] 'रश्मिरथी' में वात्सल्य,[16] 'पार्वती' में शृङ्गार,[17] वात्सल्य,[18] 'सेनापति कर्ण' में वात्सल्य,[19] 'तारक वध' में शृङ्गार,[20] शान्त,[21] वात्सल्य,[22] 'हिडिम्बा' में शृङ्गार,[23] प्रेम-

---

१. दैत्यवंश, सर्ग ६।२५।
२. ,, ,, ६।३।
३. ,, ,, ७।१।
४. ,, ,, १७।२०।
५. ,, ,, १।४७ व १२।४१।
६. ,, ,, ३।३८।
७. ,, ,, १७।४६–४७।
८. ,, ,, १३।२७–२८।
९. अंगराज, स० १४।३८–४०।
१०. वही, स० २१।२७१–७५।
११. ,, ,, २१।१३७।
१२. ,, ,, १।६।
१३. जयभारत (द्वि० सं०), पृ० ३६४।
१४. वही, पृ० २८१।
१५. ,, ,, ३१।
१६. रश्मिरथी, स० ५, पृ० ६६, ८५ व ६१।
१७. पार्वती, स० १२, पृ० २६६ तथा स० १३, पृ० २८०।
१८. वही, स० ४, पृ० २६६।
१९. सेनापति कर्ण, पृ० १३० व २०४।
२०. तारकवध, पृ० २६०।
२१. वही, पृ० ५४६।
२२. वही, पृ० ४१५।
२३. हिडिम्बा, पृ० ३१ व ७६–७७।

विजय' में शृङ्गार,[1] आदि अंग रूप में आये हुए रसों का वर्णन भी परम्परा गत शास्त्रीय लक्षणों के आधार पर हुआ है। इस वर्ग के उक्त प्रबन्धकाव्यों में वीर रस अंगी रूप में रहा है, शेष प्रबन्धकाव्य—'दमयन्ती'[2] 'ऋतंवरा'[3]

---

१. प्रेम-विजय, पृ० १२०।

२. "खग आर्य-पुत्र के निकट पहुंच तुम जाना,
कहना कि, यहां अनिवार्य, उन्हें हैं आना।
यदि, आर्य, स्वयंवर-मध्य, न दृगन्त होंगे,
तो, इस अबला के प्राण, स्वयं हत होंगे।
अबला-हत्या का पाप चढ़ेगा, उन पर,
लग जाय कलुष फिर क्या-न भला शुभ गुण पर।
पर, ये सब सुन, वे मुझे हीन मानेंगे,
निश्चय, लज्जा-से रहित, मुझे जानेंगे।
उनसे मत कहना हंस! अतः तुम कुछ भी,
हां, यह कह सकते हो बात, स्वतः तुम कुछ भी।
\+ \+ \+ \+
मैं तड़प-रही हत भाग्य, अजल शफरी-सी,
फूटी भी आंखें रहें, पयोद भरी सी।"
—दमयन्ती, चतुर्थ सर्ग, पृ० ७६–७७ तथा सर्ग १३, पृ० २६९–२७५।

३. "प्रथम बार नारी ने देखा
इस दृष्टि से प्रथम पुरुष को
लगी पूजने मुग्ध हृदय में
श्रद्धा और प्रेम से उसको
श्रद्धा बोली शात रूपा से—
"आंखों में तू इसे छुपा ले"
कहा प्रेम ने—'री निर्वेदिते'
पहले सेवा-दीप जलाले
\+ \+ \+
पहला स्पर्श पुरुष के तन का
नारी के मृदु कर से
आग लगी, यह आग उठी कब
कैसे और किधर से।"— ऋतंवरा, [illegible]

शान्त-रस,[१] 'अन्धायुग'[२] तथा 'एकलव्य'[३] में करुण रस की प्रधानता दृष्टिगत होती है। 'आत्मजयी' और 'एकलव्य' प्रबन्धकाव्यों की कोई स्वतन्त्र परम्परा

---

१. "इस अपरिमित में
अपरिमित शांति की अनुभूति
अक्षय प्यार का आभास।
समर्पित मत हो त्वचा को
स्पर्श गहरे मात्र ....।
इससे श्रेष्ठतर मूर्द्धन्य सुख! जल बेड़ियों से
कहीं ऊपर।
कहीं गहरे ठहर कर आधार-मूलाधार।
जीवन हर नये दिन की निकटता।
आत्मा-विस्तार। —आत्मजयी, शांति-बोध, पृ० १०४-१०५।

२. वे हैं निराश
और अन्धे
और निष्क्रिय
और अर्द्ध पशु
और अन्धियारा गहरा और गहरा होता जाता है।
—अन्धायुग, पृ० १२६।

३. गुरु द्रोण बोले—
"क्षमा करो, देवि! माता की
ममता की सीमा कौन जानेगा जगत् में
रुक न सकूँगा मैं, वीर एकलव्य! स्वस्ति
कहकर द्रोण पार्थ सहित चले तभी।
\+ \+ \+
एकलव्य का अंगुष्ठ भूमि पर था पड़ा,
उसे देखा जननी ने अश्रु भरी आंखों से,
धीरे से कहा कि "रक्त रंगे मयी दक्षिणा,
जन-जन मानस को एकरूप कर दे।"
गहरी संध्या हुई थी, चन्द्र उठा व्योम में,
टूटने को हुई अब अंधकार-कारा थी।
एकलव्य-कर से प्रवाहित जो रक्त था,
उसमें विलीन जननी की अश्रुधारा थी।
—एकलव्य, दक्षिणा सर्ग, पृ० ३०४-३०५।

हिन्दी में नहीं मिलती है। 'एकलव्य' वस्तुतः गुरु-विषयक भक्ति रस का काव्य है, क्योंकि इसका अन्त दक्षिणा सर्ग से होता है, जिसमें गुरु भक्ति के आधिक्य से एक शिष्य अपना अंगूठा काटकर दान कर देता है। इस दान में एकलव्य के भीतर शोक या दुःख का भाव नहीं, त्याग की दीप्ति है तथा एकलव्य की साधना में सर्वत्र उत्साह दिखाई देता है। इस दृष्टि से इसे वीर रस प्रधान कहा जा सकता है, किन्तु अन्तिम सर्ग में गुरु द्रोण का पाश्चात्ताप तथा एकलव्य की माता की व्याकुलता में करुणा का उत्कर्ष दिखाई देता है। अष्ठम सर्ग 'ममता' में एकलव्य की माता के माध्यम से वात्सल्य और वात्सल्य में भी विरह की दसों अन्तर्दशाएं चित्रित की गई हैं। हमारी दृष्टि से सम्पूर्ण प्रबन्ध में गुरु-भक्ति अंगी एवं उत्साह-अंगरूप में है। रस योजना की दृष्टि से 'एकलव्य' में प्रयोग है। 'आत्मजयी' में अंगीरस के अतिरिक्त अंग रूप में अद्भुत रस की योजना भी सुन्दर बन पड़ी है।[1]

'दमयन्ती', 'सावित्री', 'शकुन्तला', 'सती सावित्री', 'कच-देवयानी' आदि महाभारतकालीन प्रबन्धों में शृङ्गार की यह परम्परा महाभारत के एतद्विषय सम्बन्धी आख्यानों, संस्कृत के अभिज्ञान शाकुन्तल तथा हिन्दी–पूर्ववर्ती प्रबन्धों 'देवयानी' (जगमोहनसिंह) नैषध-काव्य (गुमान मित्र), 'नल-नरेश' (प्रताप-नारायण) 'शकुन्तला' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि में भी पाई गई है। 'ऋतं-बरा', 'अनंग' तथा 'सारथी' आदि में पूर्ववर्ती प्रबन्ध 'कामायनी' की शृंगार परम्परा अक्षुण्ण है।

'उर्वशी' प्रबन्धकाव्य में शृङ्गार रस की परम्परा संस्कृत साहित्य में तो अवश्य मिलती है—विक्रमोर्वशीय नाटक में शृङ्गार रस अङ्गीरूप में आया

है; किन्तु पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य में इसकी कोई परम्परा उपलब्ध नहीं होती। प्रस्तुत रचना में शृङ्गार के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग का परम्परानुगत चित्रण अवश्य हुआ है। संयोग शृङ्गार में परस्पर प्रेम में अनुरक्त नायक-नायिका दर्शन-स्पर्शन आदि करते हैं तथा चुम्बन, आलिंगन, वन-विहार आदि का वर्णन होता है।[1] परम्परागत लक्षणों की दृष्टि से राजा पुरूरवा की चेष्टाएं एवं उक्तियां दर्शनीय हैं। जब उर्वशी उनके समक्ष उस चांदनी में प्रकट हुई तो राजा ने अधीर होकर आगे बढ़ उसे बांहों में भर लिया—

> "महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर,
> बांहों में भर लिया दौड़ गोदी में उसे उठाकर।
> समा गयी उर बीच अप्सरा सुख-संभार-नता-सी,
> पर्वत के पंखों में सिमटी गिरि-मल्लिका-लता-सी।
> और प्रेम-पीड़ित नृप बोले," क्या उपचार करूं मैं ?
> सुख की इस मादक तरंग को कहां समेट धरूं मैं ?
>
> ० ० ०
>
> किस पाटल के गन्ध-विकल दल उड़कर अनिल-लहर में
> मन्द-मन्द तिर रहे आज प्राणों के मादक सर में ?
> सुगम्भीर सुख की समाधि यह भी कितनी निस्तल है ?
> डूबें प्राण जहां तक, रस ही रस है, जल ही जल है।[2]

राजा पुरूरवा संयोग की इस अवस्था में पूर्व वियोग की स्थिति का स्मरण करते हुए उर्वशी से कहते हैं—

> धरते तेरा ध्यान चांदनी मन में छाजाती थी,
> चुम्बन की कल्पना मन में सिहरन उपजाती थी।
> मेघों में सर्वत्र छिपी मेरा मन तू हरती थी,
> और ओट लेकर विधु की संकेत मुझे करती थी।
>
> \+ \+ \+ \+
>
> किन्तु आज आषाढ़, घनाली छायी मतवाली है,
> मुझे घेर कर खड़ी हो गई, नूतन हरियाली है।

---

१. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, ३।२१०–२११।

२. रामधारीसिंह 'दिनकर' : उर्वशी, अंक २, पृ० ३०।

'प्राणेश्वरी ! मिलन-सुख को नित होकर संग वरें हम,
मधुमय हरियाले निकुंज में अजीवन विचारें हम ।"[1]

संयोग श्रृंगार के शास्त्रानुकूल अधिकांश लक्षण 'उर्वशी' के अतिरिक्त 'दमयन्ती',[2] 'ऋतंवरा',[3] 'अनंग'[4] तथा 'सारथी'[5] में भी पाये जाते हैं। किन्तु 'उर्वशी' व 'दमयन्ती की भांति 'ऋतंवरा', अनंग' और 'सारथी' में श्रृंगार की मांसलता दृष्टिगत नहीं होती है। यही कारण है कि कामायनी की तरह इन

---

१. रामधारीसिंह 'दिनकर' : उर्वशी, अंक २, पृ० ३१।

२. "पर, प्रिये ! वह वन्य पुष्पित कुञ्ज,
सामने इस पुष्प के तम पुञ्ज ।
है इसे यह स्वर्ण–लतिका योग,
भाग्य–में उसके कहां ये भोग ।
जानता है मृग न ज्यों निज गन्ध—
घूमता दिन रात हो मद–मन्ध ।
त्यों–तुम्हें निज रूप छवि का ज्ञान—
है न कुछ भी हे सुमुखी ! अनजान ।"
चल रहा था हास्य–पूर्ण विनोद,
बढ़ रहा था दम्पत्ति का मोद ।

—दमयन्ती, सर्ग ८, पृ० १५५–१५६।

३. "शीश झुका कर खड़ी हो गई
शतरूपा क्या बोले
यद्यपि मन के तार-तार पर
गीत अनोखा डोले
मनु ने कहा—"वही तुम जिसकी
थी दिन–रात प्रतीक्षा
हृदय ले चुका है सपने में
जिससे पावन दीक्षा"

—ऋतंवरा, मिलन सर्ग, पृ० १२६।

४. अनंग, पृ० ११७।

५. सारथी, पृ० ८७।

कृतियों में भी शृंगार की परिणति अन्त में शान्त रस में हुई है। 'उर्वशी' तथा 'दमयन्ती' में वियोग शृंगार का वर्णन भी परम्परानुकूल दृष्टिगत होता है। काव्यप्रकाशकार ने वियोग या विप्रलम्भ को अभिलाप, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, एवं शाप के कारण पंचविध कहा है; 'अपरस्तु अभिलाप विरहेर्ष्या-प्रवासशापहेतुक इति पंचविधः।'[1] इनमें से पूर्वराग रूप अभिलाप-हेतुक[2] व प्रवास हेतुक[3] वियोग तथा शाप हेतुक भावी वियोग[4] उर्वशी में पाया जाता है। शास्त्रानुसार वियोग की दस दशाओं[5] में से अभिलाप,[6] चिन्ता,[7] स्मृति,[8] गुणकथन,[9] उद्वेग,[10] प्रलाप,[11] उन्माद,[12] व्याधि,[13] जड़ता[14] आदि का वर्णन भी उर्वशी में परम्परागत लक्षणानुसार हुआ है। 'दमयन्ती' मे प्रवास-विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन भी परम्परानुसार चित्रित है।[15] नल के विरह में दमयन्ती की यह दशा दर्शनीय है—

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश, उल्लास ४ रस भेद प्रकरण।
२. उर्वशी, पृ० १४।
३. वही, पृ० २५।
४. वही, पृ० ११५–१२१।
५. "अभिलाषश्चिन्तास्मृति गुणकथनोद्वेग संप्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जड़ता मृतिरिति दशात्र कामदशा॥"
अर्थात् अभिलाप, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण ये दश काम दशायें हैं।
विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, ३।१९०।
६. उर्वशी, पृ० २१ तथा पृ० २३।
७. वही, पृ० १४।
८. वही, पृ० २०–२१।
९. उर्वशी, पृ० २४।
१०. वही, पृ० २४।
११. वही, पृ० २५।
१२. वही, पृ० १४।
१३. वही, पृ० १४।
१४. वही, पृ० ४८।
१५. प्रवास–विप्रलम्भ में नायिका (विरहणी) के अंग तथा वस्त्रों की मलिनता, सिर पर एक वेणी का धारण करना, निश्वास–उच्छ्वास, रुदन, भूमि-पात, शारीरिक व्याधि, सन्ताप, पीलापन, कृशता, अरुचि, व्याकुलता, मानसिक शून्यता, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण का भी वर्णन होता है। —साहित्य दर्पण : ३।२६२।

'ऐसे ही रहने दो, मुझको जैसी रूखी सूखी हूं,
सच समझो मां! वस्त्राभूषण की मैं आज न भूखी हूं।
काषायिक ही धोती दे दो जिससे यह तन ढ़क जावे,
कहीं पड़े होंगे वे भूखे, यह पतिता यों—छक जावे।
हिड़की सी बंध गई रुकीं वे सती संभल कर फिर बोली,
दीख रही थीं यूथ–प्राप्त–सी हो मानों हरिणी भोली।
जीवित तो रहना ही होगा करने हैं उनके दर्शन,
मां! पर व्रत मैं तोड़ न सकती, राज भवन भी होगा वन।[1]

दमयन्ती में अंगी रस शृंगार के अतिरिक्त वीर रस,[2] ऋतंवरा में शान्त रस,[3] तथा उर्वशी में करुण,[4] वीर,[5] रौद्र,[6] भयानक,[7] अद्‌भुत,[8] शान्त,[9] एवं वात्ससल्य रस[10] का निर्वाह शास्त्रीय लक्षणानुसार हुआ है।

(२) कृष्ण काव्य परम्परा के प्रबन्धकाव्य—'कनुप्रिया' तथा 'कूबरी' प्रवन्धकाव्यों में पूर्ववर्ती प्रवन्धकाव्य-'प्रियप्रवास' तथा 'कुब्जा पच्चीसी' (श्री नवनीत) की भांति शृंगार-रस प्रधान है। 'कनुप्रिया' में शृंगार-योजना है, किन्तु नये ढंग से हुई है। एक उदाहरण देखिए—

यह तुमने क्या किया प्रिय!
क्या अपने अनजाने में ही

---

१. दमयन्ती, पृ० २४२।
२. ज्वाला मुख से बरस रही, दृग लाल क्षुब्ध सी रानी थी,
महिषासुर-वध के हित प्रगटित मानों कुपित भवानी थी॥
—वही, पृ० २३२।
३. ऋतंवरा, पृ० २०३।
४. उर्वशी, पृ० १४९।
५. वही, पृ० १३९।
६. ,, ,, १४०।
७. ,, ,, १३२।
८. ,, ,, १२७।
९. ,, ,, १४४।
१०. ,, ,, ११२।

उस आम के बौर से मेरी क्वांरी उजली पवित्र
मांग भर रहे थे सांवरे ?
पर मुझे देखो कि मैं उस समय भी तो माथा नीचा कर
इस अलौकिक सुहाग से प्रदीप्त होकर
माथे पर पल्ला डाल कर
झुक कर तुम्हारी चरणधूली लेकर
तुम्हें प्रणाम करने—
नहीं आयी, नहीं आयी, न आयी ।[1]

'कनुप्रिया' के संयोग शृंगार में जलकेलि, वनविहार, अनुलेपन, चित्रांकन, वीणावादन, सूर्यास्त, चन्द्रोदय रात्रि, प्रभात आदि विविध वस्तुओं का उद्दीपन के रूप में नवीन ढंग से प्रयोग हुआ है । अनुभाव एवं संचारी भावों का विस्तार भी द्रष्टव्य है—

'उठो मेरे प्राण
और कांपते हाथों से यह वातायन बन्द करदो
\+ \+ \+ \+
और कहदो समय के अचूक धनुर्धर से
कि अपने सायक उतार कर
तरकस में रखले
और तोड़ दे अपना धनुष
और अपने पंख समेट कर द्वार पर चुपचाप
प्रतीक्षा करे—
जब तक मैं
अपनी प्रगाढ़ केलि कथा का अस्थायी विराम-चिह्न
अपने अधरों से तुम्हारे वक्ष पर लिख कर, थक कर
शैथिल्य की बाहों में
डूब न जाऊं—'[2]

श्री 'भारती' ने अभिव्यक्ति के स्तर पर इसको जो स्वरूप प्रदान किया है, वह परम्परागत पद्धति के इस रूप में पृथक है कि इसमें उद्दीपन और

---

१. कनुप्रिया—मंजरी-परिणय, पृ० २५ ।
२. कनुप्रिया, सृष्टि संकल्प, पृ० ५५–५७ ।

संचारियों को प्रकृति की एक नयी भूमिका प्रदान की गयी है। शृंगार रस के प्रस्तुतीकरण में यह एक अभिनव प्रयोग है। यह प्रयोग इस रूप में भी अधिक सार्थक है कि शृंगार की मांसलता को कवि ने व्यंजनार्थी शब्दों और प्रकृति-उपमानों के माध्यम से व्यक्त किया है, परिणाम यह हुआ कि कवि की नूतन रस-चेतना परम्परा और प्रयोग के दोनों धरातल पर जागरूकता का प्रमाण दे सकी है। शृंगार की अभिव्यक्ति शुद्ध प्रकृति के उपकरणों को लेकर की गई है, इसलिये उसमें रसका वायवी रूप विशेष न आकर सूक्ष्म और सांकेतिक रूप ही अधिक उभर कर आया है।

शृंगार वर्णन में न तो ऋतु, बारह मासा, अष्टयाम वर्णन ही है और न वियोगावस्था में पूर्ववर्ती रचनाओं की भांति प्रिय के पास संदेश लेजाने के लिये नायिका ने कोई दूत की ही योजना की है। इसमें कहीं तो कवि ने प्रवास (विप्रलम्भ शृंगार) के वर्णन में प्रकृति के विविध रूपों का उद्दीपन के रूप में चित्रण कर नायिका के हृदय में भय का संचार किया है;[1] और कहीं स्मृति और स्वप्न के माध्यम से नायक के प्रति उपालम्भ भरे भावों की अभिव्यक्ति की है।[2] वस्तुतः कवि ने वर्णन की एक नयी पद्धति, रस योजना की एक नयी प्रणाली अपनायी है।

---

१. देखिये—कनुप्रिया, आदिम भय, पृ० ४६।

२. समुद्र के किनारे
नारियल के कुञ्ज हैं
और तुम एक बूढ़े पीपल के नीचे चुपचाप बैठे हो
मौन, परिशमित, विरक्त
और पहली बार जैसे तुम्हारी अक्षय तरुणाई पर
थकान छा रही है
और चारों ओर
एक तिक्त दृष्टि से देखकर
एक गहरी सांस लेकर
तुमने असफल इतिहास को
जीर्ण वसन की भांति त्याग दिया है।
और इस क्षण
केवल अपने में डूबे हुए
दर्द से पके हुए
तुम्हें बहुत दिन बाद मेरी याद आयी है। —कनुप्रिया, पृ० ८३।

'कूबरी' प्रबन्धकाव्य में कृष्ण और कुब्जा के संयोग शृंगार का वर्णन कवि ने नहीं किया है।[1] कुब्जा के पूर्वानुराग[2] तथा प्रवास-विप्रलम्भ शृंगार[3] का वर्णन परम्परानुसार हुआ है। रस-योजना की दृष्टि से इस कृति में कोई मौलिकता परिलक्षित नहीं हो रही है।

(३) रामकाव्य परम्परा के प्रबन्धकाव्य—इस वर्ग में निम्नलिखित प्रबन्धकाव्य प्रमुख हैं—'रामकथा कल्पलता', 'रावण,' ,हनुमच्चरित', 'रामराज्य', 'सदाशिव चरितामृत', 'तुमुल', 'कैकेयी' (शिपमणि शर्मा), 'भूमिजा', 'संशय की एक रात', 'पाषाणी', 'दशानन', 'कैकेयी' (प्रभात), 'उर्मिला' आदि।

प्रस्तुत वर्गीकरण में 'रामकथा कल्पलता','रावण',[4] रामराज्य,[5] 'तुमुल',[6] 'कैकेयी',[7] (शिपमणि शर्मा),'भूमिजा',[8] 'संशय की एक रात',[9] 'दशानन',[10] 'कैकेयी'[11] (प्रभात) आदि प्रबन्धकाव्यों में 'वाल्मीकि रामायण',

---

१. श्री रामनारायण अग्रवाल : कूबरी, अपनी बात, पृ० ५।
२. वही, पूर्वानुराग तृतीय सर्ग, पृ० २०–२४।
३. वही, वियोग-व्यथा, सा० सर्ग, पृ० ६३–६८।
४. देखिये रावण, त्रयोदश सर्ग।
५. रामराज्य, पृ० १०१।
६. तुमुल, १२वां सर्ग।
७. देखिये—कैकेयी, पृ० २६।
८. भूमिजा, पृ० ११०–११४।
९. संशय की एक रात, पृ० २२–२३।
१०. "समर भूमि में रावण बोला
मुझे देखकर।
राम संभल कर सहो,
चलाता हूँ तुम पर शर॥
+ + +
बाधाओं का बन्धन, उसने तनिक न माना उसके मन में शौर्य, भरा था, एक अजाना॥" —दशानन, पृ० ३३।
११. "आज चाहिये क्रान्ति कि जिसमें,
प्रगटे श्री कल्याणी
क्रान्ति कि जिसका शंखनाद
बनजाये मानव वाणी।" —कैकेयी, पृ० ३८।
"आज चाहिये जीवन जो
प्राणों में दीप जलादे
आज चाहिए पौरुष जो
कण कण में आग लगादे —कैकेयी, पृ० ३९।

'रघुवंश', 'रामचरित मानस', 'रामचन्द्रिका', 'साकेत' आदि प्रबन्धकाव्यों की रस-परम्परा का ही निर्वाह है। कहीं-कहीं वीर को भक्ति की धरा पर भी प्रतिष्ठित कर दिया गया है जैसे 'मानस' में। अंग-रसों में कोई विशेष पद्धति नहीं अपनायी गयी है। यह दूसरी बात है कि युगीन भावनाओं ने क्रान्ति-दृष्टि देकर कवि को किसी नवीन दिशा में मोड़ दिया है। 'दशानन', 'रावण महाकाव्य' और 'कैकेयी' काव्य ऐसे ही मोड़ों की सूचना देते हैं। इस पहलू के परिवर्तन से पात्रों के चरित्र में भी मोड़ आ गया है जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। 'हनुमच्चरित' और 'सदाशिव चरितामृत' वीर पोषित भक्ति-रस के काव्य हैं। इन प्रबन्धों में शृंगार,[1] हास्य,[2] वात्सल्य,[3] रौद्र,[4] भयानक,[5] अद्भुत,[6] 'तुमुल' में भयानक,[7] 'भूमिजा' में वात्सल्य,[8] शृंगार,[9] करुण[10] और

---

१. जा दिन ते मय दानव-नन्दिनी, ब्याहि के लंक पुरी महं आई।
मान सरोवर में मनो हेम, सरोज खिल्यो सुखमा बग राई॥
के नभ नील में राजत मन्जु, कलाधर-मण्डल मंहि जुन्हाई।
तारिका-मालसी आलिन सों घिरो, या विधि बाल रही छवि छाई॥
—रावण, सर्ग ६।१ तथा देखिये—सर्ग ७।

२. "होते विना उपवीत महेश, जटान के जूट सबै ढुलि जाते।
लाजन ही गरते सबै कौंधनी, और कोपीन दुओ खुलि जाते॥
पावते डोरी कहां ते पिनाक की, पानि में कंगन कैसे सजाते।
व्याल के कान जो होते कहूं, घमनाद की हांक जुपे सुनि पाते॥"
—वही, सर्ग ६, पृ० ६८।

३. "नील सरोरुह सों सिसु को, वर आनन देख्यो मन्दोदरि रानी।
त्यों सुत को निज गोद में ले, पुनि गौरीप्रसाद हिये हरषानी॥
डारि दियो धनि मालिनी के पग, देन आसीस लगी मृदु वाणी।
मारे सुरासुर हूं रन में, जुरि के पहुंचाय सकें नहीं हानी॥"

४. देखिये—वही, ४।२१।

५. वही, १२।३१।

६. वही, ३।४७-४८ तथा १२।३८।

७. देखिये—तुमुल, पृ० १८।

८. भूमिजा, पृ० १३३।

९. वही, पृ० ८६।

१० वही, पृ० १२०, १२३।

डोर अरुझी क्रीड़ा की ! रम्य—
रमण के मुरझ गए सब तार ।
थकित क्रीड़ा ऐसे झुक रही—
मेघ ज्यों झुक आयें दो चार ।"[1]

यहां शृंगार का स्थायी भाव रति है । आश्रय-आलम्बन हैं—लक्ष्मण ऊर्मिला उद्दीपन है—प्रकृति और रूप सौन्दर्य संचारी है लज्जा हर्ष आदि, और अनुभाव हैं—मस्तक जंघा पर रखना, भुजा का ग्रीवा की ओर लेजाना आदि । इस कृति में संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार का विशद् विवेचन हुआ है, क्योंकि यह काव्य विरहप्रधान है, संयोग शृंगार की झांकियां तो प्रथम और द्वितीय सर्ग में ही इधर-उधर दीखती हैं, पर तृतीय सर्ग में विदा प्रसंग से लेकर चतुर्थ और पंचम सर्गों तक विरह का ही पूर्ण परिपाक हुआ है । लक्ष्मण के वन चले जाने पर ऊर्मिला 'प्रोषितभर्तृका' नायिका के रूप में दिखाई देती है । प्रवास-विरह की समस्त काम दशाओं का चित्रण ऊर्मिला में परम्परानुकूल चित्रित है ।[2] ऊर्मिला के विरह की तीव्रता इन पंक्तियों में कितनी दयनीय और सजीव है—

"झुलसत हिय, दहकत हृदय, आशा बरि बरि जात,
तड़पत मन, सूखत अधर, रोम रोम मुरझात ।"[3]

कहीं-कहीं विरह का ऊहात्मक वर्णन हो गया है, किन्तु क्योंकि कवि ने विरह को लौकिक से ऊपर अलौकिक रूप दे दिया है, अतः यह वर्णन मात्र ऊहा नहीं रह जाता । सूफी कवि जायसी के पद्मावत में तथा आधुनिक काल के रहस्यवादी कवियों के काव्य में जिस प्रकार वियोग-वर्णन के प्रसंग में आध्यात्मिकता का सन्निवेश है, उसी प्रकार 'ऊर्मिला' में द्रष्टव्य है—

---

१. ऊर्मिला, पृ० १२६ ।

२. "आंसू, हिचकी, आहें ये,
हृदय स्पन्दन, व्याकुलता
यह लगन बावरी, भोली,
यह हिय वेदना-अतुलता ।" —ऊर्मिला, पृ० ३७१ ।

३. वही, पृ० ४२७ ।

"डार–डार में प्रिय रमे, लता पात्र में पीय,
प्रकटि रह्यो तृन-दलन में पिय को भाव स्वकीय।"[1]

'ऊर्मिला' का समस्त शृंगार वर्णन परम्परानुसार है। साकेतकार के पूर्व ऊर्मिला को देवर,[2] ननद[3] के साथ हास-परिहास तथा पति-पत्नी का स्थूल शृंगार वर्णन अन्य काव्यों में नहीं मिलता है, इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि 'नवीन' जी ने शृंगार रस के वर्णन में साकेतकार की परम्परा को एक कदम आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। 'ऊर्मिला' प्रबन्धकाव्य में शृंगार रस प्रधान होने के कारण अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों की योजना दृष्टिगत नहीं होती। हां! वीर रस का हल्का-सा चित्रण ऊर्मिला के उन शब्दों में है, जब वह वन जाते लक्ष्मण को अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए कहती है—

"आज धनुष की डोर सजाए,
शर संधाने, सज्जित हो—
कूद पड़ो, ललकार भरे, तव-
प्राण रण–नदी मज्जित हों
+ + +
आज करो विद्रोह भयानक
इस अधर्म के प्रति स्वामिनि्।"[4]

---

१. ऊर्मिला, पृ० ५१०।

२. "क्यों उपहास वचन भाभी के सुनकर श्री शत्रुघ्न लजाए,
फिर बोले "भाभी, भैया के ये क्या तुमने साज सजाए?
तनिक–चित्र–पट देखो अपना, देखो और मुझे समझाओ,
क्या प्रेरणा हुई थी मनमें, उसकी गुत्थी तो सुलझाओ।"
—वही, पृ० १०१।

३. "यों कह थी शान्ता देवी ने उनका मृदु कर–पल्लव थामा,
उत्सुकता से लगी पूछने इस रहस्य का कारण वामा।
लक्ष्मण रानी ने अपना मुख छिपा लिया गोदी में उनका,
यथा छिप गया हो अपने से जीव–स्वयं गोदी में गुण की।"
—वही, पृ० १०८।

४. वही, पृ० २४८।

'ऊर्मिला' में हास्य रस और वात्सल्य रस का वर्णन परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार हुआ है। हास्यरस का अच्छा उदाहरण ऊर्मिला के बचपन के प्रसंग में मिलता है। माता के सामने ऊर्मिला रूठ गई है। माता सीता से कहती है—'देखो तुम्हें एक रोनी सूरत बताती हूं' और ऊर्मिला की ओर इंगित किया। रूठी ऊर्मिला भी लजा कर हंस दी।[1] वात्सल्य रस का सुन्दर निदर्शन ऊर्मिला-सीता के बाल-स्वरूप में है—

"रुन-झुन, रुन-झुन जहाँ-तहाँ पैजनियाँ झंकारें,—
चरण-चलन की आंगन भर में फैल रही गुंजारें।"

यहां सीता-ऊर्मिला आलम्बन हैं। उनकी चेष्टाएं आदि उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंग-स्पर्श, सिर चूमना, देखना आदि अनुभाव तथा हर्ष गर्व आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार ऊर्मिला-सीता की बालक्रीड़ाओं से यह रस पुष्ट होता है। 'ऊर्मिला' में पूर्ववर्ती रचनाओं में ऊर्मिला की बालछवि का ऐसा वर्णन नहीं मिलता है। इस दृष्टि से यह कवि का एक सुन्दर प्रयोग है।

महीप के काम-प्रसक्त वाक्य से
स-वेग तारल्य-युता हुई प्रिया;
वसन्त का स्पर्श हुआ कि आम्र का
शरीर सर्वांग-प्रफुल्ल हो गया ।
हुयी तभी सो भुज-पंजर-स्थिता
समाकुला बाल-कुरङ्ग-शावकी,
नितान्त शुक्लाम्बरा थी अभी-अभी
निरंबरा नृपति-भामिनी हुई ।"[1]

शृंगार का यह वर्णन स्थूल व मांसल है। इसमें आश्रय और आलम्बन हैं, राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला। राजा व रानी की चेष्टाएँ अनुभाव हैं, कम्प सात्विक भाव है तथा हर्ष आवेग आदि संचारियों से परिपुष्ट हो स्थायी-भाव रति के द्वारा शृंगार रस की सृष्टि हो रही है। इस रचना में शृंगार-रस अंग रूप में ही आया है। नायक की चिन्तनशील प्रवृत्ति तथा संसार के प्रति उनकी अनासक्त भावना के दर्शन हमें इस काव्य में सर्वत्र दिखलाई देते हैं। मनुष्य जीवन की क्षण-भंगुरता के चित्र में शान्त रस की झलक दिखाई देती है—

"मनुष्य का जीवन एक पुष्प है, प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में।
परंतु छाया लख सान्ध्य काल की, विकीर्ण होके गिरता दिनांत में।
मनुष्य का जीवन रंगभूमि है, जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं।
जभी हिलाया कर सूत्रधार ने, हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का ॥"[2]

इस कृति में शान्तरस की योजना सर्वथा शास्त्रानुकूल बन पड़ी है।

अमृतपुत्र—'अमृतपुत्र' प्रबन्धकाव्य में करुण रस प्रधान है। 'ईसा' के शूलारोहण का दृश्य अत्यन्त करुणाद्र है। मामरी से यह दृश्य देखा नहीं गया, वह मूर्च्छित हो जाती है, यथा—

काव्य का एक-एक शब्द करुणासिक्त है। करुण का आधार शोक है। इष्ट नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त में जो विकास उत्पन्न होता है, उसे शोक कहते हैं। इस दृष्टि से सामरी की दशा में 'शोक' की पूर्ण व्याप्ति दिखाई देती है। इसमें ईसा आलम्बन है और सामरी आश्रय है। ईसा का क्रूसारोहण उद्दीपन है, सामरी का रुदन, तड़फना, मूर्च्छित होना आदि अनुभाव हैं, विषाद, उन्माद, दैन्य आदि संचारी हैं। यद्यपि करुण रस की योजना परम्परागत लक्षणों के अनुसार हुई है; किन्तु इस कृति की कोई पूर्व परम्परा हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। अतः प्रस्तुत कृति अपने आप में एक नवीन प्रयोग है।

ऐतिहासिक परम्परा :—इस परंपरा के प्रबंधकाव्यों को हमने पिछले अध्याय में दो भागों में बांटा है—(१) प्राचीन कथावस्तु वाले प्रबन्धकाव्य तथा (२) अर्वाचीन कथावस्तु वाले चरितात्मक प्रबन्धकाव्य। प्रस्तुत अध्याय में हम प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही कालों के निम्नांकित प्रमुख चरितात्मक प्रबन्ध-काव्यों का रस-परम्परा की दृष्टि से एक साथ अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

इस वर्ग में निम्नलिखित प्रबन्धकाव्य प्रमुख हैं—

'विक्रमादित्य', 'विष्णुप्रिया', 'बाणाम्बरी', 'मीरां', देवार्चन', 'रत्नावली', 'युगस्रष्टा:प्रेमचन्द', 'तप्तगृह', 'झांसी की रानी', 'सरदार भगतसिंह', 'जननायक', जगदालोक', 'मानवेन्द्र' आदि।

'विक्रमादित्य', 'विष्णुप्रिया', 'बाणाम्बरी', तथा 'मीरां', शृंगार-रस-प्रधान काव्य है। 'देवार्चन' तथा 'रत्नावली' में भी शृंगार-रस का सुन्दर उत्कर्ष दिखाई देता है, किन्तु इन काव्यों का अवसान निराला के 'तुलसीदास' की भांति शांत रस में हुआ है। 'देवार्चन' का शृंगार वर्णन प्राचीन परम्परानुसार स्थूल एवं मांसल है,[1] किन्तु 'रत्नावली' का शृंगार-वर्णन सर्वथा अत्यन्त सूक्ष्म, संयत एवं मर्मस्पर्शी है—

शशि और तारों की इतनी प्रदीप्ति पहुँच पाती है ?
क्या किन्हीं महलों में मेरे—
राम के चरण–चढ़े कोमल कुसुम
वेणी में गुंथते हैं ?"[1]

इस कृति में शृंगार रस के भावों का अंकन सर्वथा नवीन ढंग से प्रस्तुत हुआ है—

"रत्ने यहाँ आओ"
बुलाया, तो पहुँच गई, बैठ गयी पास ही !
पर, क्या भ्रू-विलास ....
नाथ देखा !
पास चलता जो
कहता था—देखो, यह जादूगरिन आगयी,
आखिर क्या देखो वह
सीता की रह गयी न !"[2]

रत्नावली का विप्रलम्भ शृंगार भी अत्यन्त उज्ज्वल और उदात्त है—

"कहो राम !
मैं आज ...... हुई जा रही बावरी ।
साँसों का शृङ्गार नहीं मुझको करना अब ।
राम-नाम मेरा सरगम है ।
फिर, क्यों अविश्वास छलता है ।
राम ?
कि केवल तुम मेरे हो,
नहीं नाथ के ।"[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावांकन के प्रस्तुतीकरण में रत्नावली का शृंगार वर्णन एकदम नवीन है ।

---

१. रत्नावली, पृ० ४७-४८ ।

२. रत्नावली, पृ० ५५ ।

३. वही, पृ० ६७ ।

उक्त वर्ग की शृंगार-रस-प्रधान कृतियों में 'मीरां' की कोई स्वतन्त्र परम्परा उपलब्ध नहीं होती। प्रस्तुत रचना में कवि ने मीरां की भक्ति-प्रवणता और चिन्तनशील प्रकृति की रक्षा करते हुए भी कतिपय स्थलों पर संयोग शृंगार का प्राचीन परम्परागत स्थूल वर्णन कर दिया है—

"देखा, यह भिख मंगा शंकर,
तेरे अभाव में रोता है।
आओ, लक्ष्मी, इन्दरा हंसो।
यह विष्णु अंक में सोता है।
कहकर यों प्रिय ने अपना तन,
उनके घुटनों पर डाल दिया।
यह हंसी जरा, क्रोधित सी थी,
उनका तन त्वरित संभाल लिया॥"[1]

यहां शृंगार के आश्रय भोजराज हैं और मीरां आलम्बन, भोजराज की चेष्टायें अनुभाव हैं तथा अभिलाषा संचारी भाव है। इस प्रकार रति स्थायी भाव से यहां संयोग शृंगार की परम्परागत निष्पत्ति हुई है। मीरां का विप्रलम्भ शृंगार संयोग की अपेक्षा अधिक गम्भीर है।[2] भोजराज के देहावसान पर करुण-रस की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।[3] विप्रलम्भ शृंगार और करुण के

---

१. मीरां, सर्ग ७, पृ० १२६।

२. अलि! सूख चुका सब कुछ मेरा
बस आंखें ही केवल जलमय
टूटे उर-वीणा तारों में
जीवन के मधु आधारों में
मानस-द्रावी झंकारों में
बजती बस केवल करुणालय। —मीरां, सर्ग १०, पृ० १७६।

"सब परिजन रहे हताश, पिता, मां, भाई
हो गए कुंवर निर्जीव मृत्यु जब आई।
टूटा सांसों का तार क्षीण जो अटका,
मीरां चिल्लाई, गिर धरती पर पटका॥"

—वही, सर्ग ६ पृ० १६८।

साथ ही इस रचना में वात्सल्य रस[1] की अभिव्यंजना भी परम्परागत लक्षणा-नुसार हुई है।

'विक्रमादित्य' और 'वाणाम्बरी' में अंगीरस शृंगार की यह परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत के 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक हिन्दी में प्रसाद कृत 'ध्रुवस्वामिनी' तथा हर्षचरित के वाण से सम्बन्धित संदर्भों व हजारीप्रसाद द्विवेदीकृत 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में भी शृंगार रस की यह परम्परा मिलती है, किन्तु 'विष्णुप्रिया' के पूर्ववर्ती आधार ग्रन्थ 'श्री अमिय निमाई चरित' व चैतन्य चरितावली भक्ति-रस प्रधान काव्य है। उनमें चैतन्य प्रभु की साधना व भक्ति का निदर्शन अधिक है, विष्णुप्रिया के हृदस्थ भावों का अंकन कम। इसलिये वहाँ शृंगार रस का ऐसा उत्कर्ष नहीं दिखाई देता है जैसाकि विष्णु-प्रिया में उपलब्ध है। 'वाणाम्बरी' में वेणी, रेखा और मल्लिका आदि से सम्बन्धित प्रसंगों में तथा 'विक्रमादित्य' में ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त के प्रसंगों में शृंगार रस का स्थूल व मांसल वर्णन भी मिल जाता है, किन्तु विष्णुप्रिया का शृंगार वर्णन अत्यन्त मर्यादापूर्ण है। विष्णुप्रिया में पूर्वराग का उदय श्रद्धा भाव के माध्यम से होता है—'श्रद्धा हुई मुझको, न होगी वह किसको ?'[2] और इस प्रकार प्रेम प्रवर्द्धित हो जाता है विवाह के रूप में। गृह-प्रवेश के समय संयोग-शृंगार-रस के अनुभावों का चित्रण कवि ने बड़ी कुशलता से किया है—

> "घर में प्रवेश करती थी वधू, सहसा
> ठोकर खा रक्त वहा उसके अंगूठे से।
> मानो उस देहली को देके वलि पहली,
> घूंघट में होंठ चाबे,आह न की उसने।

---

१. "बोली मां उसका कर चुम्बन
तू आज बता क्यों यों उन्मन ?
भर लिया सभी मिट्टी से तन
क्यों बेटी ?
निद्रा का था यदि चढ़ा रंग
तो सुन्दर गद्दे थे, पलंग
धरती पर ऐसी क्या उमंग
जो लेटी ?
—मीरां, सर्ग १, पृ० ४।

२. विष्णुप्रिया—(द्वितीय संस्करण), पृ० १६।

वर ने अंगूठे से अंगूठे को दबा दिया।
रक्त रुका, किंतु, बढ़ी दूनी अनुरक्तता॥"[1]

सम्पूर्ण कृति में संयोगशृंगार के चित्र अत्यन्त भावात्मक व मर्यादित हैं। कहीं भी कवि ने शृंगार का ऐन्द्रिक तथा भोगनिष्ठ स्वरूप निदर्शित नहीं किया है। विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में विष्णुप्रिया की वात्सल्याभिव्यक्ति भी कवि की मौलिक उद्भावना है। वह कहती है—

"भरी गोद ही होती मेरी,
तो रीते दिन सह लेती मैं।
तिनका का भी कहाँ सहारा,
जिसके बल पर बह लेती मैं।
कौन यहाँ है अब जिससे कुछ,
अपने जी की कह लेती मैं।
सुत पाती तो पति क्यों खोती,
जैसे रहती रह लेती मैं।"[2]

उक्त पंक्तियों में विष्णुप्रिया के मुख से पुत्रैषणा की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु वर्षों की वियोग-वेदना के उपरान्त पति (चैतन्य प्रभु) के मिलन के अवसर पर शृंगाररस की परम्परानुसार आश्रय (विष्णुप्रिया) में न मिलन की प्रसन्नता है और न उपालम्भ की वक्रता। यहाँ तो एक विचित्र अवसाद और त्यागमय गम्भीर तल्लीनता का भाव ही दृष्टिगत होता है—

"अचल उस प्रभु में तुम्हारी रति रहे,
और तुममें अटल मेरी मति रहे।
मिले तुम्हें प्रभु, मिलो मुझे तुम,
नहीं और कुछ कहना।
दूँ मैं कैसे हाय! उलहना॥"[3]

वस्तुतः विष्णुप्रिया का शृंगार वर्णन परम्परागत शृंगार वर्णन की कोटि में नहीं आता है। इसमें शृंगार के उदात्त एवं उज्ज्वल रूप का ही चित्रण मिलता है। विष्णुप्रिया का प्रेम आरम्भ से ही त्यागमय है, भोगमय नहीं, जबकि 'बाणाम्बरी में मल्लिका और बाण का तथा 'विक्रमादित्य' में ध्रुवदेवी और विक्रमादित्य का प्रेम भोगमय है। विक्रमादित्य के प्रथम सर्ग में ही नायक विक्रमादित्य के दर्शन से ध्रुवदेवी के हृदय में रति का स्फुरण होता है।[1] इस प्रसंग में विक्रमादित्य आलम्बन, ध्रुवदेवी आश्रय है। विक्रमादित्य का अंग सौन्दर्य, उद्दीपन, एकटक देखना, तृप्त होना आदि अनुभाव तथा अवहित्था, औत्सुक्य संचारी है। रति स्थायी सब अङ्गों से पुष्ट है। चन्द्रगुप्त के वियोग में रानी ध्रुवदेवी के विरह वर्णन में विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यंजना अत्यन्त मार्मिक है। सम्भोग शृङ्गार के अतिरिक्त आर्य सेना और शकों के युद्ध वर्णन में वीर,[2] रौद्र,[3] भयानक[4] रसों की योजना तथा 'विक्रमादित्य' के बीसवें खण्ड में, कापालिक साधना के प्रसंग में बीभत्स[5] रस की योजना भी शास्त्रीय लक्षणानुसार हुई है।

'युगस्रष्टा:प्रेमचन्द' में वीभत्स मिश्रित करुण रस[1] तथा 'तप्तगृह' में वात्सल्य पोषित करुण रस[2] की अभिव्यंजना प्रमुख रूप से हुई है। अङ्गीरस की दृष्टि से इन दोनों कृतियों की कोई पूर्व परम्परा उपलब्ध नहीं होती है। प्रेमचन्द पर तो ऐसी कोई पूर्ववर्ती रचनाएँ ही नहीं मिलती। हां ! तप्तगृह के नायक कोणक (अजातशत्रु) तथा उसके पिता बिम्बसार से सम्बन्धित ऐतिहासिक इतिवृत्त के अतिरिक्त जयशंकरप्रसाद कृत अजातशत्रु नाटकादि भी मिलते हैं,किन्तु वहां पर भी वीरपोषित शान्त रस की प्रमुखता है। अतः इस दृष्टि से परम्परा का उच्छेद कर कवि ने एक नवीन प्रयोग किया है। 'तप्तगृह' में वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति भी अभूतपूर्व है। क्योंकि विशेषतः माता के हृदयगत भावों को तो हिन्दी के प्राचीन और नवीन सभी कवियों ने बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त किया है, परन्तु पिता के हृदय के वात्सल्य भाव को विशेष रूप से 'प्रभात' जी ने लिखा है। कोई पिता अपने निर्दयी और क्रूर पुत्र के प्रति भी कितना वात्सल्यपूर्ण हृदय रख सकता है, इसका उत्कृष्ट उदाहरण बिम्बसार की निम्न पंक्तियों से द्रष्टव्य है—

"पाकर इस प्यार को
सारे संसार को
ईश्वर को भूलता
भूलता अदृष्ट की
सारी प्रतिकूलता ।।"[3]

---

१. युगस्रष्टा:प्रेमचन्द, सर्ग १,पृ० १८ तथा पृ० २७।

२. "माता के अश्रु ये
मस्तक पर पुत्र के
बार-बार गिरते
आंसु ये पुत्र के
करुणामय मातृ-पद
धोते, विभोर हो
माता के अश्रु में
बहता वैधव्य था
साथ-साथ बहती थी
धार वात्सल्य की।"

३. तप्तगृह, पृ० ११४।

इतना ही नहीं 'तप्तगृह' में कोणक के आदेश से एक नाई विम्बसार के पैरों को चीरता है, मांस काट-काट कर गिराता है, उसमें नमक भरता है और फिर अङ्गारे भरता है। राजा असह्य वेदना से मूर्च्छित हो जाते हैं। कुशला पति की कराह सुनकर आती है और अपने पुत्र के कुकृत्य पर बड़ी क्रोधित होती है। कहती है—"मैं एक घूंट में कोणक को पी डालूंगी?" परन्तु इतने पर भी विम्बसार को पुत्र पर क्रोध नहीं आता है। वे कहते हैं—

प्यार किया जिसको
दुलार किया झूम-झूम
ममता के रंग में,
वाणी में अस्फुट निज
माता कह बार-बार
जिसने अनजान सा
झोर झकझोर दिया
प्राणों के तारों को
भूमि से उठाकर तुम्हें
जिसने सुस्थान दिया
प्रथम-प्रथम गौरव का
आज उसी बेटे का
सोचती अनिष्ट तुम ?[1]

सर्वत्र वीररस की ही परम्परा परिलक्षित होती है। 'जननायक' व '...
के नायक महात्मागांधी तथा मानवेन्द्र के नायक जवाहरलाल नेहरू
उत्साह की व्यंजना हुई है। अतः वे सब कृतियाँ वीररस प्रधान हैं।
परम्परागत शास्त्रानुमोदित लक्षण जैसे 'झांसी की रानी'[1] और 'सरदार...

---

१ "तलवार किधर कब उठती थी,
कब किधर छपाछप करती थी।
यह भी अरिदल को ज्ञात न था,
कब किधर लपालप करती थी।
केवल इतना ही कह पाते थे,
रानी आई, रानी आई।
तब तक सिर धड़ से अलग लोट,
भू पर कहता रानी आई।
जब तक घोड़े की टापों की,
ध्वनि ही अर दल सुन पाता था।
तब तक रानी का खंग तुरत,
बन मृत्यु शीश पर आता था।
दायें-बायें दो हाथों से,
रानी थी रिपु-सिर काट रही।
स्वातन्त्र्य-भवन की नई नींव,
थी शत्रु-मुण्ड से पाट रही।" —श्यामनारायण प्रसाद, ...
की रानी, २२वीं हुंकार, पृ० ३२...

"ललकार उठा नर-नाहर एक गरज कर-
हिंसक प्रवृत्ति का देना होगा उत्तर।
हमको मरना कुत्तों की मौत नहीं है,
लाठी का बदला लेंगे, देकर पत्थर
+ + +
गर्जना वीर की सुनकर सब हुंकारे
मचले ने अपने कोप-धनुष टंकारे
फन-फना उठे क्रोधांध वीर-भट अगणित
आहत होकर ये काल-व्याल फुंकारे
—सरदार भगतसिं...

में मिलते हैं, वैसे 'जननायक'[1] 'जगदालोक' तथा 'मानवेन्द्र'[2] में नहीं। अंगीरस वीर के अतिरिक्त 'झांसी की रानी' में वात्सल्य,[3] 'सरदार-

---

१. "सत्य अहिंसा के द्वारा मैं–ब्रिटिश राज्य का मन बदलूंगा।
पहले देश स्वतन्त्र करूंगा, पीछे अपना तन बदलूंगा।।
इसीलिए यह सत्याग्रह है, सावधान कर रहा आपको।
भारत सहन नहीं कर सकता–पारतन्त्र्य के महापाप को।।"
—जननायक, सर्ग १७, पृ० २८५।

२. "वीर जवाहर के सीने से–तोपें टकराती थीं।
पर उसके प्यासे पानी से-पीछे हट जाती थीं।।
देने लगे यातना उनको तरह–तरह से गोरे।
पर आ-आकर बुझ जाती थी-आग वीर के धोरे।।
उनको आग और पानी में-हंसने की आदत थी।।
उनको दुनिया के झगड़ों में फंसने की आदत थी।
परेशान था दमन शांति के–ठण्डे अंगारों से।
थर्राता था विद्रोही के–नीर भरे नारों से।।"—मानवेन्द्र, पृ० ३०१।

३. "रानी कभी उठाकर शिशु को,
कन्धे पर थी बैठाती
कभी सुलाकर पलने पर वह,
चुम्बन ले-लेकर गाती।
चुटकी बजा-बजाकर कहती,
"लाल! बड़े होजावो तुम।
वीर शिवा राणा प्रताप-सा,
कर्मक्षेत्र अपनाओ तुम।"
—झांसी की रानी, सातवीं हुंकार, पृ० १८२।

भगतसिंह' में वात्सल्य,[1] 'जननायक' में शृङ्गार,[2] वात्सल्य[3] तथा 'मानवेन्द्र' में शृङ्गार,[4] वात्सल्य,[5] आदि रसों का वर्णन भी परम्परागत लक्षणानुसार हुआ है।

---

१. "पीठ थप-थपा पूछ रहे–'बैठे! तुम क्या करने बैठे?
कुआ खोदकर क्या तुम उसमें यह पानी भरने बैठे?
नहीं! नहीं! चाचाजी! मैं तो अच्छा बाग लगाऊंगा,
मैं बन्दूक बो रहा, बन्दूकों का पेड़ लगाऊंगा॥
"अच्छा! तुम बन्दूक बो रहे, पर फल किसे चखाओगे?
क्या चिड़ियों के छोटे-छोटे बच्चे मार गिराओगे?
"बन्दूकों का फल चाचाजी! मेरे दुश्मन खायेंगे,
चिड़ियों के बच्चे तो मेरे साथ खेलने जायेंगे।"
—सरदार भगतसिंह, पृ० २७-२८।

२. "प्रतिपल मोम से मनमें रस की चाह बनी रहती थी।
कब हो रात्रि मिलूं कब 'वा' से, मनकी कली यही कहती थी॥
बात किया करते पत्नी से, सोने नहीं दिया करते थे।
मन के उजियाले दीपक को, मन्दा नहीं किया करते थे॥
+ + + +
जब से मैं आई हूं तब से, घर में नाथ! घुसे रहते हो।
घर का काम न करने देते, अपनी ही अपनी कहते हो॥
आप चले जाते हैं घर से, मेरी आंख झुकी रहती है।
उनके स थ मिली रहती हैं, सखियां छेड़-छाड़ करती हैं॥"
—जननायक, सर्ग २, पृ० ४३।

३. देखिए—वही, पृ० ३३-३६।

४. "कहा जवाहर ने कमला से—आओ हम तुम घूमें।
इस दुनिया के बाग-बाग में झूल-झूल कर झूमें॥
देखो कलाकार ने रूपसि! क्या संसार बनाया।
रूप-रूप पर मधुकर आये, कण्ठ-कण्ठ ने गाया॥
—तथा— —मानवेन्द्र, पृ० १०७।
प्रिय वसन्त वह याद आ रहा-प्रथम मिलन के रस का
आंसू बनकर बरस रहा रस, बातों का बस-बस का।
मौसम मधुर फूल खिलते हैं, फूल-फूल पर मधुकर।
खोज रहा है फूल देश के, मुझे भूलकर मधुकर॥"
—वही, पृ० २२५।

चिन्तनात्मक व कल्पना प्रधान प्रबन्धकाव्य—इस वर्ग में प्रमुख प्रबन्ध-काव्य 'मेधावी', लोकायतन' आदि हैं।

'मेधावी' तथा 'लोकायतन' प्रबन्धकाव्यों का आरम्भ ही चिन्तन से हुआ है। अतः इन प्रबन्धकाव्यों में प्राचीन परम्परानुसार रस-योजना नहीं मिलती है। इन प्रबन्धकाव्यों में अनेक बौद्धिक सिद्धांतों तथा विचारों का यथावत वर्णन मिलता है। इन दोनों में हमारे विचार से शान्त-रस की अभिव्यंजना प्रमुख रही है। 'मेधावी' के आत्म चिन्तन के रूप में शान्त-रस की धारा प्रवाहित हो रही है—

रस[1] की भी कहीं-कहीं युगानुकूल झांकी मिल जाती है; किन्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि रस–योजना की दृष्टि से 'मेधावी' तथा 'लोकायतन' ने प्राचीन परम्पराओं का उच्छेद कर एक नूतन परम्पराओं का सूत्रपात किया है।

निष्कर्ष—रस-गत प्रयोगों का आकलन :—

शृङ्गार रस के क्षेत्र में प्रयोग—विवेच्य युग के हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में एक नवोन्मेष दृष्टिगोचर होता है, जिसके फलस्वरूप रस–व्यंजना की स्वीकृति प्रणाली में भी नये प्रयोग हुए हैं। काव्य में शृङ्गार-रस-राजत्व स्वीकृत सिद्धान्त है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के अधिकांश प्रबन्धों में शृङ्गार-रस अंगी होकर आया है, परन्तु इन प्रबन्धकाव्यों ने रति के क्षेत्र में नये-नये आलम्बनों का विधान किया है, तथा नये-नये संचारी भावों को भी प्रयुक्त किया है। दैत्यवंश, रावण, अंगराज, संशय की एक रात, विष्णुप्रिया कनुप्रिया, रत्नावली आदि रचनाओं के शृंगार–वर्णन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस काल की कुछेक रचनाएँ —'दमयन्ती',[2] 'दैत्यवंश'[3] और 'रावण' आदि को छोड़कर अन्य रचनाओं में 'दूत व संदेशहर' की परम्परा समाप्त प्रायः है। आलोच्य-काव्य में चन्द्रोपालम्भ, अष्टयाम, ऋतु एवं बारहमासा के वर्णन की प्रथा लुप्त प्रायः है। इस युग में देश-प्रेम की रचनाओं ने भी आलम्बन का क्षेत्र विस्तृत किया है। देशभक्त, बलिदानी, आत्मत्यागी, सत्याग्रही, समाज सेवी नेता आदि मातृ-भूमि सेवकों को भी आलम्बन के रूप में ग्रहण किया गया है। पूज्य बापू, नेहरू, सरदार भगतसिंह आदि को आलम्बन मानकर अनेक कवियों ने देश–प्रेम के उद्गार व्यक्त किए हैं।

---

१. लो सुनो, बजी रण-भेरी
 हिम शृङ्गों का नादित कर,
 दिग् ध्वनित हुआ जगती में
 आक्रमण चीन का बर्बर !
 उत्तर प्राचीर हिमालय
 अरि चापों से अब कम्पित
 भारत का अविजित प्रहरी
 होगा न कभी पद मर्दित।"
 —लोकायतन, पृ० १७५।

२. दमयन्ती, सर्ग ८, पृ० ७६–७७

३. दैत्यवंश, सर्ग ७।

वीर रस के क्षेत्र में प्रयोग—

आलोच्य-कालीन प्रबन्धकाव्यों में वीर-रस के व्यंजक उपकरणों में भी नये-नये प्रयोग हुए हैं। ये प्रयोग अधिकतर वीर-रस के आश्रय, आलम्बन एवं व्यभिचारी भावों में दिखाई पड़ते हैं।

वीर रस के नये आश्रय—

प्राचीन परम्परानुसार वीर रस के आश्रय चार प्रकार के हुआ करते थे—युद्धवीर, दान-वीर, दया-वीर और धर्मवीर। किन्तु आलोच्य प्रबन्धों में, स्वातन्त्र्यवीर, राष्ट्रवीर, सत्यवीर, अहिंसावीर, प्रतिज्ञावीर, बलिदानवीर, विजयवीर, त्यागवीर, प्रणवीर आदि अनेक प्रकार के वीरत्व के आश्रय का प्रादुर्भाव हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के प्रबन्धों में वीरत्व का आश्रय नारियों, दैत्यों व देशभक्तों को भी बनाया गया है। 'झांसी की रानी' में लक्ष्मीबाई, 'विक्रमादित्य' में ध्रुवदेवी,[1] ऐसी वीरांगनाएँ हैं, जो विदेशीय शत्रुओं को भारत से बाहर खदेड़ने के लिए युद्ध-भूमि पर उतरती हैं। वीरत्व के आश्रय के रूप में वीर माताओं, वीर बहनों, वीर पुत्रियों और वीर पत्नियों को भी चुना गया है।

नारियों की भांति वीरत्व के आश्रय में परम्परा का उच्छेद कर 'दैत्य-वंश', 'रावण', 'अङ्गराज' आदि प्रबन्धों में दैत्य एवं जाति-च्युत जो अधम पात्र हैं, उन्हें भी आश्रय के रूप में चित्रित किया गया है।

'सरदार भगतसिंह', 'जननायक', 'जगदालोक', 'मानवेन्द्र' आदि प्रबन्ध काव्यों में देश और समाज से प्रेरित नवयुवकों में वीर-भाव की व्यंजना की है।

वीर रस के नये आलम्बन :—

शासक, आततायी, राष्ट्रद्रोही, पूंजीपति, शोषक, सामन्त एवं साम्राज्यवाद के पोषकों को वीर रस का आलम्बन चुना गया है।

वीर रस के नये संचारी :—

विवेच्य-युग के वीर-रस प्रधान प्रबन्धकाव्यों में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं प्रगतिशील तीनों काव्य प्रवृत्तियों में उच्च-स्तर के वीर भावों की अभिव्यंजना हुई है। आलम्बन के प्रति प्रतिज्ञा, ललकार, चुनौती, हुंकार, अवज्ञा, उल्लास, गर्जन, दमन, उत्पीड़न, संघर्ष, दृढ़ता, साहस, निर्भीकता, स्वाभिमान के भावों की अभिव्यक्ति पाई जाती है। उत्साह के अन्तर्गत कुछ नवीन संचारी भावों के भी दर्शन होते हैं—विक्षोभ, क्रान्ति, असंतोष, ईर्ष्या, नैराश्य, स्पर्द्धा विजय आदि। इनमें से कई परम्परागत तैंतीस संचारियों में आ गये हैं, किन्तु नये आलम्बन और नये आश्रय के साथ सम्पर्कित होने के कारण उनकी व्यंजना सर्वथा नवीन है। रौद्र और भयानक रसों का घनिष्ठ सम्बन्ध वीर रस है अतः इन रसों में वे ही नवीनताएँ हैं, जो वीर-रस में आई हैं।

करुण रस के क्षेत्र में नये प्रयोग :—

आलोच्य-काल के प्रबन्धकाव्यों में करुण-रस के क्षेत्र में भी कुछ नवीन प्रयोग हुए हैं। ये परिवर्तन या प्रयोग आलम्बन, आश्रय और संचारियों के क्षेत्र में हुए हैं। 'युगस्रष्टा:प्रेमचन्द' व 'मीरा', 'जननायक' आदि प्रबन्धकाव्यों में दलित वर्ग से सम्बन्धित त्रस्त एवं उत्पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई है। 'जगदालोक', 'जननायक' व 'मानवेन्द्र' आदि में देश के विभाजन के अवसर के चित्रों के वर्णन में अनेक नवीन करुणापूर्ण दृश्य उपस्थित हुए हैं।

वात्सल्य रस के क्षेत्र में नये प्रयोग :

भाषा-शैली

अमुक की है। प्रत्येक कलाकार की अपनी शैली होती है, यह भिन्नता भाषा में भी उपलब्ध हो, यह आवश्यक नहीं है। दो मनुष्यों की भाषा में अतिसमता हो सकती है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शैली अपनी विशेषताओं से एक रचनाकार को दूसरे से अलग खड़ा कर देती है। भाषा की भाँति शैली भी अनुकरणीय है। अपने से पूर्ववर्ती रचनाकारों से जो रूपशैली अपनाई जाती है वही भाषा-शैली की परम्परा होती है तथा शब्दों का नवीन प्रयोग व उनके प्रतिपादन की मौलिकता भाषा-शैली के नवीन प्रयोग हैं।

भाषा :—

भाषा की दृष्टि से विवेच्य–युग के प्रबन्धकाव्य तीन प्रकार के मिलते हैं—(१) ब्रजभाषा के प्रबन्धकाव्य, (२) ब्रज, अवधी व खड़ी बोली मिश्रित प्रबन्धकाव्य और (३) खड़ी बोली हिन्दी के प्रबन्धकाव्य।

(१) ब्रजभाषा के प्रबन्धकाव्य–'दैत्यवंश', 'रावण' तथा 'कूबरी' आदि प्रबन्धकाव्य ब्रजभाषा में रचे गए हैं। ब्रजभाषा की परम्परा हिन्दी-साहित्य में मध्यकाल से चली आई है। भारतेन्दु–काल के अंतिम चरण में आकर इसका प्रवाह कुछ मन्द हो गया। आधुनिक युग के कतिपय महाकवियों ने विशुद्ध रूप से इस भाषा को अपने प्रबन्धों में अपनाया है। 'दैत्यवंश' की भाषा साधारणतया प्रौढ़, परिमार्जित ब्रजभाषा है, पर कहीं-कहीं उस पर खड़ी बोली का प्रभाव भी दिखाई देता है। इस प्रबन्धकाव्य की भाषा प्रसंगानुसार कहीं कोमल और कहीं ओजपूर्ण दिखाई देती है, किन्तु इसकी रचना में कहीं दुरूहता नहीं पाने पाई है। उदाहरण के लिए देवों के डर से शची की व्याकुलता तदनुकूल कोमल और मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त हुई है :—

इसी प्रकार बाण-सेना का प्रस्थान ओजस्विनी भाषा में वर्णित है।[1] भाषा में प्रवाह और सजीवता लाने के लिए 'दैत्यवंश' में यत्र-तत्र लोकोक्तियों और मुहावरों का भी ब्रजभाषा में परम्परानुकूल प्रयोग हुआ है, जैसे—

"जो करे हठ तेहि को दबावत यह बड़ेन की रीति है।"[2]
"ले अपने ही हाथ परसु निज पायन पार्यो।"[3]
"जो खनत औरन के निधन हित कूप मग में जायके।
ह्वै सावधान तथापि तेही गिरत वामें आपके।"[4]
"सब कहत सज्जन कबहुं निज मरजाद को छोरें नहीं।"[5]
"पूत कपूत बने तो बनें, तऊ मातु कुमातु बने कवों नाहीं।"[6]

'रावण' प्रबन्धकाव्य की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, उस पर कवि का पूरा अधिकार दिखाई देता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट है—

"सुनि के सुलोचना के मंजुल बचन इमि,
मांग में तिया के गौरि-सिंदुर लगाय है।
अरुमनि-मंडित-अंगूठी को उतारि निज-
आंगुरी तें बाल को तुरत पहराय है॥
अति अनुरोध सों लजाती-नाग-नन्दिनी को,
आपने–जुगल–पद–पंकज छुआय कै।
अंकभरि वाकों निरसंक लंकनाथ–सुत,
आयो निज राज लौटि हिय हरषाय कै॥"[7]

---

१. बाजत सैन सैन पर डंका। होत महा रव घोर अतंका॥
धुन्ध पूरी इमि चहुं दिसि रहेऊ। मनहुं सांझ दिन मनि छिपि गयऊ॥
हाली धरा सेस फन डोले। करि चिक्कार हिरद बहु बोले॥
गुहा मांहि निंदिया तजि गाढी। सिंहिन आइ द्वार पै ठाढ़ी॥
—दैत्यवंश, सर्ग ४, दोहा १२।

२. वही, सर्ग ३। ७
३. वही, स० २। २८
४. वही, सर्ग ३। ४२
५. वही, सर्ग ३। ३२
६. वही, सर्ग १०। ५८
७. रावण महाकाव्य, सर्ग ६। ५०

प्रभाव परिलक्षित होता है।[1] डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा के विषय में लिखा है—"चरितामृत की भाषा में ब्रज और अवधी का मिश्रण है। यदि इसमें 'मानस' का अनुकरण न होता तो संभवतः अवधी का पुट न होता। यद्यपि कवि का अवधी से कोई संबन्ध नहीं रहा है, किन्तु 'रामचरितमानस' के अवधी रूप उसकी स्मृति पर आरूढ़ हैं। कहीं-कहीं खड़ी बोली के प्रयोग भी मिलते हैं। इनके कारण ग्रन्थ की भाषा ने कहीं-कहीं संत-कवियों की भाषा का रूप पा लिया है। प्रवाह, प्रांजलता और चुस्ती के साथ माधुर्य भाषा का सहज गुण है।"[2]

'ऊर्मिला' प्रबन्धकाव्य की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है, किन्तु कृतिकार ने 'ऊर्मिला' का संपूर्ण पंचम सर्ग ब्रजभाषा में लिखा है। इसके किसी कारण का संकेत कृतिकार ने तो कहीं नहीं दिया है, किन्तु हमारे विचार से इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि कवि का ब्रजभाषा से अधिक मोह रहा हो। दूसरा यह कारण भी हो सकता है कि कवि ने ब्रजभाषा के दोहों-सोरठों में स्वतन्त्र रूप से रीति-कालीन परंपरा के अनुसार 'सतसई' की रचना की हो, क्योंकि प्रस्तुत कृति के पंचम सर्ग में कुल मिलाकर सात सौ चार छन्द है, यदि इस पूरे सर्ग को, जिसमें कि ऊर्मिला के विरह का ही वर्णन है, निकाल भी दिया जावे तो कृति के प्रबन्धत्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। अतः हमारे विचार से 'ऊर्मिला' प्रबन्धकाव्य का ब्रजभाषा में लिखा पंचम सर्ग मुक्तक काव्य के अधिक निकट है तथा आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में यह एक भाषा-गत प्रयोग है। एक दो उदाहरण से यह स्वतः स्पष्ट है—

"सजन, तनिक-सी गगरिया, क्यों खाली रहि जाय ?
नेक निकट आवहु इतैं, भरहु याहि मुसिक्याय ॥

'कूबरी' प्रबन्धकाव्य की भाषा 'दैत्यवंश' तथा 'रावण' प्रबन्धकाव्यों की भी, विशुद्ध साहित्यिक, ब्रज-भाषा नहीं है। कवि के अनुसार 'कूबरी' की भाषा वर्तमान काल में मथुरा के आसपास बोली जाने वाली ब्रजभाषा है।[1] कवि के शब्दों में मैंने अपने आपको रीतिकालीन भाषा के प्रवाह से बचाकर उसके वर्तमान रूप को ही ग्रहण किया है और उसे विशेष रूप से ब्रज-बोली के वर्तमान देशज शब्दों से संजोया है। ब्रजभाषा को वर्तमान काव्य-भाषा के निकट लाने की चेष्टा रही है।"[2] भाषा-प्रयोग की दृष्टि से 'कूबरी' प्रबन्धकाव्य की भाषा एक नया प्रयोग है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट है—

> "अरी निठल्लो बहुत चलै ही त्यारो लल्लो।
> पनघट, हाटन बाट, जमुन-तट पै घिस गिल्लो।
> तुम्हें एक ही काम हों, स्याम होंय बदनाम।
> यासों इन्हें सुलच्छनी, मिलै न सुन्दर बाम॥
> पूजती तुम ही रहो॥[3]

प्रभाव परिलक्षित होता है।[१] डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा के विषय में लिखा है—"चरितामृत की भाषा में ब्रज और अवधी का मिश्रण है। यदि इसमें 'मानस' का अनुकरण न होता तो संभवतः अवधी का पुट न होता। यद्यपि कवि का अवधी से कोई संबन्ध नहीं रहा है, किन्तु 'रामचरितमानस' के अवधी रूप उसकी स्मृति पर आरूढ़ हैं। कहीं-कहीं खड़ी बोली के प्रयोग भी मिलते हैं। इनके कारण ग्रन्थ की भाषा ने कहीं-कहीं संत-कवियों की भाषा का रूप पा लिया है। प्रवाह, प्रांजलता और चुस्ती के साथ माधुर्य भाषा का सहज गुण है।"[२]

'ऊर्मिला' प्रबन्धकाव्य की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है, किन्तु कृतिकार ने 'ऊर्मिला' का संपूर्ण पंचम सर्ग ब्रजभाषा में लिखा है। इसके किसी कारण का संकेत कृतिकार ने तो कहीं नहीं दिया है, किन्तु हमारे विचार से इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि कवि का ब्रजभाषा से अधिक मोह रहा हो। दूसरा यह कारण भी हो सकता है कि कवि ने ब्रजभाषा के दोहों-सोरठों में स्वतन्त्र रूप से रीति-कालीन परंपरा के अनुसार 'सतसई' की रचना की हो, क्योंकि प्रस्तुत कृति के पंचम सर्ग में कुल मिलाकर सात सौ चार छन्द है, यदि इस पूरे सर्ग को, जिसमें कि ऊर्मिला के विरह का ही वर्णन है, निकाल भी दिया जावे तो कृति के प्रबन्धत्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। अतः हमारे विचार से 'ऊर्मिला' प्रबन्धकाव्य का ब्रजभाषा में लिखा पंचम सर्ग मुक्तक काव्य के अधिक निकट है तथा आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में यह एक भाषा-गत प्रयोग है। एक दो उदाहरण से यह स्वतः स्पष्ट हैं—

"सजन, तनिक-सी गगरिया, क्यों खाली रहि जाय ?
नेक निकट आवहु इतैं, भरहु याहि मुसिक्याय ॥

या पनघट के मुनट तुम, या पनघट के राज,
खेलि खेल ओझल भए क्यों पनघट तें आजु ?
मम नागरिया गगरिया, भई आज निस्तब्ध,
फाकरिया मारहु, करहु झन झंकृतिमय शब्द।
विहंसि कांकरी मारहू, मरहू गागरी आय,
प्यासी मेरी कलसिया, लटकि रही निरुपाय ॥"[1]

ब्रजभाषा में रचित दोहों वाला यह सर्ग सिद्ध करता है कि कवि का ब्रजभाषा पर भी उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी पर। सम्पूर्ण काव्य हिन्दी का है किन्तु उसके बीच पांचवां सर्ग ब्रजभाषा में रचकर कवि ने एक नई परम्परा का सूत्रपात किया है। प्रस्तुत रचना की भाषा व्याकरणानुमोदित है, किन्तु कहीं-कहीं तुकों के आग्रह ने भाषा को लचर बना दिया है। 'देखो' के साथ सर्वत्र तुक के लिए 'पेखो', लेखो आदि शब्द ही मिलते हैं।[2] इसी प्रकार 'जानो हो', 'मानो हो' आदि का विचित्र प्रयोग है।[3] शत्रुघ्न का ऊर्मिला के लिए 'कहो कहो रानी कल्याणी'[4] जैसे शब्द-प्रयोग भारतीयता के प्रतिकूल है।

(३) खड़ी बोली हिन्दी के प्रबन्धकाव्य—आलोच्यकाल के उक्त दोनों वर्गों के प्रबन्धकाव्यों को छोड़कर शेष समस्त प्रबन्धकाव्य खड़ी बोली हिन्दी में लिखे गए हैं। खड़ी बोली को एकमात्र काव्य-भाषा बनाने की परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु काल में ही हो गया था, किन्तु प्रबन्धकाव्य के रूप में सर्वप्रथम प्रौढ़ कृति 'प्रियप्रवास' ही हमारे सामने आती है। इसके विषय में प्रिय-प्रवासकार ने स्वयं लिखा है 'खड़ी बोली में छोटे-छोटे कई काव्य-ग्रन्थ अब तक

लिपिबद्ध हुए हैं, परंतु उनमें से अधिकांश सौ-दोसौ पदों में ही समाप्त है, जो कुछ बड़े है, वे अनुवादित है, मौलिक नहीं। सहृदय कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ–वध' निःसंदेह मौलिक ग्रंथ है, परंतु यह खण्ड-काव्य है। इसके अतिरिक्त ये समस्त ग्रंथ अंत्यानुप्रासविभूषित है, इसलिए खड़ी बोल-चाल में मुझको ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता दीख पड़ी जो महाकाव्य हो और ऐसी कविता में लिखा गया हो जिसे भिन्न तुकांत कहते हैं। अतएव मैं इस न्यूनता की पूर्ति के लिए कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और अनवरत परि-श्रम करके इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रंथ की रचना की जो कि आज आप लोगों के कर-कमलों में समर्पित है।"[1] आलोच्यकाल के अधिकांश प्रबंधकाव्यों में भाषा को साधारण जीवन के निकट लाने की प्रवृत्ति अधिक प्रबल है—काव्य भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट लाने का प्रयोग इस काल के प्रबंध-काव्यों में अधिक किया गया है। 'जयभारत', 'मीरां', 'प्रेमचंद', 'देवार्चन', 'रत्नावली', 'कनुप्रिया', 'जननायक', 'मानवेन्द्र', 'सरदार भगतसिंह', 'संशय की रात', 'आत्मजयी' आदि अनेक प्रबंधकाव्यों में बोलचाल की तर्ज, लोकप्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों की दृष्टि से भाषा को जन-जीवन के निकट सम्पर्क में लाने का प्रयास हुआ है, किंतु कुछ ऐसे प्रबंधकाव्य भी दिखाई देते हैं, जिन की भाषा संधि-समास युक्त संस्कृतगर्भित है। इन प्रबंधकाव्यों में 'वर्द्धमान', 'अंगराज' आदि प्रमुख हैं।

हिन्दी-भाषा (खड़ी-बोली) में विरचित उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों में प्रधान रूप से दो प्रकार की भाषा के प्रयोग मिलते हैं–(अ) सन्धि-समास युक्त संस्कृत-गर्भित भाषा तथा (ब) साधारण बोलचाल की भाषा।

(अ) सन्धि-समास-युक्त संस्कृत गर्भित भाषा :–आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में संस्कृत-तत्समशब्द–प्रधान भाषा का प्रयोग नया नहीं है। इसकी परम्परा बहुत प्राचीन है। तुलसी का 'रामचरित्मानस' केशव की 'रामचन्द्रिका' तथा स्वतन्त्रता पूर्व आधुनिक काल के कवि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय-प्रवास' व मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में भी संस्कृत-तत्समप्रधान भाषा के दर्शन होते हैं।

---

१. प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ २।

आलोच्य प्रबन्धकाव्य की संस्कृत तत्सम प्रधान भाषा में दो बातें विशेषतः पाई जाती हैं–(१) सन्धियुक्त पद तथा (२) समासान्त पदावली।

यथैव,[1] तदुपरान्त,[2] सानुज,[3] तथैव,[4] ध्यानावस्थित-विश्वेश्वर[5] आदि पद सन्धियुक्त हैं। विधि-विडम्बना-विवश; तुषार-प्रपात, रोषभीत, मृगदृगी, भारत-विजय वैजयन्ती,[6] शुभ्रा-ज्योति-किरीट-मण्डितशिरा, वारिधि-निचुम्बित[7] आदि सामासिक पद हैं।

आलोच्यकाल के 'वर्द्धमान', 'अङ्गराज', 'जयभारत', 'तारकवध', 'एकलव्य', 'जगदालोक', 'दमयन्ती', 'लोकायतन' आदि प्रबन्धकाव्यों में संस्कृत-भाषा के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिकांश रूप में हुआ है। 'सदाशिव चरितामृत' के तो प्रत्येक 'चरण' का आरम्भ 'मानस' की भांति संस्कृत भाषा के ही छन्दों में होता है। कतिपय प्रबन्धकाव्यों में कहीं-कहीं संस्कृत की सूक्तियों को ज्यों का त्यों अपना लिया गया है—जैसे 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरोवा',[8] 'शान्तं पाप',[9] 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम',[10] 'विषस्यविषमौषधम्'[11] आदि।

'अङ्गराज'[1] और 'वर्द्धमान'[2] जैसे प्रबन्धकाव्यों में संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों के प्रयोग की भरमार है, जिनका बोध पाठकों के लिए एक समस्या बन गया होता, यदि पाद टिप्पणियों में उनके अर्थ न दिये गये होते। 'एकलव्य' में तो अप्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों[3] के साथ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग वस्तुतः एक नवीन प्रयोग है, यथा—आकर्षण, विकर्षण, पर्याकर्षण, अनुकर्षण, मंडलीकरण, पूरण, संधारण, आसन्नपात, दूरपात, पृष्ठपात, भरत-न्यास, नारी-बाण, पुरुष-बाण, नपुंसक-बाण, आरामुख, धेनुपुच्छ, क्षुरप्र, अर्द्ध-चन्द्र, सूचीमुख, मल्लमुख, वत्सदंत, कर्णिक, स्थिरलक्ष्य, चल-लक्ष्य, चलाचल-लक्ष्य, द्वै चल-लक्ष्य, आलीढ़, प्रत्यालीढ़, विशाख, समपाद, असम, गरुड़-क्रम, दुर्दर-क्रम, पद्मासन आदि शब्दविशेष उल्लेखनीय है ।[4] इन सबका उल्लेख धनुर्वेद और लक्ष्य-संधान के किसी न किसी अंग से है और उन्हीं के सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार विजय, सुनन्द और नन्द शब्द भी विभिन्न प्रकार की तलवारों के नाम हैं। इस प्रकार के परिभाषिक शब्दों की एक साथ बहुल मात्रा में प्रयोग की यह परम्परा पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में कठिनता से ही उपलब्ध होती है। अतः इस दृष्टि से भी यह एक प्रयोग है।

(ब) साधारण बोलचाल की भाषा :—स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्ध-काव्यों की भाषा को जनभाषा के निकट लाने की प्रवृत्ति 'मेधावी',[5] 'विक्रमा-

---

१. वैवस, विष्टर, दिवोकसी, चतुष्क, कपोटयोनि आदि। वर्द्धमान।

२. कचकोर, रुक्मज्वाल, पौगंड, कुण्डकोंट, उपाधी, अरिभद्र, जंघिल आदि।
—अंगराज।

३. अश्रोत्रिय, श्रोत्रिय, अन्तार्दत, सूद, प्रांशु, ह्रस्व, रथ—घ्र, पांशु, धारासार, स्वस्तिरस्तु, शाश्वती, अंगारक, अग्रिम, कुहोश्चुः, मायमा, अवरेव, अयन, त्रिसरेणु, ज्याघाती, दंष्ट्र, किष्कु, नीवार, गवेधु, प्रतोद, निस्तन्द्र, आयस्क आदि। देखिये—एकलव्य, पृष्ठ क्रमशः ४६, ४६, ५६, ६३, ६६, ६६, ६८, ६६, १०१, १०१, १२५, १३६, १४०, १४२, १६०, २००, २०८, २०६, २०६, २०६, २०६, २४०, २७२ और २८६।

४. देखिये—एकलव्य (परि० 'क') पृ० १—६।

५. मेधावी, पृ० २५५–२५६।

आलोच्य-काल के प्रबन्धकाव्यों की भाषा में लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है—

"और गगन पर जो असंख्य आग्नेय जीव बैठे हैं।
लगते हैं धुंधले अरण्य में हीरों के कूपों से ।।"[1]
"फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती ।।[2]
"यौवन का भग्नावशेष वह तब फिर किसे रुचेगा ।।"[3]

उक्त अवतरणों में 'आग्नेय जीव' एवं 'हीरों के कूप,' 'तृषा चीत्कार,' 'यौवन का भग्नावशेष' आदि प्रयोग ऐसे हैं, जिनसे बड़े ही मनोरम एवं चमत्कारपूर्ण अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार के लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्दों के प्रयोन की परम्परा पूर्ववर्ती छायावादी प्रबन्धकाव्यों में भी मिलती है, किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग बाहुल्येन हुआ है। अतः इस दृष्टि से इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग यहाँ आते-आते परम्परा का रूप धारण कर लेते हैं।

अंग्रेजी के वाक्यों एवं शब्द खण्डों के अनुकरण की प्रवृत्ति भी आलोच्य-काल के कतिपय प्रबन्धकाव्यों में दिखाई देती है। जो लोग अंग्रेजी-साहित्य से काफी परिचित हैं उन लोगों को ऐसे शब्दों का अर्थ लगाकर काव्य का आस्वादन करना आसान हो जाता है। 'कनुप्रिया', 'मेधावी,' रत्नावली,' 'आत्मजयी' आदि प्रबन्धकाव्यों में यह प्रवृति विशेष रूप से पाई जाती है। इन प्रबन्धकाव्यों में स्वर्गीय-प्रकाश,[4] अजान-नयन, [5] स्वप्निल मुस्कान,[6] सुनहले स्पर्श,[7] रूपहले,[8] यंत्रकाल,[9] दबी वासना, [10] भग्नहृदय,[11]

---

१. उर्वशी, पृ० ६२।
२. वही, पृ० ४८।
३. वही, पृ० १०३।
४. डिवाइन लाइट।
५. इनोसेन्ट आई।
६. ड्रीमी स्माईल।
७. गोल्डन टच।
८. सिलवरी, 'यह रात रूपहली आई' —उर्वशी, पृ० ८।
९. मशीन एज।
१०. सप्रेस्ड डिजाइर।
११. ब्रोकन हार्ट।

क्वांरा फूल,[१] आदि-आदि पदों के प्रयोग अंग्रेजी वाक्यांशों के अनुवाद मात्र हैं।

अंग्रेजी के शुद्ध शब्द भी अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में ज्यों के त्यों लिए गये हैं। ऐसे शब्दों में सेक्स, साइंस, होटल, बाल, मिनट, होम, रेड़ियो[२] आदि अनेक शब्द हैं। इस प्रकार के शब्दों की परम्परा स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में भी मिलती है, किन्तु वर्तमान समय में इनका प्रयोग पहले से कहीं अधिक होने लगा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आलोच्य-काल के प्रबन्धकाव्यों की भाषा खड़ी बोली के सहज स्वरूप की ओर अधिक झुक गई है। काव्य-भाषा सम्बन्धी पिछली परम्पराओं से लाभ उठाकर उसने अपनी अभिव्यंजना-क्षमता को काफी बढ़ा लिया है। शब्द-चयन और शब्द-योजना की दृष्टि से जन-भाषा की ओर उसका झुकाव अधिक हुआ है। देशज शब्दों का प्रयोग भी बहुलमात्रा में हुआ है। इसके अतिरिक्त आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में नये विशेषणों और नयी क्रियाओं की सृष्टि भी की गयी है। क्रियाओं के प्रयोग पर अंग्रेजी और बंगला आदि अन्य भाषाओं का प्रभाव भी परिलक्षित होता हैं।

शैली :—

'प्रबन्धकाव्य' शब्द पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसमें एक विशेष व्यवस्था (प्रबन्ध) होती है, यह व्यवस्था ही इस बात का प्रमाण है कि प्रबन्धात्मकता अपने आप में एक शैली है। शैली भाषा की

भांति अर्जित सम्पत्ति होती है। अतः वह अनुकरणीय है। आलोच्य प्रबन्ध-काव्य के कवियों ने अपने से पूर्ववर्ती प्रबन्ध-काव्यकारों की शैलियों को अपनाने का प्रयास किया है। अनुकरणीयता की प्रथित भूमि छन्द और अलंकार है। 'कथानक रूढ़ियों' और 'कवि समय' में भी अनुकरण की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है; फ़िर भी प्रत्येक का क़हने का अपना एक ढंग होता है। इसीलिए यह कहना अतिरंजित नहीं कि शैली साहित्यकार की एक वैयक्तिक विधा है जिसका क़ि निर्माण साहित्यकार के जीवन के ऊषा-काल से ही होने लगता है।[1]

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से परम्परागत शैलियां दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें इतिवृत्तात्मक, संवादात्मक, प्रगीतात्मक, प्रश्नोत्तर, वर्णन-प्रधान, समास-प्रधान आदि शैलियां प्रमुख हैं। इनके साथ ही शैलीगत परम्परा और प्रयोग को ध्यान में रखते हुए हमें 'कवि-समय' 'कथानक-रूढ़ियों' 'शिल्प-विधान', 'अलंकार-विधान', 'प्रतीक-योजना', 'विम्ब-विधान', 'छन्द-योजना आदि का अध्ययन भी आवश्यक है।

इतिवृत्तात्मक शैली :—

इसमें इतिवृत्त की प्रधानता होती है। 'जयभारत',[2] 'जननायक',[3] 'जगदालोक',[4] 'देवार्चन',[5] 'दमयन्ती',[6] 'युगस्रष्टा:प्रेमचन्द',[7] 'रामराज्य',[8] 'विष्णुप्रिया',[9] 'भूमिजा',[10] 'मानवेन्द्र'[11] आदि में इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता है। इस शैली की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत में विक्रमांकदेव चरित, राजतरंगिणी तथा हिन्दी में पृथ्वीराज रासो, प्रियप्रवास आदि में भी यही परम्परा दिखाई देती है।

---

१. थामस जैफर्सन : राइटिंग्स : वोल्यूम ५, पृ० १८५।
२. देखिये—जयभारत, द्रौपदी और सत्यभामा, पृ० १८३।
३. जननायक, पृ० ३५३।
४. जगदालोक, सर्ग ६, पृ० ६७।
५. देवार्चन, सर्ग ७।१२४, पृ० १५६।
६. देखिये—दमयन्ती, पृ० १६७।
७. प्रेमचन्द, पृ० ११४।
८. रामराज्य, पृ० १०५।
९. देखिये—विष्णुप्रिया, पृ० ७०।
१०. भूमिजा, पृ० ६८।
११. मानवेन्द्र, पृ० ३४३।

संवादात्मक व प्रगीतात्मक शैली :—

नाटकीय तत्त्वों के रूप में संवादों का प्रयोग तो पर्याप्त समय से प्रबन्धकाव्यों में होता चला आया है, परन्तु स्वतन्त्रता से पूर्व छायावादी युग में वस्तु के समकक्ष आत्म, बाह्य के साथ अन्तः और मूर्त के साथ अमूर्त की महत्त्व स्थापना के परिणामस्वरूप शैली में प्रगीतात्मक पद्धति का प्रयोग मुक्तक काव्य के साथ प्रबन्धकाव्यों में भी प्रचुर मात्रा में होने लगा है। विवेच्ययुग के 'विक्रमादित्य', 'मेघावी', 'तप्तगृह', 'एकलव्य', 'उर्वशी', 'ऋतंबरा', 'द्रोण', 'विष्णुप्रिया' आदि प्रबन्धकाव्यों में वर्णन के साथ प्रगीत या गीत का तथा नाटकीयता के लिए संवादों का प्रयोग किया गया है। जहां एकाधिक पात्रों की वार्ता का प्रसंग है वहां वर्णन की एकरसता कथोपकथन की नाटकीय योजना से दूर हो गई है। 'ऋतंबरा', 'मेघावी', 'तप्तगृह' आदि के कवियों ने तो इस योजना के लिए पात्रों के अमूर्त-भावों का स्वयं विश्लेषण न करके उनका मानवीयकरण कर आत्म-विश्लेषण कराया है। 'तप्तगृह' में प्रवंचना के मध्य बन्दीगृह में होने वाला संवाद इसी प्रकार का है। इसमें इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में भी नाटकीय और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का मणि-कांचन योग हुआ है। 'ऋतंबरा' में भी कथा का विकास अनेक प्रसंगों में संवादों के बीच ही हुआ है, किन्तु अन्य काव्यों की अपेक्षा इसमें यह प्रवृत्ति कम है। 'मेघावी' की कथा में अभिकर्त्ता मानवीय पात्रों का एकान्त अभाव है और कवि ने अमूर्त भावों या जड़ पदार्थों का मानवीयकरण करके पात्र-रूप में प्रस्तुत नहीं किया, अतः वर्णन की एकरसता दूर कर नाटकीयता के समावेश के लिए प्राकृतिक तत्त्वों का वर्णन न कर उत्तम पुरुष में आत्म-परिचय कराया गया है, यथा—

'विक्रमादित्य' में नाटकीयता का आग्रह, दुराग्रह बन गया है। समस्त काव्य संवादों में लिखा गया है और इस रूप में ऊपरी दृष्टि से यह प्रबन्ध, पद्यनाटक प्रतीत होता है, किन्तु इन संवादों से काव्य में नाटकीयता की अभिवृद्धि नहीं हो सकी। इसके संवादों में न चुस्ती है, और न संक्षिप्तता। सजीवता भी अप्राप्य है। प्रत्युत्पन्नमति का परिचय भी पात्रों के कथोपकथन में नहीं मिलता। ये संवाद लम्बे-लम्बे विस्तृत भाषण से हैं। अनेक प्रसंगों में कवि ने बड़े-बड़े स्वागतों का प्रयोग किया है जो कहीं सस्वर चिंतन और कहीं स्वांग या नौटंकियों की सी शैली के समान प्रतीत होते हैं। तीन पृष्ठों का ऐसा ही एक स्वगत का आरम्भ द्रष्टव्य है—

> भूधर—है अवसर अनुकूल बड़ा ही, सेना लेकर जाना है,
> एक बार अपना कौशल फिर, रण में मुझे दिखाना है।
> कूटनीति की विजय हुई तो, फिर मेरी पौबारा है।
> बिना रक्त की बूंद गिराये, बनता खेल हमारा है।[1]

एकाकी पात्रों का यह सवाक् चिन्तन अनेक स्थलों पर अत्यन्त अस्वाभाविक हो गया है। प्रगीत शैली का प्रयोग भी नाट्यशैली की भांति पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के प्रसंगों में किया गया है। 'मेधावी' के कवि ने 'गीत' शीर्षक देकर अनेक लघु-गीतों की रचना कथा के मध्य की है, किन्तु विषय और कला दो दृष्टियों से ये गीत विशेष बोझिल हैं। उनमें अतिशय चिंतन व्यक्त हुआ है। भाव प्रवणता,आत्मद्रव, अन्तःस्फूर्ति आदि का अभाव है। शैली की भाषा आदि की दृष्टि से गीत रचना के अनुपयुक्त है—

> "अल्प रंध्र वह सचल प्राण का
> हुआ तरल लहरों पर दोलित
> विकल ऊर्म्मियों के घर्षण में
> करता था अपने को पोषित।"[2]

'तप्तगृह' में चिन्तन और मनोविश्लेषण अधिक है, अतः प्रगीतात्मकता उतनी नहीं। 'ऋतंवरा' में नाटक और गीत के तत्वों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है, किन्तु उसकी शैली में भावप्रवणता है, उच्छ्वास है, अन्तःस्फूर्ति

---

१. विक्रमादित्य, पृ० ३७।
२. मेधावी, पृ० ६८।

है। 'ऋतंवरा' के प्रगीतों में चिन्तन की प्रमुखता होते हुए भी प्रवणशीलता है, किन्तु शिल्प में गीत की 'टेकनीक' को कवि ने नहीं अपनाया है।

'विष्णुप्रिया' तथा 'ऊर्वशी' में संवाद एवं प्रगीत दोनों शैलियों का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। नाट्य एवं प्रगीत की प्रमुखता के कारण ऊर्वशी को तो कतिपय समालोचकों ने 'गीतनाट्य काव्य' की संज्ञा प्रदान की है। 'विष्णुप्रिया' में संवाद विरल हैं किन्तु प्रगीतों का बाहुल्य है। इस कृति में समस्त प्रगीत प्रवाहमय हैं तथा उनकी भाषा में स्वाभाविक संगीत प्रकट हुआ है, जैसे—

"सखि मैं लाजों मर गई सुन उनकी यह बात,
रास रचो, राधे, चलो आज रूपहली रात।"[1]

'विष्णुप्रिया' के समस्त प्रगीतों में सप्राणता, ताज़गी और निर्व्याज अभिव्यक्ति है। वस्तुतः 'विष्णुप्रिया' में गीति-शैली का सौन्दर्य निखर उठा है।

'एकलव्य' प्रबन्धकाव्य का 'ममता'-सर्ग तथा 'दक्षिणा' सर्ग क्रमशः प्रगीतात्मक शैली[2] और संवादात्मक शैली[3] के सुन्दर उदाहरण है। 'द्रोण' काव्य में संवाद-शैली ही प्रमुख है।[4] आलोच्यकाल की अन्य कृतियों—'मीरां', 'प्रेमचन्द', 'जननायक', 'मानवेन्द्र' आदि में भी संवाद एवं प्रगीत शैली के कुछ तत्व मिलते हैं; किन्तु इन कृतियों में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रमुखता इतिवृतात्मक शैली की ही है।

प्रश्नोत्तर शैली :—

'कनुप्रिया',[5] 'संशय की एक रात',[6] 'रत्नावली',[7] 'आत्मजयी'[8] आदि में प्रश्नोत्तर शैली की प्रधानता है। इस शैली में स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती रचनाएँ

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० ३५।
२. मेरा लाल न अब तक आया।
   मार्ग देखकर थकी, न कोई उसका कुशल संदेशा लाया।"
   —एकलव्य, पृ० १४७।
३. देखिये—वही, पृ० २८७–२८८।
४. देखिये—द्रोण, पृ० १५।
५. कनुप्रिया, पृ० ३१।
६. संशय की एक रात, पृ० ५८।
७. देखिये—रत्नावली, पृ० ६४।
८. ये आवाज़ें क्या कहती हैं ?
   मैं कानों से क्या सुनता हूँ ?
   यह भीड़ क्यों नहीं छंट जाती ?
   ये लोग क्यों नहीं हट जाते ?—आत्मजयी, पृ० ६२

भी मिलती है, पर बहुत कम। अधिकांश रूप में इस शैली का प्रयोग सैद्धान्तिक प्रकरणों में हुआ है। सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या और उनकी सुबोधता के लिए दर्शन ग्रन्थों ने इसका प्रचलन कर साहित्य के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। कहीं-कहीं संवादों में भी इस शैली का प्रयोग मिलता है। 'वर्द्धमान', 'लोकायतन' में दार्शनिक प्रश्नोत्तर बड़े संक्षिप्त और आकर्षक हैं। 'वर्द्धमान' से उद्धृत एक प्रसङ्ग देखिए—

"अये ! कहो कौन विचारवान है ?
अदोष–शास्त्रज्ञ, सदैव संयमी।"
"धरित्रि में कौन सु–धर्मवान है ?
जिनेन्द्र–सेवा–व्रत प्रेय हो जिसे।"[1]

इसी प्रकार 'लोकायतन' से भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

"सांख्य क्या ? सम्यक् तत्व ज्ञान,
न्याय वैशेषिक से प्राचीन
कपिल कर गए ग्रथित सिद्धान्त
प्रथित जो रहे वेद कालीन।"[2]

वर्णन शैली —

इस शैली में कथावस्तु वर्णनों से पुष्ट की जाती है। वर्णन दो प्रकार के होते हैं—वस्तु–वर्णन एवं भाव वर्णन। वस्तु-वर्णन में वस्तु या विषय को शब्द-प्रत्यक्ष किया जाता है। इस प्रकार के वर्णन में पर-परकता होती है। दूसरे प्रकार के वर्णन-भाव–परक होते हैं। उनमें भावों का वर्णन प्रत्यक्ष की भांति किया जाता है। प्रबन्धकाव्यों में वर्णनों की एक प्राचीन परम्परा भी रही है। जिनमें स्वयंवर-वर्णन, मंडप-सज्जा, शस्त्रास्त्र-प्रदर्शन, जलक्रीड़ा, मद्यपान, मृगया, वन-विहार व सुरतादि के वर्णन प्रमुख हैं।

आलोच्यकाल में प्रबन्धों में उक्त परम्परागत वर्णनों की ओर कवियों की कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई देती, किन्तु इन वर्णनों का नितान्त अभाव भी नहीं है।

स्वयंवर मंडप सज्जा वर्णन :—

यद्यपि वर्तमान युग में स्वयंवर प्रथा तो समाप्त हो चुकी है पर स्वयंवर के मनमोहक वर्णन काव्य-जगत में अब भी अपना स्थान पूर्ववत बनाये हुए हैं।

---

१. वर्द्धमान, ६।३७।
२. लोकायतन, पृ० ३२५।

स्वयंवर-वर्णन में स्वातन्त्र्योत्तर काल के कवि उतने ही तन्मय दीखते हैं जितने प्राचीन कवि। 'दमयन्ती' प्रबन्धकाव्य में दमयन्ती-स्वयंवर-वर्णन,[1] 'दैत्यवंश' में लक्ष्मी-स्वयंवर-वर्णन,[2] 'अङ्गराज' में कलिंगकुमारी-स्वयंवर-वर्णन[3] तथा 'दमयन्ती' में मंडप-सज्जा का वर्णन[4] प्राचीन परम्परानुसार हुआ है।

शस्त्रास्त्र-प्रदर्शन :—

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में शस्त्रास्त्र-कला के प्रदर्शन के अवसर प्रायः महाभारत की कथा पर आधारित हैं। 'अंगराज', 'जयभारत', 'रश्मिरथी', 'द्रोण', 'सेनापति कर्ण' आदि सभी ग्रन्थों में परम्परागत वर्णन मिलता है, किन्तु 'एकलव्य' के प्रदर्शन सर्ग में कुछ नवीन प्रयोग दृष्टिगत होता है :—

"प्रखर आग्नेय से लगादी आग व्योम में,
उल्का-पिंड वायु में ध्वजा की भांति फहरे
चक्र गति लेके चलीं चंड चिनगारियां,
अग्नि-कण व्याप्त हुए व्योम रोम-रोम में।

\+ \+ \+ \+

अन्तर्धान-अस्त्र से हुए अदृश्य अर्जुन,
दर्शकों के नेत्र रहे चारों ओर खोजते।
फिर मृदु हास्य गूंजा और देखा सबने,
अर्जुन झुकाए माथ सम्मुख खड़े हैं ये।"[5]

जलक्रीड़ा :—

विवेच्ययुग के प्रबन्धकाव्य—'दमयन्ती',[6] 'दैत्यवंश',[7] 'विक्रमादित्य' आदि में जलक्रीड़ा के संक्षिप्त वर्णन कवियों की परम्परामोह का परिचा

---

१. देखिये—दमयन्ती, सर्ग ७।
२. दैत्यवंश, सर्ग ४।
३. अंगराज, सर्ग ५।
४. 'दमयन्ती', सर्ग ७, पृ० ११३–११५।
५. एकलव्य, प्रदर्शन, सर्ग ५, पृ० ११०–११२।
६. देखिये—दमयन्ती, पृ० ११–१२।
७. दैत्यवंश, सर्ग १८।२१।
८. विक्रमादित्य, सर्ग ४०।

रहे हैं। इन वर्णनों में स्त्री-पुरुषों की जलक्रीड़ा, एक दूसरे पर पयःक्षेप, आलिंगन, अरविन्द, हंस, आंगिक सौन्दर्य का वर्णन आदि परम्परागत है।

मद्यपान व मृगया :—

आलोच्य काल के किसी भी प्रबन्ध में मद्यपान का वर्णन नहीं आया है किन्तु मृगया, वन-विहार इत्यादि का वर्णन कहीं-कहीं मिल जाता है। 'दमयन्ती' में राजा नल की मृगया का वर्णन है, जिसमें मृगाधिक्य, मृगत्रास, हिंसद्रोह और त्वरित-गति का उल्लेख है।[1] इन वर्णनों के साथ वन, सरोवर तथा सरोवर के हंस आदि पक्षियों का वर्णन भी प्राचीन परम्परानुसार हुआ है।[2]

वन-विहार तथा सुरतादि :—

वन-विहार का वर्णन 'दैत्यवंश',[3] 'दमयन्ती'[4] आदि प्रबन्धकाव्यों में प्राचीन परम्परानुसार हुआ है। इसी प्रकार इनमें सुरत-वर्णन भी स्थान-स्थान पर किया गया है। अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में प्राचीन परम्परागत-लक्षणानुसार चुम्बन, आलिंगन, नखक्षत, दन्तक्षत, रतिक्रीड़ा आदि का वर्णन तो नहीं हुआ है, पर कतिपय प्रबन्धकाव्य—'वर्द्धमान',[5] 'दैत्यवंश',[6] 'विक्रमादित्य',[7] 'कनुप्रिया' इत्यादि में सात्विक भाव सत्कार, कुड्मलाक्षता, स्तम्भ, कंप आदि का वर्णन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। 'कनुप्रिया' का उदाहरण दर्शनीय है :—

> मेरे अध खुले होठ कांपने लगे हैं
> और कण्ठ सूख रहा है
> और पलकें आधी मुन्द गयी हैं
> और सारे जिस्म में जैसे प्राण नहीं हैं
> मैंने कसकर तुम्हें जकड़ लिया है
> और जकड़ती जा रही हूँ

---

१. दमयन्ती, पृ० ४१–४६।
२. वही, पृ० ४६–५७।
३. दैत्यवंश, सर्ग १८।७।
४. दमयन्ती, पृ० १५५–१६७।
५. वर्द्धमान, २।४६।
६. दैत्यवंश, पृ० २३५।
७. विक्रमादित्य, पृ० २२०।

इनमें प्रथम को समस्त-पद शैली या पाण्डित्य प्रदर्शनशैली कह सकते हैं तथा दूसरी को व्यस्त पद शैली अथवा स्वाभाविक सरल शैली कहा जा सकता है।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में समस्तपद शैली तथा व्यस्तपद शैली दोनों ही प्रकार की शैलियों का प्रयोग यथास्थान हुआ है। 'वर्द्धमान', 'अंगराज', 'बाणाम्बरी' आदि प्रबन्धकाव्यों में शैली के दोनों रूप मिलते हैं, किन्तु इन ग्रन्थों में प्रधानता समस्त-पद शैली की ही है। अन्य प्रबन्धकाव्य—'देवार्चन', 'विक्रमादित्य', 'युगस्रष्टा: प्रेमचन्द', 'मीरां', 'जननायक', 'मानवेन्द्र', 'जगदालोक', 'मेधावी', 'लोकायतन', 'रश्मिरथी', 'एकलव्य', 'सेनापति कर्ण', 'गांधार की एक रात', 'आत्मजयी', 'पाषाणी', 'द्रौपदी', 'कनुप्रिया' आदि व्यस्त-पद शैली अथवा स्वाभाविक सरल शैली की ही प्रधानता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है – समस्त ग्रन्थों में यथा-स्थान शैली के दोनों रूप ही दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए 'अंगराज' में ही देखिए—

समास शैली के प्रयोजन :—

"तरुणांकुरसंपन्न लता-द्रुम-कुञ्ज-सुपुष्पित
इन्दाम्बर-सौन्दर्य-धनी इन्दिन्दिर-गुंजित
खग कुल-कुजित मृग-क्रीड़ित कुसुमाकर-वन-सा,
नन्दन-सा यह सुन्दर है नलिनी नन्दन-सा।"[1]

'अंगराज' में ही दूसरा स्वाभाविक सरल-शैली का उदाहरण देखिए

"बढ़ा भीम की ओर चापधारी अंगेश्वर
किन्तु शान्त होगया भीष्म-आदेश मानकर
उठे वहां से सब सन्ध्यागम देख गगन में,
कर्ण सहित दुर्योधन आया राज भवन में॥"[2]

निर्दोष मान लेना उचित है—हंस का नीर-क्षीर-विवेक, चकोर का अंगार-भक्षण रात्रि में चकवा-चकवी का वियोग, यश और हास्य का श्वेत रंग, पाप का कृष्ण वर्ण, क्रोध और प्रेम की रक्तता, चन्द्रमा का शशि-लांछन, कामदेव का मकर-केतन नाम, शिव के भाल पर द्वितीया के चन्द्र की स्थिति, विष्णु का क्षीर-शयन, वृक्ष दोहद, अशोक एवं कर्णिकार तथा कुरबक आदि का स्त्रियों के आलिंगनादि से पुष्पित व पल्लवित होना, कोकिल का केवल वसन्त में ही बोलना, चन्दन का केवल मलय पर्वत पर ही होना, कमल का दिन में खिलना, प्रियंगु का स्त्रियों के स्पर्श से विकसित होना, मयूर का केवल वर्षा ऋतु में ही नृत्य करना, सुन्दरियों का मुख-मदिरा से सिंचकर बकुल का कुसुमित होना, वर्षा काल में हंसों का उड़कर मानसरोवर पर चला जाना आदि अनेक बातें कवि समय के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा उन पर सर्व सम्मति की मुहर लगी हुई है। इसलिए ये काव्य परम्परा के रूप में प्रचलित हैं।[1]

आलोच्य काल के प्रबन्धकाव्यों में भी उक्त कवि समय की परम्परा का पालन किया गया है। अशोक वृक्ष के पल्लवित व पुष्पित होने का एक उदाहरण देखिए—

> "किन्नरियों नूपुर-शिंजित गुञ्जित मृदु चरणों के,
> दूर स्पर्श संकेत मात्र से, गिरि के नग्न वनों के।
> अखिल अशोक पल्लवित होकर पुष्प राशि से फूले,
> पाकर नयन प्रसाद शोक सब जग के प्राणी भूले।।"[2]

इसी प्रकार स्त्रियों के मृदुहास्य से कुरबक तथा वीक्षण मात्र से तिलक पुष्प के फूलने के वर्णन की परम्परा का पालन भी 'पार्वती' में द्रष्टव्य है—

> "नवल अप्सरा बालाओं के सस्मित आलोकन से,
> होते कुरबक कुसुम वनों में विकसित नव यौवन से।
> क्रीड़ामयी कुमारी-कुल की लीलागति से हिलती,
> स्मिति-लतिका से डाल तिलक की कलिकाओं से खिलती।[3]

---

1. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३४--२३८।
2. पार्वती, सर्ग ५, पृ० ११७।
3. वही, पृ० ११७।

रात्रि में चक्रवाक युगल के वियुक्त होने का तथा कमलों का मुरझाने का वर्णन 'दमयन्ती' में देखिए—

"थके हुए दिन-नाथ अभी निज घर गये,
कमल वनों की सभी प्रभा वे हर गये।
हां ! कोकी हत हुई शोक पाने लगी,
निशा विश्व में तिमिर पटल छाने लगी॥"[1]

चकोरी द्वारा रात्रि में चन्द्रिका-पान करने का वर्णन भी स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में मिलता है। 'रावण' प्रबन्धकाव्य में इस परम्परा का पालन हुआ है, यथा—

"ज्यों विकसावे कुमोदिनी को,
अपनी छिटकाय छटा उजियारी।
प्यास बुझावे चकोरनि को
लगे चन्द्रिका या को सर्व को पियारी॥"[2]

सभी सरोवरों को पद्म, कुमुद, हंस इत्यादि से युक्त करने की परंपरा का निर्वाह भी आलोच्य काल के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में हुआ है। 'दैत्यवंश' 'दमयन्ती' आदि प्रबन्धकाव्यों में तो इन हंसों से दौत्य-कर्म भी कराया गया है।

कामदेव के सम्बन्ध में अनेक कवि-प्रसिद्धियां प्रचलित हैं। उसे सामान्यतया 'पुष्पशर' या 'कुसुम-धन्वा' कहा गया है। वह अपने शरों से युवा-युवतियों के हृदय को विदीर्ण करता है। उसकी ध्वजा मकर-चिह्नांकित है, अतः उसे मकर-केतन भी कहते हैं। विवेच्य-युग के प्रबन्धकाव्यों में इन सभी प्रसिद्धियों का विनिवेश बहुलता से हुआ है। 'रावण' प्रबन्धकाव्य से एक उदाहरण देखिए—

फूलनि के मंजुल सरासर गहत ही है,
नित ही मधुर मधु जो पै रिसियावै है।
पुहुप-पराग लै कै मैन-धनुधारी तब,
रोलि निज हाथनि में समदि लगावै है।
या विधि बनाय सरस कामिनी-करेजनि कों
आपने अमोघ बान तिन पै चलावै है।"[3]

1. दमयन्ती, सर्ग ६, पृ० १६६।
2. रावण, सर्ग ७।२३।
3. वही, सर्ग ११६।

वसंतकाल में कोकिल के स्वर का दृश्य अवलोकनीय है—

"लीन कुलीन कामिनी-सी-निजगृह के अन्तःपुर में,
आम्र-कुञ्ज में छिपी कोकिला ढाल प्राण-से सुर में,
पंचम स्वर में कण्ठ चीर कर गीत प्रेम के गाती,
निभृत पंचशर कामिनियों के उर में सहज जगाती।"[1]

इसी प्रकार 'वर्द्धमान' में वर्षाकाल में मयूर-नृत्य का वर्णन करता कवि लिखता है—

"अजस्र धारा गिरती पयोद
कलापियों के गण नृत्य-लीन थे,
अभी करेंगे सधवा-समूह के
कृतान्त या कान्त समाप्ति दुःख की।"[2]

इसके अतिरिक्त और भी कितनी ही कवि-प्रसिद्धियों का परम्परागत वर्णन विवेच्य युग के प्रबन्धकाव्यों में मिलता है। 'वर्द्धमान' में सामान्य नरों के रूप का वर्णन शिखा से तथा देवताओं के रूप का वर्णन नख से प्रारम्भ करने की परम्परा का पालन भी महावीर स्वामी के रूप वर्णन में हुआ है।[3]

कथानक-रुढ़ियाँ :—

कवि-समय के साथ ही कथानक रुढ़ियों की भी परम्परा बहुत प्राचीन है। प्रत्येक देश के साहित्य में अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रुढ़ियाँ बन जाती है और यांत्रिक ढंग से उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है; इन सभी रुढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय भी कहते हैं।[4] भारतीय साहित्य में परकाय-प्रवेश, लिंग परिवर्तन, पशु पक्षियों की बातचीत, किसी बाह्य वस्तु में प्राणों का बसना आदि कितने ही अभिप्राय है।[5] इसके अतिरिक्त पूर्वजन्म की स्मृति, अतिप्राकृत दृश्य, भविष्य सूचक स्वप्न, ऋषि-मुनि-शाप, शुक, हंस, कपोत आदि द्वारा संदेश-वहन, पूजा के लिए मंदिर में जाना तथा इच्छित वर प्राप्ति व सन्तान प्राप्ति के लिए शिव-पार्वती से

---

१. पार्वती, सर्ग ५, पृ० ११८।
२. वर्द्धमान, २।२२।
३. वही,
४. हिन्दी साहित्य कोश भाग १, पृ० २०५।
५. वही पृ० २०५।

विशेष आशीर्वाद प्राप्त करना, बारहमासे द्वारा विरह-वेदना, वन में मार्ग भूलने पर किसी ऋषि-मुनि का मिलन, समुद्र को कूदकर पार करना, पर्वत को उठाना, किसी व्यक्ति को अज्ञात रूप से उठाकर लाना आदि अनेक इस प्रकार की कथानक-रूढ़ियाँ प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य के कथानकों का अंग बनी हुई थी। ये सभी कथानक रूढ़ियाँ प्रधानतया दो प्रकार की हैं—एक लोक विश्वास पर आधारित तथा दूसरी कवि कल्पित।

विवेच्य युग के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में अतिप्राकृत एवं अलौलिक घटनाओं के वर्णनों के प्रति कवियों की बहुत कम रुचि दिखाई देती है, किन्तु फिर भी कतिपय प्रबन्धकाव्यों के कथानक में इन रूढ़ियों का पालन प्राचीन परम्परानुसार हुआ है। 'एकलव्य' में आश्रम हेतु बलिदान,[1] 'रश्मिरथी' में ऋषि-मुनि शाप[2] (परशुराम द्वारा कर्ण को), 'उर्वशी' में भविष्य-सूचक स्वप्न,[3] आदि में कथानक रूढ़ियों का पालन हुआ है। 'कौन्तेय कथा' में शिवजी द्वारा अर्जुन का दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति,[4] 'पापाणी',[5] 'रश्मिरथी',[6] 'अंगराज',[7] 'दमयन्ती',[8] 'संशय की एक रात',[9] 'आत्मजयी',[10] आदि प्रबन्धकाव्यों में इन्द्र, सूर्य, चन्द्र वरुण, अनल, यम आदि देवताओं तथा मृतात्माओं के प्राकट्य व आकाशवाणी में कथानक रूढ़ियों की परम्परा ही परिलक्षित होती है।

वियोगावस्था में प्रिय के पास संदेश ले जाने के लिए दूतों की योजना की जाती है। कालिदास का 'मेघदूत' इस दिशा में सबका पथ-प्रदर्शक है। श्री हर्ष के 'नैषध' में हंसदूत का एक अत्यन्त रोचक प्रसंग आया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में भी इस परम्परा का बहुत अच्छा विकास हुआ है। स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती रचना 'प्रियप्रवास' में पवनदूत तथा 'नलनरेश' में हंसदूत

---

१. एकलव्य सर्ग १२, पृ० २३७–२४२।
२. रश्मिरथी, सर्ग २, पृ० २०।
३. उर्वशी, अंक ४, पृ० १२६–१३६।
४. कौन्तेयकथा, पृ० ७८।
५. पाषाणी, पृ० ७७।
६. रश्मिरथी, पृ० ६२ व ७३।
७. अंगराज, पृ० १०३–११०।
८. दमयन्ती पृ० १३१–१४३।
९. संशय की एक रात, पृ० ५२।
१०. आत्मजयी, पृ० ६४–७०।

का सुन्दर वर्णन हुआ है। 'दासगुप्ता' ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में इनकी संख्या पचास के ऊपर बताई है—चन्द्रदूत, पिकदूत, पवनदूत, उद्धवदूत, कपिदूत, भ्रमरदूत, काकदूत आदि।[1] आलोच्यकाल के प्रबन्धकाव्य 'दमयन्ती' में दम- [ ] राजा नल के पास हंस द्वारा इस प्रकार संदेश भेजती है—

"खग ! आर्य्य-पुत्र के निकट पहुँच तुम जाना,
कहना कि, यहां अनिवार्य है, उन्हें आना।
यदि, आर्य्य, स्वयंवर-मध्य, न वृगत होंगे,
तो; इस अबला के प्राण, स्वयं हत होंगे।"[2]

'दैत्यवंश' में भी मानसरोवर में हंसों की जोड़ी देखकर शची के लिए [ ] भेजने में इन्द्र की उत्सुकता का एक मनोवैज्ञानिक चित्र देखिए —

"हंस के द्वन्दहि देखत ही,
अपने दृग ते असुंवा बरसायो।
प्रेम-संदेश पठाइ वे को,
मयबा अभिलाष कछू दरसायो॥
सीस हिलाय के राज मराल,
मनो सिर धारि वै को सरसायो।
सोक-अवेग सों पै तबहीं,
कछु नापि सक्यो न गरो भरि आयो॥"[3]

'रावण महाकाव्य' में मेघनाद मदन-ज्वर से पीड़ित हो पातालपुरी में [ ]ने सुलोचना के पास संदेश पहुँचाने के लिए चन्द्रमा को दूत बनाकर [ ]ता है —

लोकनि को उपकार बड़ो गुनि,
आपुही को यदि जोग विचारो।
मो पै दया करि प्राण प्रिये,
पहुंचाय हो दीजो संदेश हमारो।"[1]

'रावण महाकाव्य' में पार्वती पूजा व शाप की कथानक रूढ़ियों का अंकन हुआ है। पार्वती की पूजा करते समय मन्दोदरी ने अपनी पुत्रैषणा प्रकट की है। उसका मन इस बात की ओर बहुत है कि वह शिशु-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त कर सके। राक्षस-वंश में शाप-वंश कुछ ऐसा था कि उनकी स्त्रियों के बच्चे तो होते थे परन्तु वे शिशु-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकती थीं।[2] अतः मन्दोदरी पार्वती से यह वरदान मांगती है कि हम भी शिशु को गोद में खिलाने का आनन्द प्राप्त कर सकें और इस प्रकार बच्चों को गोद में खिलाकर अपने को बड़ी भाग्यशाली समझें—

"ले सिसु गोद खिलाइबे को वर,
या विधि मातु हमें अब दीजिये।
आन तियान समान ही बंस की,
वामन को बड़ भागिनी कीजिये।[3]

दी है, पर प्राकृत और अपभ्रंश के प्रबन्धों को पढ़कर हेमचन्द्र ने भी इनकी आवश्यकता बतलाई है। हिन्दी के पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में भी इस परम्परा का निर्वाह मिलता है। आलोच्य-काल के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में इन परम्पराओं के पालन के प्रति कवियों का कोई मोह नहीं रहा है। 'रावण', 'तारकवध', 'जननायक', 'देवार्चन', 'सदाशिव-चरितामृत', 'रामकथाकल्पलता', 'लोकायतन' आदि अनेक कृतियों के कवियों ने अपने प्रबन्धकाव्योचित उद्देश्यों की पृष्ठभूमि में मंगलाचरण की योजना की है; परन्तु उक्त रूढ़ियों में से सभी का पालन इन कवियों द्वारा नहीं किया गया है। 'वर्द्धमान', 'विक्रमादित्य', 'ऋतंवरा', 'मेधावी', 'दमयन्ती', 'तप्तगृह', 'कैकेयी', 'एकलव्य', 'रश्मिरथी' आदि अनेक कृतियों में मंगलाचरण-सम्बन्धी शिल्प का प्रयोग सर्वथा नवीन रूप में हुआ है।

ने स्पष्ट रूप से जाति से अधम किरात-कुमार की वन्दना की है—

> "ऐसी साधना दो मुझे, एकाग्र एकलव्य !
> एकलव्य मेरी लेखनी को हो तुम्हारी हो,
> शब्द-वेध एक बार फिर हो, ये कार्मुको ।
> चकित हो साधना से यह सृष्टि सारी हो ।।"[1]

कवि ने निषाद पुत्र एकलव्य के सम्पर्क से ही नीलकण्ठ, वाल्मीकि आदि की भी वन्दना की है।[2] डा० वर्मा ने अलंकृत रूप में, सोद्देश्य अप्रत्यक्ष योजना द्वारा शारदा की स्तुती भी नवीन रूप में की है—

> "वाणी, वीर एकलव्य के उदात्त यश में,
> कुछ पंक्तियाँ हैं शेष, जो लिखेगी लेखनी ।
> उसको तुम ऐसी शक्ति दे दो हे शारदे !
> एकलव्य बाण जैसा शब्द लक्ष्य हो सके ।"[3]

संक्षेप में कहने का अभिप्राय यह है कि आलोच्य-काल के प्रबन्धकाव्यों में मंगलाचरण, स्तुति, आशीर्वाद, खल-निन्दा, कविपरिचय आदि के नियमों का पालन नहीं किया गया है। अनेक प्रबन्धकाव्यों में इनका सर्वथा अभाव है। वस्तु-निर्देश, आशीर्वचन, निजपरिचय आदि निर्जीव रूढ़ियाँ सभी ने त्याग दी हैं। हां ! कवि परिचय का एक उदाहरण पार्वतीकार ने 'मारुती-नन्दन' के ग्रन्थ के अन्त में अवश्य पाया जाता है, किन्तु इस कवि-परिचय का स्वरूप बहुत कुछ भावात्मक है, तथ्य-परक या इतिवृत्तात्मक नहीं; अतः इसे विशेष प्रशंसनीय और परम्परागत स्वीकार नहीं किया जा सकता। सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा की योजना सभी प्रबन्धकाव्यों में प्रसंगानुसार जाने-अनजाने हो गई है; किन्तु इनमें भी परम्परागत स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। जहां तक वस्तु-निर्देश का प्रश्न है, उसकी वास्तव में आज के युग में कोई आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि गद्य-भूमिकाओं के इस युग में काव्य वस्तु के स्रोत, स्वरूप और प्रेरणा ही प्रायः आलोच्यकाल के सभी कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों की भूमिका में तर्क-संगत प्रमाण पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की

---

१. एकलव्य, पृ० ७ ।

२. वही, पृ० ३-४ ।

३. एकलव्य, चतुर्दश सर्ग, पृ० २०५ ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'अलंकरोतीति अलंकारः' के अनुसार काव्य को उत्कर्ष प्रदान करने वाले साधन ही अलंकार हैं। पूर्वाचार्यों ने अलंकारों को काव्य का अनिवार्य गुण बतलाया है। अतः यह सिद्ध है कि अलंकारों का सहज स्वाभाविक प्रयोग काव्य में सौन्दर्योत्पादक होता है। इसके अतिरिक्त उनसे भाव-प्रेषण और भाव-मूर्तीकरण में भी बड़ी सहायता मिलती है। इनसे भावाभिव्यक्ति सबल एवं प्रभावपूर्ण बनती है। काव्य के साथ-साथ ही अलंकारों की स्थिति है। यदि अलंकार न हों तो काव्य की उपादेयता नष्ट हो जाती है। काव्य के आधार शब्द-अर्थ हैं। अलंकारों से शब्द तथा अर्थ में चमत्कार-चारुता उत्पन्न होती है।

अतः प्रधानतः अलंकार दो श्रेणियों में विभक्त हैं—(१) शब्दालंकार तथा (२) अर्थालंकार। यों तो शब्द एवं अर्थ के आश्रित अलंकारों की संख्या उनके भेद तथा उपभेदों के साथ विशाल है, किन्तु प्रयोग-परम्परा की दृष्टि से शब्दाश्रित अलंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष की तथा अर्थाश्रित अलंकारों में औपम्य-गर्भ उपमादि की एक विशाल व सुदीर्घ परम्परा रही है, जो स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में भी जीवित है।

'यमक' का इक्का-दुक्का उदाहरण तो सभी प्रबन्धकाव्यों में मिल जाता है, किन्तु 'यमक'—बहुल-स्थल 'अंगराज' में प्रशस्त है—

"होता ज्यों तरन्तपात, बोलते तरन्त, रथ
तैरते तरन्त, तुल्य लोहित–तरन्त में ॥"[1]

तथा

'अधिरथ युत अधिरथ सुत अधिरथ अधिरथ कर्ण लिए निज अधिरथ।
प्रति रथियों की भीमरथी में बना अधिरथी सम अप्रतिरथ॥'[2]

उक्त छन्दों में क्रमशः 'तरंत' और 'अधिरथ' पदों की सार्थक आवृत्ति है।

शब्दालंकारों में 'श्लेष', 'वक्रोक्ति', 'पुनरुक्तिप्रकाश', 'प्रहेलिका' और 'चित्र' के नाम प्राचीन परम्परा में अधिक प्रशस्त है, किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों के कवियों ने इन सबके प्रति विशेष रुचि व्यक्त नहीं की है; फिर भी 'श्लेष' और 'वक्रोक्ति' के प्रयोग अवश्य मिल जाते हैं—

श्लेष— 'कहाँ उच्च वह शिखर, काल का जिस पर अभी विलय था।'[3]

इसमें काल शब्द श्लिष्ट है, इसके दो अर्थ हैं—समय और यमराज। अतः यहाँ श्लेष है।

वक्रोक्ति— साधु! साधु! मेनके! तुम्हारा भी मन कहीं फंसा है?
मिट्टी का मोहन कोई अन्तर में आन बसा है?[4]

यहाँ काकु से वक्रोक्ति है।

शब्दालंकारों की अपेक्षा विवेच्ययुग के प्रबन्धकाव्यों में अर्थालंकारों के प्रयोग की ओर कवियों की विशेष रुचि दिखाई देती है।

अर्थालंकार :—

अर्थालंकारों में परम्परा और प्रयोग की दृष्टि से काव्य में उपमान योजना का बहुत बड़ा महत्व है; इसका सम्बन्ध केवल उपमालंकार से ही नहीं

---

१. अंगराज, सर्ग २१।११३।
२. वही, सर्ग २०।११।
३. उर्वशी, अंक ३, पृ० ७७।
४. वही, अंक १, पृ० ११।

विधान में प्रतिभा ही कारण है। जो कवि जितना अधिक कल्पनाशील होगा, वह उतना ही सुन्दर अप्रस्तुत-योजना कर सकेगा। अब तक प्रतिभा-सम्पन्न सिद्ध कवियों ने जितने अप्रस्तुतों का विधान कर दिया है, उनकी एक विशाल परम्परा बन चुकी है। यद्यपि नये-नये कवि अपनी प्रतिभा की शक्ति से नये-नये अप्रस्तुत ढूंढ लाते हैं, तथापि हरएक कवि में यह शक्ति नहीं है। साधारण और असाधारण सभी कवि परम्परागत अप्रस्तुतों का ही उपयोग करते हैं। विवेच्ययुग के प्रबन्धकाव्यों में प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के अप्रस्तुत के प्रयोग मिलते हैं। यहाँ हम क्रमशः आलोच्य-ग्रन्थों में आये परम्परागत व नवीन उपमानों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

सादृश्य-मूलक अलंकारों के क्षेत्र में बहुत सी रूढ़ियाँ चल पडी हैं, जिनका परम्परा के रूप में कविजन अनुवर्तन करते आये हैं। काव्य में नारी का स्थान हर एक काल में प्रमुख रहा है। उसके अंगों के लिए उपमानों की रूढ़ियाँ स्थापित हो गई हैं, जिनका कवि-समाज में बहुत प्रचार है। आलोच्य-युग के प्रबन्धकाव्यों की पार्वती, दमयन्ती, त्रिशला, कैकसी आदि की नायिकाओं के रूप वर्णन में अलंकारशेखर, काव्य कल्पलतावृत्ति आदि ग्रन्थों में वर्णित, परम्परागत प्राचीन उपमानों का ही बाहुल्य है।[1] 'रावण महाकाव्य' में कैकसी की मनोहरता का वर्णन करते हुए कवि ने प्राचीन परम्परागत अप्रस्तुतों का ही उपयोग किया है। कैकसी तपस्या करने को उद्यत हो रही है, अतएव वह अपनी सुन्दरता को धरोहर के रूप में रखने जा रही है, यथा—

"चन्द को दीन्हीं प्रभामुख की, अरविन्दन को तन-कोमलताई।
मंजुलता तिमि नैनन की, मृग खंजनि मीननि दीन्हीं गहाई॥
मंडलता त्यों कपोलिनी की, तहं आरसी ने कछुहो कछु पाई।
ग्रीव की रंच मनोहरता, बड़े भाग से कंबु के हाथ में आई॥

श्री फल लीन्हों उरोजविभा, करि कुम्भनि सो घट फोरत ही रहे।
बांहन में त्यों सनाल सरोज, निछावरि ह्वै तिन तोरत ही रहे॥
लंक की क्षामता की छवि को, वर तंतु मृनाल के छोरत ही रहे।
जंघनि की कमनीयता को, कदली, करि-सुंड निहोरत ही रहे॥"[2]

---

१. देखिये—अरिसिंह : काव्यकल्पलता वृत्ति, ४ १।१६-३१।

२. रावण महाकाव्य, २।३४, ३५।

उपमेय		उपमान
नासा	—	तूणीर,[1] शुक-चंचु[2]
अधर	—	पल्लव,[3] बिम्बाफल,[4] प्रवाल[5]
दन्त	—	मुक्ताफल[6]
स्मिति	—	ज्योत्सना[7]
वाणी	—	पिकी-स्वर,[8] सुधा,[9] वीणा[10]
मुख	—	शशि,[11] कमल[12]
कण्ठ	—	कम्बु[13]
बाहु	—	मृणाल-नाल[14]
कर	—	पद्म,[15] पल्लव[16]
स्तन	—	घट,[17] गजकुम्भ,[18] शिव,[19]

१. वर्द्धमान, १।११३।
२. दमयन्ती, पृ० ९, पं० २३।
३. रावण, १।३८।
४. वही, १।३८।
५. रावण, १।३८।
६. दमयन्ती, पृ० ९, पं० २४।
७. पार्वती, पृ० ६०, पं० ६।
८. रावण, १।३८; वर्द्धमान, १।६२।
९. पार्वती, पृ० ६३, पं० ५।
१०. वर्द्धमान, १।१०५।
११. वर्द्धमान, १।१५६।
१२. वर्द्धमान, १।१५८।
१३. रावण, २।३४; पार्वती, पृ० ५९, पं० ८
१४. रावण, २।३५; पार्वती, पृ० ५९, पं० १
१५. पार्वती, पृ० ५९।
१६. वर्द्धमान, १।५९।
१७. रावण, १।३७; पार्वती, पृ० ५९, पं० ६
१८. रावण, १।३७।
१९. पार्वती, पृ० ५९, पं० ५।

एक शब्द में आ गया है। कहीं-कहीं इस प्रकार के अमूर्त सादृश्य-विधान की योजना, प्रेषणीय भाव की व्यंजना में विशेष अनुकूल सिद्ध हुई है। 'ऋतंवरा' के कवि ने श्रद्धा के अरुण-कंज की व्याख्या इन शब्दों में की है—

"यह किसी मौन का रूपान्तर,
अलिखित जिसके अविदित अक्षर
सब ओर तरंगित तरलायित जिसकी सुवास।"[1]

इसी प्रकार 'तप्तगृह' में बन्दीगृह के एक कारुणिक प्रसंग के अवसर पर चाँदनी का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

पलकों की कोर में
अश्रु का पराग लिए
सांझ आई धीरे से
आती ज्यों मंद-चरण
सजला – सहानुभूति
मन के करुण–शून्य
शान्त रंग–मंच पर
और डाल हल्की–सी
चादर तमिस्र की
मूर्च्छिता धरित्री के
धूसरित शरीर पर
लोट गई सपनों की
याद–सी सुहावनी।"[2]

अमूर्त के लिए अमूर्त अप्रस्तुत विधान :— कहीं–कहीं अलंकार–योजना में अमूर्त और सूक्ष्म का आग्रह इतना बढ़ गया है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अशरीरी रूप में प्रस्तुत हुए हैं। 'मेधावी' का कवि परिवर्तन का वर्णन करते हुए कहता है—

---

1. ऋतंवरा, पृ० १६।
2. तप्तगृह, पृ० ६२।

नाचो नाचो
हे परिवर्तन !
जैसे सुहागिनी की पलकों में
पलता प्रियतम का दुलार
अस्तित्व और कल्पना चित्र
पर ताना बाना खींच–खींच
तू थिरक रहा रे बार–बार
ओ चिर आया
ओ दीर्घ वृक्ष दुर बीज अंक
में दिखला दे अपनी माया
इंगित से 'हाँ' करदे चंचल
भावों से 'ना' करदे व्याकुल
तू झूम चले
तू मत्त चले
रे नृत्य करो
हे परिवर्तन !"[1]

भाव–व्यंजक सादृश्य–विधान :—

इन प्रबन्धकाव्यों में अप्रस्तुत-विधान अनेक स्थलों पर मूर्त जगत के उपकरणों से किया गया है। 'ऋतंवरा' में से एक उदाहरण देखिये—

"मैं देख रहा अपने तपको
मेरा तप मुझको देख रहा है निर्निमेष
नव–नव आकर्षण का अशेष
मृदु भार लिए
पुतली की नौका पर अकूल
तुम खड़ी, तुम्हारे अंचल की छाया अपार
लहराती है
जैसे लहराता इन्द्र धनुष के बीच ज्वार।"[2]

---

१. मेधावी, पृ० ५१।

२. ऋतंवरा सर्ग ६, पृ० ७८–७९।

यहाँ नेत्रों का वर्णन कवि ने 'पुतली की नौका' कहकर किया है। लुप्तोपमा का यह प्रयोग व्यंजना-पूर्ण है। उपमा ही नहीं, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह आदि अलंकारों का भी आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में प्रचुर और सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'उर्वशी' में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का एक प्रयोग देखिये—

"इन द्वीपों के बीच चन्द्रमा मन्द–मन्द चलता है,
मन्द–मन्द चलती है नीचे वायु श्रान्त मधुवन की;
मद–विह्वल कामना प्रेम की, मानों अलसायी–सी,
कुसुम-कुसुम पर विरम मन्द मधु-गति में घूम-रही है।"[1]

यहाँ मन्द-मन्द वायु में प्रेम की अलसायी-सी कामना की कल्पना की गई है, अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है। इस उदाहरण के उपमान में नवीनता ही नहीं 'अलसायी' क्रिया में एक विशेष भाव-व्यंजना है, जिसका नाम सौन्दर्य है।

अप्रस्तुत और नागर–दृष्टि :—

'ऋतंवरा' के दूसरे सर्ग में ब्रह्मा के विकल्प मे उपमा और सन्देहालंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है—

"यह महाशून्य का स्फुटित नयन
अथवा मोहक मांगल्य–अयन
या वह अंकुर फूटेंगे जिससे नव विचार
जल की ज्वाला, जल की धड़कन,
या कला–पटल का चित्रांकन,
या वह अवेल विज्ञान कि जो था निराधार।"[2]

इन पंक्तियों के बिम्ब-विधान में सौन्दर्य ही नहीं एक विशेष नागर–भाव और समृद्ध दृष्टि है।

वैषम्य–मूलक प्रचलित अलंकारों का प्रयोग :—

वैषम्य-मूलक अलंकारों में विरोधाभास का कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर उपयोग किया गया है—

रे चिर जीवन
हे अमर मरण

---

१. उर्वशी, अंक १, पृ० ५।
२. ऋतंवरा, सर्ग २, पृ० १५।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में भी पूर्ववर्ती रचना 'कामायनी' की भाँति 'मानवीकरण' का सुन्दर प्रयोग हुआ है। रांगेयराघव के 'मेधावी' प्रबन्धकाव्य में वैज्ञानिक विकासवाद के आधार पर ऋतु, धरणी, उषा, सूर्य एवं निम्न मध्यवर्ग, पूंजीवाद, फासिस्टवाद, जनशक्ति आदि विषयों को मानवीकृत रूप में चित्रित किया गया है।

उदाहरण स्वरूप फासिस्टवाद का नृत्य प्रस्तुत है—

मैं क्रुद्ध विभीषण नाच रहा,
लो कुचल दिये हैं देश-देश।[1]

तथा एक अन्य स्थल पर कवि ने 'गति के लास' का वर्णन इस प्रकार किया है—

"वसुंधरा की स्फूर्ति मचलती
आज गर्भ के बाद जननि यह
स्नान किये निर्मल सी बैठी
लाज कर रही कोमल रह-रह
नव शृङ्गार किये कल्याणी।"[2]

'विक्रमादित्य' का निम्नांकित प्रकृति-वर्णन भी इसी पद्धति पर है—

"सिन्दूर लगा संध्या फूली, दिग्वधू बधाई गाती है,
आरती उतारेगी रजनी दीपक ले छिपती आती है,
अंगड़ाई लेती कुमुद-कली, दृग बन्द कर रहे कंज-सुमन,
लहरों की लोरी सुन सुनकर झुक-झुक पड़ते हैं मातल वन।"[3]

'अनंग', 'तप्तगृह', 'आत्मजयी', 'रत्नावली' और 'ऋतंवरा' में भी इस अलंकार के अनेक परम्परागत प्रयोग देखने को मिलते हैं—

सजल करुणा को सम्भाले,
माधवाली साधना ने,
वन्दना नीरव, गढ़ा अवसाद कोई पास।[4]

---

१. मेधावी, पृ० २५६।
२. मेधावी, पृ० ५८।
३. विक्रमादित्य, पृ० २७।
४. ऋतंवरा, सर्ग ८, पृ० २१।

ध्वन्यार्थ-व्यंजना :—

ध्वन्यार्थव्यंजना का सम्बन्ध अर्थ-चमत्कार की अपेक्षा शब्द-चमत्कार से अधिक है और इस प्रकार इस अलंकार के प्रयोग से भाषा में उत्पन्न होने वाला नाद-सौन्दर्य या अनुरणन अनुप्रास आदि अलंकारों का समकक्षी ही है। इस अलंकार के प्रयोग से अनेक स्थलों पर ध्वनि को शब्दबद्ध करने का सफल प्रयत्न आलोच्य-युग के प्रबन्धकाव्यों में हुआ है—

"अग्नि की लपटें दीर्घाकार
हरहराती विशून्य में फैल
लपलपाती शैलों सी नाच।"[१]

इन पंक्तियों में एक भयंकर चित्र को शब्दों में बांधा गया है। इसके शब्दों में एक प्रकार का नाद-सौन्दर्य है। इसी प्रकार प्राकृतिक-क्रिया-कलाप का भी ध्वन्यात्मक वर्णन देखिये—

"झूम-झूम झुक-झुक कर कोई
संग समीर के उमड़े
चूम-चूम तरु-लता-अधर
थाराथर कोई घुमड़े।"[२]

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जहाँ अभिव्यंजना अलंकारों से बोझिल नहीं; किन्तु किसी जीवनगत सत्य की व्याख्या सीधे-सादे पर प्रभावाभिव्यंजक प्रस्तुत-विधान के सहारे की गई है। ऋतंवरा में 'स्वर्णिम आणविक युग' की मोहक कल्पना इस प्रकार है—

"जिसमें अविभाजित कुछ न कहीं, हैं सभी एक
नभ-भूमि-भूद्र-वन-उपवन-नद-निर्झर अनेक
आत्मा के पावन स्नेह-सूत्र में बंधे देश
मानव-परम्परा एक, एक संस्कृति अशेष
संगीतमयी शृङ्खला एक, योजना एक
अक्षर अनन्त, अनगिनत शब्द, वन्दना एक।"[३]

---

१. मेधावी, पृ० ६।
२. ऋतंवरा, पृ० ७२।
३. वही, पृ० १८६–१८७।

उक्त अवतरण की अन्तिम दो पंक्तियों में सादृश्य-विधान में विशेष चमत्कार या वक्रता नहीं है, किन्तु इनमें प्रभावित करने की क्षमता है। एक अन्य ऐसा ही उदाहरण 'मेधावी' में से देखिये—

"अगन प्रभा से आभासित से
ग्रह उपग्रह नभ में कंपित रे
एक शून्य के महा वृक्ष में
चलदल लहराते तारा
सीमाहीन विराट कबरि में
सुरभित फूलों की जगमग रे।"[1]

यहाँ सामान्य उपमानों के आश्रित तारामण्डल का रमणीक दृश्य द्रष्टव्य है। इसी प्रकार 'विक्रमादित्य' में क्षुब्ध चन्द्रगुप्त का आत्म-विश्लेषण कुछ विशिष्ट और अनुकूल उपमानों के सहारे किया गया है—

"मैं क्या पृथ्वी का भार,
उजड़ा हुआ एक संसार,
भग्न समाधि का स्तूप
+ + +
वीणा का हूँ उतरा तार
शून्य लिए तारक-संसार
क्षणकन जीवन का परिताप
अंगनाओं का हूँ अभिशाप।"[2]

विशेषण विपर्यय :—

यह अंग्रेजी का 'ट्रान्सफर्ड एपिथेट' अलंकार है, हिन्दी की दृष्टि से इसे लाक्षणिक प्रयोग कहा जा सकता है, किन्तु अंग्रेजी में यह एक अलंकार के रूप में स्वीकृत है। छायावादी काव्य में इसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। इसमें विशेषण का लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है—

"करुणा दीपों की पंक्ति बनी
वेदना वर्तिका हिलती-सी
दोनों के ज्वालाकुल मुख में

---

१. मेधावी, पृ० १२।
२. विक्रमादित्य, पृ० ६१।

चेतना उमड़ कर मिलती-सी
यह प्राण पर्व ।"[1]

उक्त पंक्तियों में करुणा और वेदना क्रमश: दीपों व वर्तिका के विशेषण न होकर 'मनु' के हृदय के विशेषण हैं । इसी प्रकार 'तप्तगृह' में—

"किन्तु बिंबसार
मानों संहार की
लपटों में बैठा हो
मौन कारुण्य का ।"[2]

आलोच्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में जहाँ कतिपय उक्त नवीन अलंकारों का समावेश हुआ है, वहाँ अनेक प्राचीनकाल के अलंकार लुप्त भी हो गये हैं। संस्कृत-साहित्य में सर्वतो भद्र, गो-मूत्रिका-बंध, तुरग-बंध, खड्ग-बंध, कमल-बंध, चक्र-बन्ध आदि चित्र-चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है । भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि महाकवियों ने उक्त अलंकारों का अपने काव्यों में सफलता से निर्वाह किया है । भारवि ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग में एक ही अक्षर वाला एक श्लोक लिखा है, जिसमें 'न' के अतिरिक्त कोई दूसरा वर्ण ही नहीं है ।[3]

हिन्दी-काव्य-परम्परा में भी सिद्ध, नाथ एवं सन्त कवियों ने क्लिष्ट, अप्रचलित एवं कूट पदों के प्रयोग बहुत किये हैं । रीतिकाल के कवि केशव ने भी इस ओर अपनी विशेष रुचि दिखाई है । उन्होंने प्रहेलिका, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका तथा समस्या-पूर्ति पर भी बहुत कुछ लिखा है । केशव ने संस्कृत के भारवि की भाँति एकाक्षर, दो अक्षर, तीन अक्षर के छन्द, मात्रा-रहित वर्णों के छन्द, निरोष्ठ-वर्णों के छन्द तथा गूढोत्तर छन्दों के प्रयोग भी किए हैं । आधुनिक काल में भारतेन्दुजी ने पद-गुप्त, मात्रा-च्युतक, अक्षर-च्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, प्रश्नोत्तर एवं समस्या-पूर्ति के चमत्कार अनेक कविताओं में प्रदर्शित किये हैं ।[4] भारतेन्दुजी के बाद यह परम्परा आधुनिक काव्य में कहीं भी नहीं दिखाई देती है । स्वातन्त्र्योत्तर

---

१. ऋतंवरा, सर्ग ६, पृ० ७६ ।
२. देखिये—तप्तगृह ।
३. भारवि : किरातार्जुनीय, १५।१४ ।
४. देखिये—भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, पृ० ७४, ७४३, ८७६ तथा ८१० ।

हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में तो शब्दालंकारों का प्रयोग ही विरल हो गया है। इस युग के कवियों की विशेष रुचि प्रतीक-योजना तथा बिम्ब-विधान पर अधिक परिलक्षित होती है। अब हम क्रमशः इन पर विचार करेंगे।

प्रतीक-योजना :—

प्रतीक शब्द का अर्थ है—चिह्न, प्रतिरूप, प्रतिमा या स्थानापन्न। प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है।[1] अर्थात् किसी अन्य स्तर की समानुरूप-वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। प्रकीकों द्वारा ऐसी वस्तुओं को हमारी इन्द्रियों के सम्मुख रखा जाता है जो अन्य वस्तुओं या अन्यार्थों का बोध करा सकें। साधारणतौर पर प्रतीकों द्वारा अप्रस्तुत वस्तुओं का बोध या परिज्ञान कराया जाता है। इसी कारण अलंकारों में इसकी गणना अप्रस्तुतों के अन्तर्गत् की जा सकती है। इसका आदि स्रोत रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि सादृश्य मूलक अलंकारों में ढूंढा जा सकता है। रूपक अलंकार में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में अभिन्नता मानी गई है। रूपकातिशयोक्ति में आकर यह अभिन्नता इतनी बढ़ जाती है कि प्रस्तुत का उल्लेख ही नहीं किया जाता, अप्रस्तुत द्वारा उसकी व्यंजना ही की जाती है। प्राय: यह काम प्रतीक भी करता है पर उससे भी सशक्त ढंग से। प्रतीक वह अप्रस्तुत है जो प्रस्तुत को एकदम स्थान भ्रष्ट करके उसका स्थान ग्रहण कर लेता है तथा रूपकातिशयोक्ति से अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत को आच्छादित कर देता है और अन्त तक उस आच्छादन को बनाये रखता है। साहित्य में सदैव से प्रतीकों का प्रयोग अधिकतर उपलक्षण के रूप में होता आया है, क्योंकि भावों या मनोविकारों को पूर्णरूप से शब्दों में प्रकट करना प्रत्येक अवसर पर सम्भव नहीं होता। अतएव भावों की व्यंजना के लिए काव्य में प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है।

भारतीय साहित्य में प्रतीकों की परम्परा कोई नवीन नहीं है। वस्तुतः प्रतीकों का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी मानव संस्कृति। वैदिक

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ५१५।

साहित्य में प्रतीकों के बहुत से उदाहरण पाये जाते हैं।[1] हिन्दी के सिद्ध, संत व भक्त कवियों के साहित्य में प्रतीकों का बाहुल्य है। सिद्ध एवं सन्त कवियों ने आत्मज्ञान विषयक ऊँची से ऊँची और गहरी से गहरी बात कहने के लिए—दूध-दुहना, हल-चलाना, आखेट करना, मथना, बुनना, मधूकरी मांगना, चर्खा कातना, वस्त्र बुनना, वस्त्र रंगना, मिट्टी गूंदना, बर्तन बनाना, माला गूंथना, कोल्हू चलाना, चाक घुमाना आदि अनेक दैनिक जीवन से सम्बन्धित कार्य-व्यापारों को प्रतीकों का माध्यम बनाया है।[2] हिन्दी काव्य में छायावादी और रहस्यवादी युग में भी प्रतीकों का व्यापक उपयोग होता रहा।

छायावादी युग के अधिकांश प्रतीक प्रकृति से गृहीत थे। इस युग के कवियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए 'फूल' सुख का और 'शूल' दुःख का, 'दिन' सुख का और 'रात्रि' दुःख का, 'आलोक' आनन्द का और 'तिमिर' अज्ञान अथवा अवसाद का, 'मानस' मन (अन्तर्लोक) का और 'लहर' कामना का, 'वीणा' हृदय का और 'रागिनी' और 'मूर्च्छना' वेदनाओं का, 'मधु' आनन्द अथवा माधुर्य का और 'मदिरा' छवि अथवा रूप का, 'उषा' आरम्भ या उज्ज्वलता का और 'संध्या' अवसान या विलास का, 'इन्द्रधनुष' रंगीनी या क्षण भंगुरता का, 'वसंत' यौवन का, 'मधुप' प्रेमी का, 'मुकुल' प्रेयसी का, 'स्वर्ण' वैभव या दीप्ति का और 'रजत' रूप या धवलता का, 'तूफान' भावाघात और भावावेश का, 'झंकार' भावना और संवेदना का, 'सरिता' जीवन का, और 'मलय' श्वास का, 'संगीत' तन्मयता का, 'हास' विकास का, 'अश्रु' पीड़ा का, 'मिट्टी' नश्वरता का, 'मुरली' मधुर भावना का, व 'हंस' प्राणों का प्रतीक माना गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में प्रतीकों की

---

१. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥"
अर्थात् सुन्दर पंख वाले, एक साथ रहने वाले और परस्पर मित्रता रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष में निवास करते हैं। उन दोनों में से एक स्वादयुक्त फलों को खाता है और दूसरा बिना कुछ खाये ही चैतन्य रहता है। इनमें दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं तथा वृक्ष शरीर को कहा है एवं वृक्ष के फल सांसारिक भोगों का प्रतीक है। —ऋग्वेद १।२२।१६४।

२. हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, प्रतीकवाद, पृ० ६५।

३. डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर।

एक व्यापक परम्परा रही है किन्तु समाज और साहित्य के परिवर्तन के साथ प्रतीकों का महत्व और क्षेत्र भी घटता-बढ़ता रहा है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में सिद्ध, सन्त एवं भक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों की अपेक्षा अर्वाचीन छायावादी व रहस्यवादी कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। साथ ही नवयुग की प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुकूल स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त प्रतीकों में भी नवीन विकास दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि इन प्रबन्धकाव्यों में समसामयिक प्रतीकवादियों और अन्तश्चेतना-वादियों के सशक्त आन्दोलन स्वरूप स्वप्न[1] और यौन वर्जनाओं[2] के प्रतीकों का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में अनेक प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, किन्तु प्रतीकों की परम्परा और प्रयोग की दृष्टि से हम उन्हें तीन वर्गों में रख सकते हैं—(१) काम प्रतीक, (२) प्रकृति प्रतीक और (३) सांस्कृतिक और पौराणिक प्रतीक।

(१) काम-प्रतीक

हिन्दी काव्य-परम्परा में आये हुये प्रतीकों में सबसे अधिक संख्या दाम्पत्य-जीवन के प्रतीकों की है। इनमें हिन्दी-साहित्य बहुत समृद्ध है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबंधकाव्य 'कनुप्रिया',[3]

---

१. उस रात विचित्र स्वप्न देखा नचिकेता ने—
कोई अजीब-सा मन्त्र जाप पूरा करके,
नवजात एक शिशु को समुद्र में फेंक दिया
अज्ञानी किसी पिता ने
वह बालक बहता रहा आयु के सागर पर।
—आत्मजयी, नचिकेता का विषाद, पृ० २२।

२. देखिये—कनुप्रिया पृ० ६६–६७।

३. अगर सूर्यास्त वेला में
पश्चिम की ओर झरते हुए ये
अजस्र-प्रवाही झरने
मेरी ही स्वर्ण-वर्णी जंघायें हैं
और अगर यह रात मेरी प्रगाढ़ता है
और दिन मेरी हंसी
और फूल मेरे स्पर्श
और हरियाली मेरा आलिंगन
तो यह तो बताओ मेरे लीला बन्धु
कि कभी-कभी 'मुझे' भय क्यों लगता है। —कनुप्रिया, पृ० ४८।

'उर्वशी',[1] 'पाषाणी'[2] आदि में प्रयुक्त काम प्रतीक एक ओर तो यौन-वर्जनाओं की ओर इंगित करते हैं और दूसरी ओर तीव्र ऐन्द्रिय आकर्षण और तृप्ति की लालसा की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त काम-प्रतीक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्म-संतुष्टीकरण की भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार के प्रतीक पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में कम ही दृष्टिगत होते हैं, किन्तु प्रकृति-प्रतीकों का प्रयोग बाहुल्येन रहा है।

(२) प्रकृति-प्रतीक

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी प्रबंधकाव्यों में प्रकृति के लिए प्रतीक रस एक ओर तो किसी मनःस्थिति, विचारधारा या दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हैं[3] तो दूसरी ओर आध्यात्मिक चेतना या भाव-भूमि की सांकेतिक अभिव्यक्ति करते हैं।[4]

---

१. जन-जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियारी,
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसनेवाली।– उर्वशी,पृ० ६६।
मैं देशकाल से परे चिरन्तन नारी हूँ।
मैं आत्मतंत्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा,
रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूं। —वही, पृ० ६६।
जहाँ-जहाँ तुम खिलीं, रता मैं ही मलयानिल बनकर,
तुम्हें घेरता आया हूँ अपनी आकुल बाहों से।
जिसके भी सामने किया तुमने कुञ्चित अधरों को,
लगता है, मैं ही सदैव वह चुम्बन-रसिक पुरुष था। इत्यादि
—वही, पृ० १०१

इन पंक्तियों से प्रतीत होता है कि उर्वशी अभिलाषी, अपरमित वासना, इच्छा अथवा कामना से पूर्ण सनातन नारी का रूप है—वा चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है।

२. ओ किरणों की सखी, पंखिनी तू भी किरणों-सी ही खिलना।
रूप भरी, मद भरी, मान से, मनसे निज प्रियतम से मिलना।
किन्तु कभी क्या इधर ना आकर देखेगी मैं मूक सहेली।
बिना गीत के, बिना प्रीति के, जीवन ही बन रही पहेली।।
—पाषाणी, पृ० ६४।

३. देखिये—आत्मजयी, पृ० ३१।

४. "रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो
चाहता हूँ, भेद उसका जान लूँ
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।" —उर्वशी, अंक ३, पृ० ४६।

(३) सांस्कृतिक और पौराणिक प्रतीक

इसके अन्तर्गत ऐसे प्रतीक रखे जा सकते हैं जो संस्कृति, साहित्य और इतिहास से प्रभावित हैं। पौराणिक प्रतीकों पर अतीत-संस्कृति के किसी न किसी आदर्श का प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है। इन प्रतीकों के प्रयोग में आलोच्यकाल के प्रबन्धकारों ने अपने अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु कथाओं के मूलादर्श को इच्छानुसार, विषयानुकूलता की दृष्टि से परिवर्तित करने की चेष्टा की है। अतीत-संस्कृति से जो प्रतीक ग्रहण किये गये हैं उनमें महाभारत और रामायण के उपाख्यानों का आधार विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में इस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग 'मेधावी,'[1] 'रत्नावली'[2] आदि में विशेष रूप से पाया जाता है, यथा—

"वेद की ऋचाओं सा
पवित्र, आज हर हिन्दू नारी का सुहाग
लुटता हुआ-सा
संस्कृति की द्रौपदी का वह
सभ्यता का चीर
राज्य का विदेशी दुःशासन
खीझ खींचे चला जाता है।
+ + + +
+ + + +
केवल दुःशासन की—
जिह्वा पर चढ़-चढ़ कर
गो, वह भी अब—
गो-लोक-वासी हुई जाती है।"[3]

---

१. मेधावी, सर्ग १०, पृ० १६६।
२. रत्नावली, पृ० ६१।
३. वही, पृ० ६२-६३।

इसी प्रकार 'मेधावी' में भी 'द्रौपदी' को त्रस्त मानवता का प्रतीक, 'पाण्डवों' का मौन का प्रतीक, 'दुःशासन' को निष्ठुर काम का प्रतीक, 'कृष्ण' को थोथे आदर्शों का प्रतीक[१] तथा 'अन्धे धृतराष्ट्र' को स्वार्थान्ध न्याय का प्रतीक, 'संजय' को युग चेतना का प्रतीक एवं 'द्रोण' को विकलता का प्रतीक माना है।[२] इनके अतिरिक्त 'वरुण' को दुःख का, 'इन्द्र' को आनन्द[3] का तथा 'फासिस्ट' व 'विभीषण' को अत्याचार का प्रतीक माना है—

"मैं विस्फोटों का आर्त्तनाद
हत्या को करता प्यार रहा
मैं हूं फासिस्ट सैन्य बल जो
जग पर कर अत्याचार रहा
मैं क्रुद्ध विभीषण नाच रहा।"[४]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में समाज और साहित्य की युगानुकूल मान्यताओं के साथ प्रतीकों के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं।

---

१. आज मैं देख रहा हूं मौन
युगान्तर से मानवता त्रस्त
'द्रौपदी' सी लुटती असहाय,
शक्तिशाली 'पांडव' हो मूक
बद्ध हैं मूर्ख पाश में बद्ध
अंध है 'स्वार्थभरा' वह न्याय
और 'दु.शासन' करते गतज
चीर हरने का निष्ठुर काम,
धर्म की चाह रहा जो जीत
'कृष्ण' भी आदर्शों में लीन
साम्य को देकर भी संदेश
न दे पाया मानव को मुक्ति
मुक्ति तो थी ईश्वर सान्निध्य ?
हत ! यह क्या केवल उन्माद !
—मेधावी, सर्ग १०, पृ० १६१–१६२।

२. देखिये—मेधावी, सर्ग ११, पृ० १६६।

३. वही, स० १०, पृ० १५७।

४. वही, स० १४, पृ० २५८।

आलोच्यकाल के प्रबन्धकाव्यों में कतिपय परम्परागत प्राचीन प्रतीक जन-चेतना के साथ-साथ चल रहे हैं, कुछ पीछे छूट गये हैं, कुछ भावोत्कर्ष को प्राप्त हो गये हैं तथा कुछों के अर्थ की क्षति हो गई है। सिंह, सूर्य, कमल आदि के प्रतीक अपने परम्परागत रूप के अनुसार आलोच्यकाल के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त हुये हैं, किन्तु कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि आदि अनेक प्राचीन प्रतीकों का युग जीवन से पिछड़ने के कारण विशेष प्रयोग नहीं हो पाया है। 'मिट्टी', 'पानी', 'आग', 'ऊँचा', 'वरणी', 'तृप्ति', 'तारे' आदि प्रतीकों का भावोत्कर्ष हुआ है[1] तथा महाजन, ज्वाला, गौरवपूर्ण आदि प्रतीकों की अर्थ क्षति हुई है।

निष्कर्ष यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में परम्परागत प्रतीकों के व्यवहार व साथ-साथ नये प्रतीकों का सृजन भी हुआ है। इन प्रबन्धकाव्यों में प्रतीकों के प्रयोग-बाहुल्य के साथ बिम्ब-विधान की भी सुन्दर सृष्टि हुई है।

बिम्ब-विधान :—

काव्य में बिम्ब-योजना का बहुत बड़ा महत्व है। काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।[2] वस्तुतः बिम्ब-दर्पण में पड़ती हुई उस छाया की तरह है जिसमें हम अपने चेहरे की रेखाओं से अधिक उससे परे किसी सत्य को देखते हैं।[3] आवश्यकतानुसार भावों में संवेदनीयता और अभिव्यक्ति में तीव्रता के समावेश हेतु बिम्बों का प्रयोग किया जाता है। स्वातन्त्र्योत्तर काव्य के बिम्ब-विधान पर अंग्रेजी काव्य के बिम्ब-विधान का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है।

भारतीय काव्य के लिए बिम्ब कोई अज्ञात वस्तु नहीं है, अनेक रूपों और अनेक प्रकार से बिम्बों का प्रयोग प्राचीन काल से हमारे यहाँ होना आया

सौम्य, शान्त यह मृदु मुख-मंडल
लौह-भुजायें लम्बी-लम्बी
पवि-सा यह विशाल वक्षस्थल
यह शरीर बल और शौर्य का
पुञ्ज प्रज्वलित, मोहक, मांसल।[1]

उक्त पंक्तियों में मनु के सुघड़ शरीर को सौन्दर्य चेतना से अनुप्राणित करके पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण 'उर्वशी' प्रबन्धकाव्य से देखिए—

"ऊरु-दण्ड परिपुष्ट, मध्य कृश, पृथुल, प्रलम्ब भुजायें,
वक्षस्थल उन्नत, प्रशस्त कितना सुभव्य लगता था।
उषा-विभासित उदय शैली की, मनों,स्वर्ण-शिला हो।
उफ् री, पयः शुभ्रता उन आयत, अलक्ष्य नयनों की।"[2]

यहां आयु की आकृति के चित्रण में सहज-बिम्ब का सौन्दर्य स्वतः स्पष्ट है। अतः इसकी विशेष व्याख्या आवश्यक है।

(२) अलंकृत-बिम्ब :—

वस्तु-बिम्ब के दूसरे रूप को अलंकृत-बिम्ब कह सकते हैं। इस बिम्ब विधान में एक ही वस्तु के लिए विभिन्न शृङ्खलाबद्ध बिम्बों के प्रयोग किये जाते हैं। वस्तुतः इसमें विभिन्न बिम्बों का क्रमिक प्रयोग तथा बिम्ब-विधान को विस्तार प्रदान करने की प्रवृत्ति प्रमुख होती है। इस प्रकार के बिम्ब-प्रयोग 'कनुप्रिया' में विशेष रूप से मिलते हैं। 'कनुप्रिया' के शरीर की दशा का बोध कराने के लिए बिम्बों का शृङ्खलाबद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है—

"बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद
रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण सा—
—मेरा यह जिस्म।"[3]

ऐसे शृङ्खलाबद्ध बिम्बों का प्रयोग स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में सर्वथा नवीन है। पूर्ववर्ती छायावादी प्रबन्ध-रचनाओं में भी इस प्रकार के

---

१. लोकायतन, पृ० ११८–१९।
२. उर्वशी, अंक ५, पृ० १३७।
३. कनुप्रिया, पृ० ६१–६२।

बिम्बों का प्रयोग विरल है। आधुनिक अंग्रेजी काव्य में इस प्रकार का बिम्ब-वाद लुई मेकनीस के काव्य में उपलब्ध होता है।[1]

व्यापार-बिम्ब :—

दृश्य बिम्ब का दूसरा भेद व्यापार-बिम्ब है। इस प्रकार के बिम्ब-विधान के अन्तर्गत् मानव और मानवेतर दोनों ही के जीवन सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलाप रखे जा सकते हैं। 'लोकायतन' में कृषि-पशु व ग्रामीण जीवन सम्बन्धी एक व्यापार बिम्ब देखिए—

"भाते उफनाते सागर से
खेत ईख के फूले सुन्दर,
हलकी फालसई चादर सी
लिपटी थी रेशमी दोपहर।[2]

उक्त पंक्तियों में ग्रामीण जीवन सम्बन्धी सुन्दर बिम्बों की अवतारणा नवीन रूप से हुई है। इसके साथ ही 'उर्वशी' के मादक चित्र का नवीन प्रयोग अवलोकनीय है—

प्रकटी जब उर्वशी चाँदनी में द्रुम की छाया से,
लगा, सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,
या कि स्वयं चाँदनी स्वर्ण प्रतिभा में आन ढली हो,
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद उपवन की
उदित हुई हो या कि समन्वित नारी-श्री त्रिभुवन की।
\+ \+ \+ \+ \+
किसी सान्द्र वनके समान नयनों की ज्योति हरी थी,
बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे निन्द्रा भरी-भरी थी।
अंग-अंग में लहर लास्य की राग जगाने वाली,
नर के सुप्त, शान्त शोणित में आग लगाने वाली।[3]

लुई मेकनीस की एक कविता 'होमेज टु विलवेज' में भाग्य या नियति के लिये क्रमिक रूप से तीन बिम्बों का प्रयोग किया है। यथा—
—देखिये - लुई मेकनीस : मॉडर्न पोयट्री, पृ० ११२।

२. लोकायतन, पृ० ७६।

३. उर्वशी, अंक २, पृ० २६।

द्वारा बिम्ब सृजन नहीं होता; क्योंकि इन बिम्बों का सृजन कवि किसी भाव-स्थिति या विचार-दशा से प्रभावित होकर ही करता है। अतः बिना चिन्तन के ये बिम्ब पाठकों को सहज रूप से संवेद्य-बिम्बों की भांति ग्राह्य नहीं है, यथा—

"और तुम व्याकुल हो उठे हो
धूप में कसे
अथाह समुद्र की उत्ताल, विक्षुब्ध
लहराती लहरों के निर्मम थपेड़ों से—
छोटे से प्रवाल – द्वीप की तरह
बेचैन....................."[१]

उक्त पंक्तियों में बिम्ब उस छोटे से द्वीप का है, जो समुद्र की उत्ताल तरंगों के आघातों से बेचैन है, किन्तु इस बिम्ब को समझने के लिए पाठक को कनुप्रिया और कृष्ण के आलिंगन से उद्भुत कृष्ण की बेचैन भाव-दशा का बोध आवश्यक है। इस ज्ञान के अभाव में पाठक के मानस-पटल पर इस भाव-बिम्ब की छवि अंकित नहीं हो सकती।

वैज्ञानिक यांत्रिक युग के बिम्ब :—

आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति और यांत्रिक सभ्यता का जो प्रभाव स्वातन्त्र्योत्तर काव्य पर पड़ा है वैसा स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती काव्य पर नहीं दिखाई देता। स्वातन्त्र्योत्तर काव्य में आधुनिक वैज्ञानिक और यांत्रिक युग के बिम्ब प्रचुर मात्रा में ग्रहण किये गये हैं। मोटर, रेलगाड़ी आदि यंत्रों के अतिरिक्त बम, जहाज, टैंक आदि अत्याधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के परिचायक बिम्ब भी स्वातन्त्र्योत्तर काव्य में उपलब्ध होते हैं—

मेरी भय गर्जन सी मशीन
का जहर गरजता व्याप रहा
भड़-भड़ कर तोपें भड़क रही
धूं धूं बन्दूकें कड़क रहीं
वह प्रलय लहर सा टैंक चला
मेरे श्वासों ने विष उगला

१. कनुप्रिया, पृ० ५५।

का पालन कर दिया है। आगे चलकर छठे और सातवें सर्ग के मध्य में ही छन्द परिवर्तन कर दिया गया है और उसके उपरान्त स्थल-स्थल पर यथा स्थान इसी क्रम का पालन किया गया है। 'वर्द्धमान', 'विक्रमादित्य' एवं 'पार्वती' प्रबन्धकाव्यों के अधिकांश सर्गों की रचना एक ही छन्द में होने पर भी सर्ग के अन्त में नियमित रूप से छन्द परिवर्तन की रूढ़ि का पालन नहीं किया गया है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर अधिकांश प्रबन्ध-काव्यकारों ने एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग तथा सर्गांत में छन्द परिवर्तन के नियम का दृढ़ता से पालन नहीं किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है, जिनमें कुछ परम्परागत छन्द हैं तथा कुछ नवीन। साधारणतः इन प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त छन्द तीन प्रकार के हैं—वर्णिक, मात्रिक और मुक्त छन्द। इन छन्दों में से स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती हिन्दी के प्रबन्धों में प्रमुखतः दो प्रकार के ही छन्दों के प्रयोग की परम्परा परिलक्षित होती है—मात्रिक और वर्णिक। इन छन्दों की परम्परा बहुत प्राचीन है। किन्तु संस्कृत में वर्णिक छन्दों का प्रयोग-बाहुल्य है, जिन कतिपय मात्रिक छन्दों का संस्कृत साहित्य में यत्किंचित प्रयोग हुआ भी है, हिन्दी में उन मात्रिक छन्दों का प्रयोग नगण्य है। इसके विपरीत हिन्दी के स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में मात्रिक छन्दों के प्रयोग की बहुलता मिलती है, किन्तु वर्णिक छन्दों का अभाव भी नहीं है। यों तो स्वातन्त्र्योत्तर महाकवियों में से प्रायः सभी ने वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है, और उस प्रयोग में संस्कृत के वर्णवृत्तों की परम्परा का अनुकरण भी मिलता है, किन्तु 'वर्द्धमान', 'नगराज' जैसी काव्य-कृतियां संस्कृत वर्णवृत्तों की परम्परा के लिए प्रशस्त है।

वर्णिक छन्द

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का प्रयोग स्वातन्त्र्योत्तर काल के कई प्रबन्ध-काव्यकारों ने किया है। वर्ण वृत्तों के प्रयोग की परम्परा हिन्दी में मध्यकाल में लुप्त-सी हो गई थी। केशव जैसे कुछ संस्कृत-निष्ठ कवियों ने कतिपय वर्ण-वृत्तों का प्रयोग किया था और वह भी हिन्दी की तुकान्त शैली में। रीतिकाल में रचित ग्रंथों में आकर यह धारा रुक गई थी। आधुनिक-काल में इस परम्परा को पुनर्जीवित करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही है। द्विवेदी जी ने कई मौलिक एवं अनूदित काव्यों की रचना संस्कृत के बहु-प्रचलित वर्ण-वृत्तों में की तथा अन्य कवियों को भी इस ओर प्रेरित किया। आगे चलकर 'हरिऔध' ने इसी परम्परा और

'गुप्त' ने भी इसे प्रश्रय दिया। आलोच्यकाल के प्रबन्धकाव्यों में इस परम्परा का निर्वाह 'वर्द्धमान', 'अंगराज', 'जयभारत', 'रावण' आदि में मिलता है। इन प्रबन्धकाव्यों में संस्कृत के वर्ण-वृत्त, 'वंशस्थ, द्रुत-विलम्बित, शार्दूल-विक्रीडित, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा आदि का प्रयोग अधिक हुआ है; यथा—

वंशस्थ :—

इसमें जगण, तगण, जगण और रगण के क्रम से बारह वर्ण होते हैं।[1] आलोच्यकाल के प्रबन्ध-काव्यकारों में इस परम्परा के सबसे बड़े कवि श्री अनूप शर्मा हैं, जिन्होंने वंशस्थ छन्द का सबसे अधिक प्रयोग किया है। 'वर्द्धमान' में लगभग आद्योपांत २००० वंशस्थ छन्दों का प्रयोग हुआ है, केवल सर्गान्त में ही कुछ अन्य छन्द आये हैं। वंशस्थ छन्द का इतना बड़ा प्रयोग भारतवर्ष में इसके पूर्व किसी भी कवि की रचना में देखने को नहीं मिलता।

एक उदाहरण देखिए—

"सदैव प्राणी इस मर्त्य-लोक में
रहा अकेला, रहता अ—संग है।
रहा करेगा यह संग हीन ही,
प्रसंग होगा इसका न अन्य से।"[2]

आनन्द कुमार ने भी 'अंगराज' में वंशस्थ छन्द का प्रयोग अन्य छ की अपेक्षा अधिक किया है। 'अंगराज' के ४, १०, ११, १२, १४ तथा २ सर्ग में इस छन्द के प्रयोग का बाहुल्य है, यथा—

"सुदूर भी होकर जो समीप है, विभिन्न भी होकर जो अनन्य है।
बता सकेगी इसको चकोरिका, वियोग में भी हृदयस्थ कौन है।"[3]

द्रुतविलम्बित :—

यह १२ वर्णों का छन्द है, जिसमें नगण, भगण, भगण और रगण का योग रहता है,[4] यथा—

"सुहृद—संग सदा रहना हमें, वितरता बल—बुद्धि-विवेक है।
पर असंग-प्रसंग परेश का, विदित आत्म-समुन्नति-हेतु है।"[5]

---

१. 'जतौ तु वंशस्थ मुदी रितं जरौ' —वृत्त रत्नाकर, तृतीय अ० पृ० ४६
२. वर्द्धमान, सर्ग १३।४१, पृ० ३८५।
३. अंगराज, सर्ग १४।४१, पृ० १४७।
४. 'द्रुत विलम्बित माह नभौभरौ' —छन्दोमंजरी, द्वि० स्तवक १०
५. वर्द्धमान, १३।४०, पृ० ३८५।

शार्दूलविक्रीडित :—

इस वृत्त में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और अन्त में एक गुरु का योग होता है,[1] यथा—

> भव्यों ! है यह मेदिनी शिविर-सी जान पड़ेगी कभी;
> आगे का पथ ज्ञात है न, इससे सद-बुद्धि आये न क्यों?
> ले लो साधन धर्म के, न तुमको व्यापे व्यथा अन्यथा;
> है जैनेन्द्र–पादरविन्द-तरणी संसार-पाथोधि की ।[2]

शिखरिणी :—

इसमें यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा अन्त में एक लघु और एक गुरु होते हैं। इस वृत्त में १७ वर्ण होते हैं तथा ६ और ११ पर यति होती है,[3] यथा—

> वृपस्यन्ती वामा नवमदनलेखा ललनिका ।
> पतीयन्ती रामा रमक-मृदिका है यह नहीं ।।
> न है नष्टा–भ्रष्टा द्रु पद-दुहिता–तुल्य ललिता ।
> विचित्रा चित्रा है प्रकट यह सिन्दूर-तिलका ।।[4]

इन्द्रवज्रा :—

इस वृत्त में क्रमशः दो तगण, जगण और दो गुरु होते हैं,[5] यथा—

> होता इसी ओर रणस्थली में, होहन्त का क्रन्दन मर्मभेदी ।
> गोविन्द-नारायण-नाद होता संद्राविता मित्र-वरुथिनी में ।।[6]

संस्कृत के वर्ण-वृत्तों के अतिरिक्त हिन्दी के घनाक्षरी, सवैया इत्यादि वर्णिक छन्दों के प्रयोग की परम्परा भी आलोच्य-कालीन हिन्दी प्रबंधकाव्यों

में पाई जाती है। 'रावण', 'जयभारत', 'अंगराज', 'दैत्यवंश', 'कूबरी' आदि प्रबंधकाव्यों में इनका प्रयोग अधिक हुआ है। हिन्दी में इन छन्दों की परंपरा कोई नयी नहीं है। 'घनाक्षरी' छन्द का सम्बंध-सूत्र तो वैदिक अनुष्टुप् से है जो लय की विभिन्न अवस्थाओं में विकसित होकर भी अपनी अक्षर संख्या को अक्षुण्य रख सका है। हिन्दी में घनाक्षरी छन्द का पहला प्रौढ़ प्रयोगकर्त्ता सेन कवि (१५६० सं०) हुआ है।[1] हिन्दी में सवैया मुक्तक-छन्दों ने भी पूर्णतया मुक्तक वर्णिक छन्दों का रूप धारण कर लिया है। इन वर्णिक छन्दों की परम्परा का निर्वाह आलोच्य प्रबंधों में अवश्य मिलता है, किन्तु इस ओर कवियों की विशेष रुचि परिलक्षित नहीं हो रही है। देव-घनाक्षरी के वर्णों के आधार पर एक उदाहरण देखिये—

"छलती तरंगों पर झूलती-सी निकली,
दो-दो करी-कुम्भी यहाँ हूलती-सी निकली।
क्या शक्रत्व मेरा, जो मिली न शची भांमिनी,
बाहर की मेरी सखि भीतर की स्वामिनी।।"[2]

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में छन्दों के क्षेत्र में पर्याप्त विकास होने पर भी संस्कृत की छन्द परम्परा का परित्याग आलोच्य-काल के प्रबंधकाव्यों में भी नहीं हुआ है। तुकान्त और अतुकान्त दोनों शैलियों में संस्कृत के वर्णवृत्त स्वातंत्र्योत्तर काल के प्रबंधकाव्यों में प्रयुक्त हुए हैं; किंतु अधिकांश प्रबंधकाव्यों में मात्रिक छन्दों का ही विशेष प्रयोग देखने को मिलता है।

मात्रिक छन्द :—

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबंधकाव्यों में मात्रिक छन्दों के प्रयोग की दिशा में कवियों ने बड़ी स्वच्छन्दता से काम लिया है। छन्दों का ऐसा बहुमुखी प्रयोग स्वतन्त्रता से पूर्व हिन्दी प्रबंधकाव्यों में शायद ही कभी हुआ हो। मात्रिक छन्द खड़ी-बोली हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रकृति के बहुत अनुकूल है। लोकायतनकार 'पंत' की मान्यता है कि हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता

---

१. देखिये—अनूप शर्मा : शर्वाणी, भूमिका : (डा० मनोज), पृ० ३।
२. देखिये—जयभारत, (द्वितीयावृत्ति), पृ० १५।

है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्णवृत्त पुराने फैशन के चांदी के कपड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं। उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती है, उसके पदों में स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नहीं रहती।[1]

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबंधकाव्यों में प्रयुक्त मात्रिक छन्द अधिकांश रूप से तो हिन्दी के अपने हैं। कुछ अपभ्रंश और प्राकृत के भी छन्द हैं जिनका प्रयोग हिन्दी में परम्परागत रूप से होता चला आया है, कतिपय छन्द मराठी, बंगला और फारसी के छन्दशास्त्र से प्रभावित हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जिनका निर्माण कवियों ने स्वतः ही कर लिया। 'ऋतंवरा' प्रबंधकाव्य के दूसरे सर्ग का तीन पंक्तियों वाला मात्रिक छन्द कवि का अपना छन्द है, जिसकी प्रथम दो पंक्तियां प्रायः १६ मात्रा और तीसरी २४ मात्रा की है; यथा—

मैं देख रहा, अवलोक रहा, = १६
मन मेरा प्रतिपल टोक रहा, = १६
पर दृष्टि इसी पर अड़ी ढूंढ़ती समाधान। = २४[2]

छोड़कर) परम्परागत मात्रिक छन्दों का प्रयोग किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। कतिपय कम प्रचलित परम्परागत मात्रिक व मिश्र वर्ग के छन्दों के उदाहरण देखिये—

निश्चल :—

इस छन्द में १६, ७ मात्राओं पर यति और अन्त में गुरु–लघु होते हैं, लय का आधार समप्रवाही अष्टक है। रोला की अन्तिम गुरु मात्रा को लघु करने से यह छन्द बन जाता है। यह वर्णनात्मक छन्द प्रबंध के अनुकूल है। 'पार्वती' प्रबंधकाव्य के 'शिवसमाज-प्रयाण' में इस छन्द का प्रयोग सुन्दर हुआ है।[1] 'जयभारत' में भी इसका प्रयोग हुआ है[2]—

१६ मात्राओं तथा २८ मात्राओं के मिश्र वर्ग के छन्दों का प्रयोग भी मिलता है। क्रमशः इनके उदाहरण देखिये—

"अम्बर में कुन्तल-जाल देख
पद के नीचे पाताल देख
मुट्ठी में तीनों काल देख
मेरा स्वरूप विकराल देख
सब जन्म मुझी से पाते हैं
फिर लौट मुझी में आते हैं।"[3]

उक्त १६ मात्राओं के मिश्र छन्द में पद्धरि के ४ चरण और पादाकुलक के दो चरण प्रयोग में आये हैं। एक अन्य २८ मात्राओं के मिश्र छन्द का प्रयोग भी अवलोकनीय है—

"'जय हो' जग में जले जहाँ भी नमन पुनीत अनल को
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को, बल को।।
किसी वृन्त पर खिले विपिन में, पर, नमस्य है फूल,
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि शक्ति का मूल।"[4]

यह छन्द सार और सरसी के दो-दो चरणों के योग से बना है।

---

१. देखिये—पार्वती, सर्ग १०।
२. देखिये—जयभारत, अस्त्र लाभ, पृ० १५२।
३. रश्मिरथी, सर्ग ३, पृ० २७।
४. देखिये—रश्मिरथी, सर्ग १, पृ० १।

पीयूष-वर्ष छन्द :—

१६ मात्रायें वाला पीयूष—वर्ष छन्द का 'अनंग' प्रबन्धकाव्य में पदांतर प्रवाही अतुकान्त प्रयोग मिलता है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में 'अनंग' एक ऐसी कृति है, जिसमें पीयूष-वर्ष छन्दों में ही सम्पूर्ण काव्य की रचना हुई है। कुल मिलाकर इस काव्य में ६५१ छन्दों का निर्माण हुआ है। यह छन्द (SISS) द्वितीय सप्तक के आधार पर बनता है। सप्तक की दो आवृत्तियों के बाद रगण का विस्तार जोड़ने से इसका चरण निर्मित होता है। इसकी तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है। यह छन्द शृंगार की कोमल भावनाओं के लिए उपयुक्त है। प्राचीन पीयूष-वर्ष छन्द स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में अतुक और सतुक दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ है। 'अनंग' में इसका प्रवहमान अतुकान्त प्रयोग हुआ है। इस छन्द का प्रयोग स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती रचना 'साकेत' के प्रथम सर्ग में तथा ग्रन्थि (पंत) में अन्त्यमुक्त रूप में हुआ है। यद्यपि आलोच्यकाल के प्रबन्धकाव्यों में इसकी परम्परा 'अनंग' में जीवित है, किन्तु अन्य रचनाओं में इसका प्रयोग विरल है। अमृत के छींटें फेंकने वाला यह छन्द सचमुच पीयूष-वर्षी है। इसकी गति से मधुरता का वर्षण होता है। इस छन्द की लय बड़ी भावुक और संवेदनशील है, यह कभी विरहिणी सी सिसकती और कभी रतिप्रीता सी उल्लसित दिखाई देती है—

> "चाहत है मन निराकृति रूप धर,
> मैं मिलूं, रति-रूप का अर्चन करूं।
> बस गयी है रति सुलक्षित बिम्ब-सी,
> भाव लहरों में अनुपलब्धा बनी।"[1]

अरबी, फारसी और उर्दू में यह छन्द फ़ायलातुन, फ़ायलुन के वजन पर चलता है।

दिगम्बरी :—

यह छन्द सप्तक (ISSS) की तीन आवृत्तियों और यगण (ISS) के योग से बनता है। इसकी पहली, आठवीं, पन्द्रहवीं और बाईसवीं मात्रा लघु होती है, अन्त में प्रायः दो गुरु होते हैं, पर SS के स्थान पर सगण भी आ सकता है। उर्दू में यह बहर अधिक प्रयुक्त होती है, पर हिन्दी के स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्य में यह नवीन प्रयोग है। स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में

---

१. अनंग, सर्ग अनुराग, पृ० ४०।

छोड़कर) परम्परागत मात्रिक छन्दों का प्रयोग किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। कतिपय क्रम प्रचलित परम्परागत मात्रिक व मिश्र वर्ग के छन्दों के उदाहरण देखिये—

निश्चल :—

इस छन्द में १६, ७ मात्राओं पर यति और अन्त में गुरु-लघु होते हैं, लय का आधार समप्रवाही अष्टक है। रोला की अन्तिम गुरु मात्रा को लघु करने से यह छन्द बन जाता है। यह वर्णनात्मक छन्द प्रबंध के अनुकूल है। 'पार्वती' प्रबंधकाव्य के 'शिवसमाज-प्रयाण' में इस छन्द का प्रयोग सुन्दर हुआ है।[१] 'जयभारत' में भी इसका प्रयोग हुआ है[२]—

१६ मात्राओं तथा २८ मात्राओं के मिश्र वर्ग के छन्दों का प्रयोग भी मिलता है। क्रमशः इनके उदाहरण देखिये—

"अम्बर में कुन्तल-जाल देख
पद के नीचे पाताल देख
मुट्ठी में तीनों काल देख
मेरा स्वरूप विकराल देख
सब जन्म मुझी से पाते हैं
फिर लौट मुझी में आते हैं।"[3]

उक्त १६ मात्राओं के मिश्र छन्द में पद्धरि के ४ चरण और पादाकुलक के दो चरण प्रयोग में आये हैं। एक अन्य २८ मात्राओं के मिश्र छन्द का प्रयोग भी अवलोकनीय है—

" 'जय हो' जग में जले जहाँ भी नमन पुनीत अनल को
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को, बल को ।।
किसी वृन्त पर खिले विपिन में, पर, नमस्य है फूल,
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि शक्ति का मूल।"[४]

यह छन्द सार और सरसी के दो-दो चरणों के योग से बना है।

---

१. देखिये—पार्वती, सर्ग १०।
२. देखिये—जयभारत, अस्त्र लाभ, पृ० १५२।
३. रश्मिरथी, सर्ग ३, पृ० २७।
४. देखिये—रश्मिरथी, सर्ग १, पृ० १।

इसका प्रयोग अति विरल है। 'पार्वती' के कुमार-दीक्षा सर्ग में इस छन्द का विशेष प्रयोग मिलता है, यथा :—

"असुर भी दूर तक थे दृष्टि गत होते न कोई
यहाँ किस पुण्य-चय में नीति उनकी दुष्ट खोई,
यहाँ था कौन ऐसा वीर दुर्जय औ प्रतापी,
कि जिसकी भीति असुरों के हृदय में क्रूर व्यापी?"[१]

पज्झटिका :—

यह १६ मात्राओं का छन्द है। इसके पहले अष्टक में कोई विचार नहीं होता, पर लय निपात में यह ध्यान रखा जाता है कि दूसरा अष्टक गुरु से आरम्भ हो और गुरु से ही समाप्त हो, इससे अन्त सममूलक और दीर्घ-प्रधान हो जाता है, इसके बीच में एक लय उद्भुत होती है, जो ऊर्ध्वमुखी होकर पुनः निपतित हो जाती है। इससे तरंग में चपलता आ जाती है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में 'रश्मिरथी' को छोड़कर अन्यत्र इसका प्रयोग नगण्य-सा है, यथा—

सिर पर कुलीनता का टीका,
भीतर जीवन का रस फीका,
अपना न नाम जो ले सकते,
परिचय न तेज से दे सकते।[२]

इस छन्द के दूसरे अष्टक के आदि और अन्त में गुरु है।

डिल्ला :—

यह सम प्रवाही १६ मात्राओं का छन्द है, इसके अन्त में भगण (ऽ।।) होता है, यथा—

"क्या पाँच पुत्र हो जाने पर
सत के धन-धाम गंवाने पर,
या महानाश के छाने पर
अथवा मनके घबराने पर।"[३]

---

१. पार्वती, सर्ग १५ पृ० ३०६।
२. रश्मिरथी, सर्ग ३, पृ० ४०।
३. वही, सर्ग ३, पृ० ३५।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में उक्त सभी छन्दों का अत्यल्प प्रयोग देखने को मिलता है। हां ! 'अतंग' प्रबन्धकाव्य की सम्पूर्ण रचना एक ही छन्द 'पीयूष-वर्ष' में कर एक नवीन प्रयोग अवश्य प्रस्तुत किया गया है। अन्य छन्दों का प्रयोग तो यत्र-तत्र ही किसी-किसी कृति में देखने को मिलता है।

प्रत्येक कवि अपनी रुचि और आवश्यकता के लिए विशेष प्रकार के छन्दों का चुनाव करता है। इसी तरह युग विशेष भी अपने अनुकूल छन्दों को ग्रहण करता है। यही कारण है कि अधिकांश स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों ने अपनी-अपनी रचनाओं में युगानुकूल मुक्त छन्द का खुलकर प्रयोग किया है।

'मानवेन्द्र',[1] 'सरदार भगतसिंह',[2] 'ऋतंवरा'[3] आदि अनेक प्रबंधकाव्यों का निर्माण मात्रिक छन्दों में होते हुए भी यथास्थल उनमें मुक्त छन्दों का व्यवहार हुआ है। 'तप्तगृह' के कवि ने केवल यति और विराम के बंधन से मुक्ति स्वीकार की है, जबकि 'आत्मजयी', 'रत्नावली', 'कनुप्रिया', 'संशय की एक रात' व 'मेधावी' की रचना अतुकान्त मुक्त छन्द में हुई है। इन प्रबंधकाव्यों में कहीं-कहीं कुछ दूर तक पंक्तियां मात्राओं की दृष्टि से समान हैं, किन्तु इस प्रकार का कोई नियमित विधान नहीं। कहीं छन्द की पंक्ति एक ही शब्द में और कहीं अनेक शब्दों व मात्राओं में समाप्त होती है। विस्तार भय के कारण सबसे उदाहरण देना सम्भव नहीं है और न इसकी आवश्यकता ही है, क्योंकि उक्त प्रबंधकाव्यों के किसी भी पृष्ठ को उठाकर देखिए, वहाँ सर्वत्र आपको कुछ न कुछ विविधता ही मिलेगी। इन प्रबंधकाव्यों में तुकान्त और अतुकान्त दोनों ही प्रकार के मुक्त छन्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन प्रबंधकाव्यों में कोई निश्चित छन्द-विधान नहीं मिलता। काव्य की छन्द-योजना हर दृष्टि से मुक्त है। 'तप्तगृह' की भूमिका में कवि ने स्वयं अपनी छन्द-विधान पद्धति की ओर संकेत किया है—"जहां भाव रुकता है वहीं अपने आप छन्द भी रुक जाता है।"[4] अतः इससे स्पष्ट है कि अन्य प्रबंधकाव्यों की अपेक्षा 'तप्तगृह' में कुछ नियम का पालन दिखाई देता है। जहां निर्बाध रूप से एक ही भाव प्रवाहित होता रहा है, वहां एक ही प्रकार के छन्द की सृष्टि हुई है। 'तप्तगृह' में प्रयुक्त छन्दों में विविधता दृष्टिगत नहीं होती। आकार की दृष्टि से 'तप्तगृह' की पंक्तियां १० या १२ मात्राओं के बीच में हैं। 'मेधावी' तथा अन्य प्रबंधों की रचनायें भी कहीं-कहीं 'तप्तगृह' की भांति १०, १२ व १६ मात्राओं के बीच में हुई है। मेधावी' के ११ और १२ सर्ग की लगभग सम्पूर्ण रचना १६ मात्राओं के अतुकान्त और कहीं-कहीं तुकान्त शब्दों में हुई है, यथा—

---

१. "गगन के नीचे धरा पर,
मिट गया इतिहास कितना,
शेष कितना ?
शेष इतना है यहां इतिहास
निगता भोर का तारा। —मानवेन्द्र, पृ० ४८६।

२. देखिये—सरदार भगतसिंह, पृ० २८७।

३. देखिये—ऋतंबरा, सर्ग १५, पृ० २०२।

४. केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' : तप्तगृह, निवेदन, पृ० २।

"जाति ? जाति की अपनी सत्ता
अपनेपन का गर्व भयंकर
इन्हीं मनुष्यों ने फैलाया
जो अब तक बाधा की खाई,
किन्तु हजारों वर्षों बीते
ज्ञान दीप अब तक चलता है ।[1]

'मेधावी' का छन्द-विधान १६ मात्राओं तक पहुंच जाता है, किन्तु 'तप्तगृह' का छन्द-विधान १० या १२ मात्राओं से अधिक नहीं है—

"उदित हुआ अम्बर में
भास मान बाल रवि
मानों कल्पनान्त के
ध्वंसक अनल का
लाल-लाल गोला हो ।"[2]

इस प्रकार विस्तार की दृष्टि से 'मेधावी' और 'तप्तगृह' में कोई विशेष अन्तर या भेद नहीं, इनमें वाक्य या भाव की पूर्ति पंक्ति की पूर्ति के साथ नहीं होती और वह एकाधिक पंक्तियों में प्रवाहित रहता है । अन्य प्रबंधकाव्यों में कहीं-कहीं अति विस्तार मिलता है और कहीं कम, यथा—

अपने को हमेशा के लिए
सुरक्षित करलूं
दूसरों के सरल आश्वासनों और फूहड़ पहचानों से ।
मैथुन
मैत्री
ममत्व
महत्वाकांक्षायें…………
क्योंकि इनके अन्त तक जाकर भी
पूर्ण नहीं हुआ ।[3]

'भग्नदिशा',[4] 'भारत की एक रात',[5] 'रत्नावली'[6] में भी आकार का

कोई रूप नहीं मिलता। उक्त सभी प्रबंधकाव्यकारों ने यति, विराम आदि के बंधन या लघु गुरु मात्राओं का नियन्त्रण कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। इन सभी प्रबंधकाव्यों में मुक्त छन्द योजना विषय के सर्वथा अनुकूल होते हुए भी सर्वथा नवीन है।

निष्कर्ष :—

प्रबंधकाव्यो में मुक्त छन्द का प्रयोग आलोच्यकाल की अपनी विशेषता है। इसके पूर्ववर्ती प्रबंधकाव्यों में वर्णिक तथा मात्रिक छन्दों के तो अनेक प्रकार के परिवर्तित विविध रूप देखने को मिलते हैं, किन्तु मुक्त छन्द को स्वच्छन्द रूप से प्रबंधकाव्यों में, प्रयोग करने का श्रेय आलोच्यकाल के उक्त प्रबंधकारों को ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबंधकाव्यों में छन्दों के प्राचीन नियमों का पालन रूढ़ रूप में नहीं किया गया। आज के कवियों ने पाठकों की युगानुकूल अभिरुचि को देखते हुए, प्रसंगानुसार एवं भावानुसार विविध छन्दों का प्रयोग किया है। कहीं सम्पूर्ण प्रबंधकाव्य में एक छन्द, कहीं सर्गांत में छन्द परिवर्तन, कहीं सर्ग के आदि, मध्य और अन्त में छन्द परिवर्तन, कहीं एक ही सर्ग में अनेकों छन्द, कहीं तुकान्त छन्द, कहीं अतुकान्त छन्द, कहीं वर्णिक, कहीं मात्रिक, कहीं मिश्र छन्द, कहीं अमित्राक्षर छंद, कहीं मुक्त छंद तथा कहीं संस्कृत से, कहीं प्राकृत और अपभ्रंश से, कहीं मराठी, बंगला और उर्दू से प्रभावित छंद प्रयुक्त किए गए हैं। स्वातन्त्र्योत्तर प्रबंधकाव्यों में यद्यपि पूर्ववर्ती प्रबंधकाव्यों में प्रयुक्त परम्परागत सभी छन्दों का प्रयोग मिलता है, तथापि अधिकांश कवियों की रुचि उनके बहिष्कार की ओर ही दिखाई देती है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रबंधकाव्यों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि छन्दों के बन्धन को छोड़कर चलने वाली कविता-धारा ने प्रबन्धकाव्यों की प्राचीन सीमा में न बंधकर उसके कूल-किनारे को ही सपाट कर दिया है। आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में अनेक नवीन छन्दों का निर्माण तथा मुक्त छन्द के प्रयोग इस बात के साक्षी हैं। यहां एक शुभ लक्षण भी दिखाई देता है कि प्रबन्धकाव्यों में छन्दों को अधिक से अधिक भावानुकूल और खड़ी बोली के उपयुक्त शब्दावलियों में ढालने की प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है।

इस अध्याय में किया गया समग्र विवेचन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी प्रबंधकाव्यों की भाषा-शैली के पूर्णरूप को सामने ले आता है। आलोच्यकाल के प्रबंधकाव्यों में भाषा शैली के विविध रूप देखने को मिलते हैं। इनमें विशेषतः परम्परागत ब्रज, अवधी व खड़ी–बोली की भाषा को ही अपनाया गया है। चित्रकाव्य व

शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है तथा उसमें भी परम्परागत उपमानों के साथ-साथ अनेक नवीन युगानुकूल वैज्ञानिक उपमान जुटाए गए हैं। इन प्रबन्धकाव्य–कारों की विशेष रुचि नवीन प्रतीक-योजना व विधान की ओर अधिक परिलक्षित होती है। प्राचीन परम्परागत शिल्प-विधान की कथानक रूढ़ियों एवं 'कवि समय' तथा प्रबन्ध के नामकरण, सर्ग रचना, मंगलाचरण, छन्द-रचना एवं प्रबन्धत्व के अन्य परम्परागत नियमों के पालन के प्रति आलोच्यकाल के प्रबन्धकाव्यकारों की विशेष रुचि परिलक्षित नहीं होती है। इन प्रबन्धकाव्यकारों ने भाषा-शैली के हर क्षेत्र में यत्किंचित् रूप से परम्पराओं का पालन करते हुए नवीन प्रयोग किए हैं, जिनका यथा स्थल पीछे विवेचन किया जा चुका है।

प्रकृति-चित्रण

७ | प्रकृति-चित्रण

प्रकृति, मानव और काव्य :—

प्रकृति की जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थों का संघात है। मानव में भौतिक और चेतना दोनों ही पदार्थ विद्यमान हैं। उसका शरीर आकाश, पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु इन पांच भूतों से निर्मित हुआ है और जिस तत्त्व से वह चेतनाशील है वह आत्मा है। अतः यह स्पष्ट है कि सृष्टि के आदि से ही मानव और प्रकृति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। प्रकृति मानव की चिर सहचरी है जो उसके जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हुई अन्तरंग अनुभूतियों को भी अपने रूप-सौन्दर्य से प्रभावित और चमत्कृत करने की अद्भुत क्षमता रखती है, क्योंकि "दृश्य प्रकृति मानव जीवन को अथ से इति तक चक्रवात की तरह घेरे रहती है। प्रकृति के विविध कोमल-कठिन, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है, इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम से मानव-जाति का भाव जगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशायें भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित है।"[1] प्रकृति के प्रति पूजा, आराधना का भाव भी कदाचित् इसी कारण मानव के मन में उत्पन्न हुआ कि वह उसके कोमल और कर्कश, कमनीय और विकराल, शान्त और प्रचण्ड रूपों से उल्लसित एवं आतंकित हुए बिना न रह सका। यही कारण है कि आरम्भ से ही मानव का प्रकृति के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह [illegible] एवं परिवर्तनशील सत्ता के रूप में ही हुआ। जीवन और साहित्य दोनों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आज तक ऐसा कोई कवि नहीं हुआ, जो प्रकृति के विभिन्न रूपों से किसी न किसी रूप में प्रभावित न हुआ हो। वस्तुतः प्रकृति कला और काव्य की मूल [illegible] कवि ने [illegible] का आधार लिया है।

1 डा० रघुवंश : प्रकृति और काव्य : दो शब्द (भूमिका —)

काव्य में प्रकृति चित्रण के प्रमुखतः दो उपयोग हैं—(१) भाव क्षेत्रीय उपयोग, (२) शैली क्षेत्रीय उपयोग।

भाव क्षेत्रीय उपयोग की दृष्टि से प्रकृति आलम्बन और उद्दीपन के रूप में कविता की रस-निष्पति की भूमिका तैयार करती है। इस भूमिका में प्रकृति के नाना रूपों को देखकर जब कवि सिहर उठता है और उसका वैसा ही यथा-तथ्य चित्रण कर देता है, तो वहां प्रकृति कवि की आलम्बन बन जाती है। प्रकृति के प्रति स्वाभाविक अनुराग की जैसी आवश्यकता आलंबन रूप में दिखाई देती है, वैसी उद्दीपन में नहीं। प्रकृति मानव के मनोभावों को प्रभावित करती है। खिलखिलाती हुई चाँदनी, लहराता हुआ मलय पवन, कलकल करती हुई जलधारा, रात्रि में पपीहे की पुकार और उपवन में काकली का स्वर, नायक-नायिकाओं के प्रिय मिलन के लिए उनके हृदयों को गुदगुदा देते हैं। प्रकृति-काव्य में सयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को उद्दीप्त करती है। संयोग में प्राकृतिक उपादान प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक अनुराग को बढ़ाते हैं और मिलन को अधिक सुखद बना देते हैं, पर वियोगावस्था में उससे भी अधिक प्रभावकारी सिद्ध होते हैं। काम की अन्तर्दशाओं को उद्दीप्त करने में वे सहायक होते हैं। पावस के उमड़ते—घुमड़ते मेघ, वसन्त के फूलते-फलते उपवन, शरद की दुग्धस्नात ज्योत्सना और प्रकृति के ऐसे ही अनेक स्वरूप वियोगी हृदय को उद्दीप्त बना देते हैं। प्रबन्धकाव्यों में आलम्बन की शोभा उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति विशेष रूप से चित्रित है।

प्रकृति चित्रण की परम्परा :—

प्रकृति सर्वदा से मानव-मन को आकर्षित करती आई है। प्रायः प्रत्येक कवि के काव्य में प्रकृति-चित्रण मिलता है। भारतीय वांङ्मय में तो प्रकृति का विशेष महत्व रहा है। वैदिक काल से लेकर आज तक के काव्यों में प्रकृति का चित्रण अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। वैदिक वांङ्मय में उस काल के ऋषि मुनियों ने विराट्-चेतन सत्ता के स्तवन प्रसंग में उषा, सविता, वरुण, इन्द्र, चन्द्र, मरुत आदि प्रकृति तत्त्वों के नैसर्गिक रूप का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया है। वेद संहिताओं के अतिरिक्त वैदिक वांङ्मय के अन्य अंग ब्राह्मण, उपनिषद् आरण्यकों में भी प्रकृति के प्रतीक, उपमान, रूपक आदि की भरमार है। रहस्य भावनाओं के अंकन में प्रकृति-प्रतीकों की जैसी सुन्दर योजना उपनिषदों में हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में दृश्य-प्रकृति चित्रों का जैसा संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा कालिदास और भवभूति के सिवा अन्य कवि के काव्य में दृष्टिगत नहीं होता।

नारंगी अमरूद बिल्ब बदरी सागौन शालादि भी,
श्रेणी बद्ध तमाल ताल कदली और शाल्मली थे खड़े ।[1]

आधुनिक हिन्दी काव्य और प्रकृति :—

स्वतंत्रता से पूर्व आधुनिक काल के प्रबन्ध काव्यों में भी बंधी-बंधाई रूढ़ियों में प्रकृति-चित्रण मिलता है, किन्तु छायावादी व रहस्यवादी प्रबन्ध काव्य—'कामायनी' (प्रसाद) तथा 'तुलसीदास' (निराला) जैसी रचनाएं अपवाद भी हैं। हां ! मुक्तककाव्य में प्रकृति का स्वतंत्र-चित्रण आधुनिक युग की विशेष उपलब्धि है। प्रकृति का स्वतंत्र-चित्रण ही स्वच्छन्दतावादी काव्य की विशेषता है। छायावादी लगभग सभी कवियों ने प्रकृति को चेतना सत्ता माना है और उसका स्वतंत्र, मुक्त चित्रण किया है। मानवीकरण के रूप में भी प्रकृति का चित्रण इस युग में विशेष रूप से हुआ है।

प्रबन्धकाव्यों की परिभाषाओं का विवेचन करते समय हम यह देख चुके हैं कि प्रबन्धकाव्य में प्रकृति चित्रण को हमारे आचार्यों ने अनिवार्य माना है। सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, प्रातः संध्या, नगर, वन, पर्वत आदि उपादानों तथा विभिन्न ऋतुओं का प्रसंगानुकूल वर्णन प्रबन्धकाव्यों में होना ही चाहिये, ऐसा निर्देश दिया गया है। लक्षण-निर्धारण करने वाले आचार्यों के सम्मुख जो प्रबन्धकाव्य थे, वे प्रकृति के ऐसे वर्णनों से परिपूर्ण थे, इसीलिये प्रकृति के उक्त उपादानों के वर्णन की आवश्यकता आगे के प्रबन्ध काव्यकारों को भी बतलायी गयी। परवर्ती प्रबन्धकाव्यों में 'कवि-समय' के रूप में इस प्रकार का वर्णन एक परम्परा बन गया। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति का परम्परागत और नवीन दोनों ही रूप देखने को मिलते हैं। इन प्रबन्धकाव्यकारों ने प्रकृति को चेतन, सजीव और संवेदनात्मक रूप में देखा है और उसके स्थूल सूक्ष्म-सभी कार्यों का मनोमुग्धकारी चित्रण किया है।

जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में ही बताया जा चुका है कि काव्य में प्रकृति भावक्षेत्र और शैलीक्षेत्र दोनों में चित्रित हुई है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों मे प्रकृति का भाव-क्षेत्रीय उपयोग आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही रूपों में हुआ है। आलंबन की दृष्टि से प्रकृति का इस प्रकार का चित्रण नवीनता का द्योतक है।

१: प्रियप्रवास : सर्ग ६।२५, पृ० १०० ।

आलम्बन-रूप :—

इस प्रणाली में प्रकृति का यथा-तथ्य चित्रण ही कवि का लक्ष्य होता है। इसमें कवि की मौलिकता का पता चलता है। प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने के लिए दो प्रणालियां प्रचलित हैं-बिम्ब ग्रहण की प्रणाली और नाम परिगणन की प्रणाली। इनके विषय में आचार्य शुक्ल का कथन है-'इसके द्वारा प्रकृति का एक ऐसा संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें कवि कल्पना का पूरा-पूरा प्रयोग करता हुआ अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण प्रकृति के रम्य एवं भयानक रूप की झांकी दिखाता है, किन्तु दूसरी प्रणाली के अनुसार प्रकृति के वन, पर्वत नदी, निर्झर आदि के केवल नाम ही गिना दिए जाते हैं और कोई सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया जाता है।'[1] यद्यपि अधिकांश स्वातन्त्र्यो-त्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में परम्परानुसार प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में नहीं हुआ है, तथापि 'एकलव्य', 'उर्वशी', 'मेघावी', 'रश्मि', 'दैत्यवन', 'वर्द्धमान', 'अंगराज', 'दमयन्ती', 'रत्नावली', 'लोकायतन', 'आत्मजयी', 'मीरां' आदि रचनाओं में कतिपय ऐसे स्थल आये हैं जहां प्रकृति को एक स्वतन्त्र सत्ता मानकर उसका चित्रण उतारा गया है और जिनमें अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण पर अधिक ध्यान दिया गया है। बिम्ब-ग्रहण की दृष्टि से एक रात्रि का चित्र देखिए :—

प्रत्यक्ष रूप साक्षात आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है। कोमल और भयंकर प्रकृति के दोनों रूपों में ही ऐसे चित्रण मिलते हैं। 'तप्तगृह' में कारावास में बिम्बसार की नापित द्वारा यातना की घटना से पूर्व में कवि ने उसके भयंकर रूप का चित्र इस प्रकार अंकित किया है :—

'उदित हुआ अम्बर में
भासमान बाल-रवि
मानों कल्पान्त के
ध्वंसक अनल का
लाल-लाल गोला हो।
व्योम प्रान्त भर गया
प्रखर ज्वाल-माला से
और लगा पिघल-पिघल
चक्रवाल जलने
भट्ठी की आंच से
शुष्क-काष्ट-खण्ड ज्यों
धांय धांय जलता'[1]

'रत्नावली' में 'पूनम के चांद का' वर्णन कवि ने बड़ी शतर्कता से किया है :—

देखो !
वह क्षितिज के उस पार
पूनम का लाल चांद–
निकला है कुसुमामी रंग में नहाया-सा,
ज्ञात नहीं पीर बांटता है
या सागर भर नीर बांटता है।
सागर ने बाँहें पसार दी
हंसते-से चन्दा ने डुबकी-सी मारदी।[2]

आलम्बन रूप में चन्द्र, तारक, रजनी एवं गन्धमादन पर्वत का वर्णन 'उर्वशी' में अति सुन्दर हुआ है। काव्य का प्रारम्भ ही चन्द्र और तारों की मनोरम छटा से हुआ है। आकाश में द्वादशी का चन्द्रमा अपनी छटा छिटका

१. तप्तगृह, पृ० ७७।
२. रत्नावली, पृ० ३३–३४।

आ रहा सूर्य फेंकते बाण अपने लोहित,
बिंध गया ज्योति से, वह देखो, अरुणाभ शिखर।
हिम-स्नात, सिक्त बल्लरी-पुजारिन को देखो,
पति को फूलों का नया हार पहनाती है,
कुंजों में जनमा है कल कोई वृक्ष कहीं,
वन की प्रसन्न विहंगावलि सोहर गाती है।'[1]

यहां रश्मियों में शरों का तथा वल्लरियों में पुजारिनों का आरोप अत्यन्त चित्ताकर्षक है। प्रभात होने से वल्लरियों का पुजारिन कहना और भी उपयुक्त प्रतीत होता है। 'आत्मजयी' में सूर्योदय का विम्व अति भव्य बन पड़ा है—

'सूर्योदय।
एक अंजलि फूल!
जलसे जलधि तक अभिराम'[2]

आलोच्य प्रवन्धकाव्यों में सबसे अधिक आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण 'मेधावी' में हुआ है। इस प्रवन्धकाव्य में अनेक स्थलों पर प्रकृति का स्वतंत्र वर्णन हुआ है। ये स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन कहीं कहीं विशेष गतिमय और विशद हैं—

'हरियाली स्पंदित थी मरकत
सी जगमग डोल रही प्रशांत
अपने गर्जन में महा सिंधु
मर्मर का घोष करे नितांत
उस सागर में वह नदी नील
करती थी महा विसर्जन सा
'डेल्टा' की उपजाऊ पृथ्वी
युग युग धारा में क्षण भर था
बादल फटते जाते थे नभ
में करके स्वर्णिम मृदुल हास
वह झूम-झूम चलता समीर
चलचित्र एक रंगीन भास

व्याकुल सी सागर की मरोर
उन्मन था शैलों का खुमार
पागल स्मृतियों की धारा थी
या स्वप्नों का बेसुध दुलार ॥''[1]

प्रस्तुत के इस दृश्य-चित्रण में कवि की सूक्ष्म दर्शिता के आधार पर प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम-भाव की व्यंजना तथा प्रकृति का शब्द-चित्रण अनुपम बन पड़ा है। उक्त कतिपय रचनाओं के अतिरिक्त 'मीरां' प्रबन्धकाव्य में भी कुछ स्थलों पर आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण हुआ है।

पंचम सर्ग में पितृगृह से मीरां की विदाई के प्रसंग में मार्ग में आने वाले विविध प्राकृतिक दृश्यों[2] का तथा वर्षाकालीन प्राकृतिक शोभा का वर्णन[3] आलम्बन रूप में किया गया है। उद्यान की शोभा का एक मनो-मुग्धकारी यथार्थ चित्र देखिए :—

आ रहा सूर्य फेंकते वाण अपने लोहित,
बिंध गया ज्योति से, वह देखो, अरुणाभ शिखर।
हिम–स्नात, सिक्त वल्लरी–पुजारिन को देखो,
पति को फूलों का नया हार पहनाती है,
कुंजों में जनमा है कल कोई वृक्ष कहीं,
वन की प्रसन्न विहंगावलि सोहर गाती है।'[1]

यहां रश्मियों में शरों का तथा वल्लरियों में पुजारिनों का आरोप अत्यन्त चित्ताकर्षक है। प्रभात होने से वल्लरियों का पुजारिन कहना और भी उपयुक्त प्रतीत होता है। 'आत्मजयी' में सूर्योदय का बिम्ब अति भव्य बन पड़ा है—

'सूर्योदय।
एक अंजलि फूल!
जलसे जलधि तक अभिराम'[2]

आलोच्य प्रवन्धकाव्यों में सबसे अधिक आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण 'मेधावी' में हुआ है। इस प्रबन्धकाव्य में अनेक स्थलों पर प्रकृति का स्वतंत्र वर्णन हुआ है। ये स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन कहीं कहीं विशेष गतिमय और विशद हैं—

'हरियाली स्पंदित थी मरकत
सी जगमग डोल रही प्रशांत
अपने गर्जन में महा सिंधु
मर्मर का घोष करे नितांत
उस सागर में वह नदी नील
करती थी महा विसर्जन सा
'डेल्टा' की उपजाऊ पृथ्वी
युग युग धारा में क्षण भर था
बादल फटते जाते थे नभ
में करके स्वर्णिम मृदुल हास
वह झूम-झूम चलता समीर
चलचित्र एक रंगीन भास

१. उर्वशी, अंक ३, पृ० ६६।
२. आत्मजयी, शान्ति-बोध, पृ० १०४।

व्याकुल भी सागर की मरोर
उन्मन था शैलों का खुमार
पागल स्मृतियों की धारा थी
या स्वप्नों का बेसुध दुलार ॥'[१]

प्रकृति के इस दृश्य-चित्रण में कवि की सूक्ष्म दर्शिता के आधार पर प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम-भाव की व्यंजना तथा प्रकृति का शब्द-चित्रण अनुपम बन पड़ा है। उक्त कतिपय रचनाओं के अतिरिक्त 'मीरां' प्रबन्धकाव्य में भी कुछ स्थलों पर आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण हुआ है।

पंचम सर्ग में पितृगृह से मीरां की विदाई के प्रसंग में मार्ग में आने वाले विविध प्राकृतिक दृश्यों[२] का तथा वर्षाकालीन प्राकृतिक शोभा का वर्णन[३] आलम्बन रूप में किया गया है। उद्यान की शोभा का एक मनोमुग्धकारी यथार्थ चित्र देखिए :—

पवन के संकेत पर थे नाचते मृदुपात
अंशुओं के साथ मुस्काते नवल जलजात
हरे भरे प्रसन्न तरु की छांह का सुख और
झुरमुटों में कर रहे विश्राम सुन्दर मोर
सजल दुर्वादल सघन विश्रान्ति का आगार
दिव्य सौरभ हर रही थी वाटिका का भार
फुनगियों पर फल लदे से झांकते थे दूर
रचित निर्झर शुद्ध जीवन बांटता भरपूर
घोंसलों में गुन गुनाते विहग-शिशु सुकुमार
मुक्त विस्तृत व्योम, सुरभित मंद-मंद बहार
दूर कुछ ह दीखता पल्लव आकृत्रिम शान्त,
थी घनी छाया वटों की दूर-दूर सुखान्त।''[४]

जिन स्वातन्त्र्योतर प्रबन्धकाव्यों में आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण हुआ है वह अधिकतर बिम्ब-ग्रहण प्रणाली पर ही आश्रित है; किन्तु ऐसे स्थल भी प्राय: देखने को मिलते हैं जहां कवियों ने प्रकृति का संश्लिष्ट

१. मेधावी, सर्ग ६, पृ० ६४।
२. मीरां, सर्ग ५, पृ० ८३-८५।
३. वही, पृ० ८६-८७।
४. मीरां, सर्ग ५, पृ० ८२।

चित्र प्रस्तुत न कर केवल उपस्थित वस्तुओं एवं पदार्थों का नामोल्लेख मात्र किया है। परिगणन–प्रणाली के ये प्रयोग 'मेधावी', 'मीरां' तथा 'एकलव्य' में विशेष देखने को मिलते हैं। 'एकलव्य' के साधना सर्ग में कवि ने वन भूमि का संश्लिष्ट चित्र न प्रस्तुत कर केवल वहां उपस्थित प्रकृति के उपादानों का नामोल्लेख मात्र कर दिया है :—

'अम्बर की नीलिमा में श्वेत रंग आ गया,
तारे कुछ फीके पड़े, वायु वही धीरे–से।
जैसे स्वप्न सरक रहे हैं मन्द गति में,
और जीर्ण नींद–पत्र गिरा दृग–वृन्त–से।

\+ + + +
\+ + + ×

झाड़ियां कटीली जैसे चक्रव्यूह-योजना,
की हो वन-भूमि ने, न यहां कोई आ सके।
वन-भूमि ऐसी है कि अयन अगम हैं,
गह्वर है जिनमें कि मृत्यु-गहराई है।

० ० ० ०
० ० ० ०

कुछ दूर पत्थरों से ऐसी पटी भूमि है,
जैसे वह वन का कठोर वक्ष स्थल है।
घास उगी ऐसी जैसे वह रोम-राशि है,
कुछ बेलें फैली जैसे उभरी शिराएं हैं।'[1]

'लोकायतन' में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण–अनेक स्थलों पर मिलता है। गंगा के किनारे की सन्ध्या के समय का एक वर्णन देखिये :—

'गहराती जाती हिम संध्या
तरुवन अब नीरव तम सागर,
छोटे शशि सा शक्र दीखता
भाव मूढ़-वन-भू तन दुस्तर।

चित्रित करती धूपछांह भर।
जल से चोंच सटाकर कुररी

उड़ती खोले पालों-से पर
दूर कहीं टेरती टिटिहरी
क्लिष्ट नाम अपना रट रट कर।
संध्या वन्दन को मायोगुरु
डुबकी लेले, कह गंगे हर

० ०

पार्श्व चन्द्र झांकता पार से
सित कपोत सा बैठा तरु पर।"[1]

इसी प्रकार 'विक्रमादित्य' में सौराष्ट्र—वर्णन में प्रकृति—चित्रण अपने विशुद्ध रूप में अवतरित हुआ है।[2] 'रावण महाकाव्य' के प्रथम सर्ग में विन्ध्याटवी के वर्णन में कवि की रागात्मिका वृत्ति खूब रमी है। वह कहता है—पूर्वी और पश्चिमी घाटों के बीच फैली यह अटवी मध्यप्रदेश की विभूषण रूपा है, तथा पृथ्वी की मेखला भूत है। यहां मदमत्त कुरर पक्षी मिर्च के पत्तों का दर्शन करते रहते हैं, करि—कलभों की सूंडों से मसले गये तमाल के पत्तों की सुगन्ध चारों ओर फैली रहती है तथा मदिरा के मद से रक्त वर्ण हुए बालाओं के कपोलों के समान अरुण कान्ति वाले पत्तों से इसकी भूमि आच्छादित रहती है।[3] यह वर्णन आलम्बन रूप की परिगणना-प्रणाली के अन्तर्गत

---

१. देखिये—लोकायतन, पृ० ५६—६०।

२. देखिये—विक्रमादित्य, सर्ग १८।

३. वन्दनीय भारत के मध्य कटि भाग मांहि,
राजै विन्ध्य भूधर की अटवी सुहाई है।
पूरबी औ पश्चिमी सुघाटनि लौं फैलि फबि,
सुषमा न जा की शारदा पै जाति गाई है।
मानो मध्य-देस को विभूषन यह है चारु
कैंधों मंजु मेखला यहां की पहराई है। —रावण, १।२।

तथा मद माते कुरिल कुतरि मिरचानी डारें
त्यों ही करि-कलभ तमाल मसल्यों करें।
सुण्डा दण्ड घालनि सों किसले खालि डारें,
जा सों सुखदेनी तीखी गंधि नगर्यो करें।
छाके मद आंसो लाला-वार-वर वालनि कै,
अरुन कपोलनि की समता करयो करे।
ऐसे पत्र जालनि सों छादित जहां की भूमि,
जन-मन-मानस में आनन्द भरयो करें। —रावण, १।३।

चित्र प्रस्तुत न कर केवल उपस्थित वस्तुओं एवं पदार्थों का नामोल्लेख मात्र किया है। परिगणन-प्रणाली के ये प्रयोग 'मेधावी', 'मीरां' तथा 'एकलव्य' में विशेष देखने को मिलते हैं। 'एकलव्य' के साधना सर्ग में कवि ने वन भूमि का संश्लिष्ट चित्र न प्रस्तुत कर केवल वहां उपस्थित प्रकृति के उपादानों का नामोल्लेख मात्र कर दिया है :—

'अम्बर की नीलिमा में श्वेत रंग आ गया,
तारे कुछ फीके पड़े, वायु बही धीरे-से।
जैसे स्वप्न सरक रहे हैं मन्द गति में,
और जीर्ण नींद-पत्र गिरा दृग-वृन्त-से।

\+ \+ \+ \+
\+ \+ \+ ×

झाड़ियां कटीली जैसे चक्रव्यूह-योजना,
की हो वन-भूमि ने, न यहां कोई आ सके।
वन-भूमि ऐसी है कि अयन अगम हैं,
गह्वर है जिनमें कि मृत्यु-गहराई है।

○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○

कुछ दूर पत्थरों से ऐसी पटी भूमि है,
जैसे वह वन का कठोर वज्र स्थल है।
घास उगी ऐसी जैसे वह रोम-राशि है,
कुछ बेलें फैली जैसे उभरी शिराएं हैं।'[1]

'लोकायतन' में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण-अनेक स्थलों पर मिलता है। गंगा के किनारे की सन्ध्या के समय का एक वर्णन देखिये :—

'गहराती जाती हिम संध्या
तरुवन अब नीरव तम सागर,
छोटे शशि सा शक्र दीखता
भाव मूढ़-वन-भू तन दुस्तर।
धेनु-त्वचा-से लहरे जल पर
ज्योति रेख कंप प्रतिपल थर थर
गंगा की निःस्वर पद गति को

चित्रित करती बूंदछांह भर।
जल से चोंच सटाकर कुररी

उड़ती खोले पाँखों से पर
दूर कहीं टेरती टिटिहरी
विलख नाम अपना रट रट कर।
संध्या वन्दन को भावोन्मुख
डुबकी लेते, कह गंगे हर

o o

पार्श्व चन्द्र झांकता पार से
सित कपोत सा बैठा तरु पर।[1]

इसी प्रकार 'विक्रमादित्य' में सौराष्ट्र—वर्णन में प्रकृति—चित्रण अपने विशुद्ध रूप में अवतरित हुआ है।[2] 'रावण महाकाव्य' के प्रथम सर्ग में विन्ध्याटवी के वर्णन में कवि की रागात्मिका वृत्ति खूब रमी है। वह कहता है—पूर्वी और पश्चिमी घाटों के बीच फैली यह अटवी मध्यप्रदेश की विभूषण रूपा है, तथा पृथ्वी की मेखला रूप है। यहाँ मदमत्त कुटिल पक्षी मिर्च के पत्तों का दर्शन करते रहते हैं, करि—कलभों की सूँड़ों से मसले गये तमाल के पत्तों की सुगन्ध चारों ओर फैली रहती है तथा मदिरा के मद से रक्त वर्ण हुए बालाओं के कपोलों के समान अरुण कान्ति वाले पत्तों से इसकी भूमि आच्छादित रहती है।[3] यह वर्णन आलम्बन रूप की परिगणना-प्रणाली के अन्तर्गत

---

1. देखिये—लोकायतन, पृ० ५६—६०।
2. देखिये—विक्रमादित्य, सर्ग १८।
3. वन्दनीय भारत के मध्य कटि भाग मांहि,
   राजै विन्ध्य भूधर की अटवी सुहाई है।
   पूरबी औ पच्छिमी सुघाटनि लौं फैलि रचि,
   सुषमा न जा की शारदा पै जानि जाई है।
   मानो मध्य-देस को विभूषन यह है चारु
   कैधौं मंजु मेखला मही को पहराई है।

   तथा मद माते कुटिल कुनारि मिरचानी डारें
   त्यों ही करि-कलभ तमाल मसल्यौ करें।
   सुरा दरद पातनि सौं फिसले स्यालि डारें,
   ता सौं सुगंदनी नीकी गंधि लगन्यो करै।
   छाके मद प्यांसी नाना-बार-बर बालनि के,
   लाल कपोलनि की समता करयो करै।
   ऐसे पत्र जालनि सौं छादित जहाँ की भूमि,
   मन-मन-भावन में आनन्द भरयो करै।

आता है। इसी प्रकार 'अंगराज' में गंगा नदी का वर्णन,[१] 'वर्द्धमान' में ऋजु बालिका नदी का वर्णन,[२] भी आलम्बन रूप में हुआ है। स्वतंत्र रूप से प्रात:काल,[३] सन्ध्याकाल[४] तथा रात्रि[५] के स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण भी आलोच्य काल के प्रबन्धकाव्यों में बहुत मिलते हैं। उक्त काव्यों में से 'आत्मजयी', 'रत्नावली' आदि के प्रकृति चित्रण से यह स्पष्ट है कि उनमें प्रकृति के विराट रूप के साथ-साथ उसके लघु रूप का भी चित्रण हुआ है।

जहां कवि प्रकृति के रूप, रंग, गन्ध एवं स्पर्श से उसकी गति-विधि का निरीक्षण करके सिहर उठता है वहीं प्रकृति का आलम्बन रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत होता है।[६] प्रबन्धकाव्यों में कथानक के सम्बन्ध सूत्रों पर कवि को अधिक ध्यान रखना पड़ता है, अतः यही कारण है कि कवि को हर स्थल पर प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण करने का अवकाश कम मिल पाता है। सम्भव है कि इसी कारण स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती हिन्दी-प्रबन्धकाव्यों में तो आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन नगण्य-सा है ही, किन्तु आलोच्य काल के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में भी प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण आलम्बन रूप में न होकर उद्दीपन रूप में ही हुआ है।

उद्दीपन रूप :—

प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग एक अत्यन्त व्यापक प्रयोग है। इसमें कवि का प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र अनुराग व्यक्त न होकर मानव सापेक्ष रूप ही प्रकट होता है। प्रकृति मानव के सुख में सुखी व दुःख में दुःखी दिखाई देती है। प्रकृति कविता की रस भूमि तैयार करती है। शृंगार-वर्णन, रूप-वर्णन, नखसिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि के लिए प्रकृति का यह रूप प्रबन्धकाव्यों में अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुये हैं। काव्य में बारहमासा एवं षड्ऋतु-वर्णन के प्रसंगों में प्रकृति व्यापक रूप से उद्दीपन का कार्य करती है।

---

१. देखिये—अंगराज, २५।१६-२२।
२. देखिये—वर्द्धमान, १०।१-२३।
३. दैत्यवंश, ११।१-८, रावण, २।१-६, दमयन्ती, पृ० ५८, वर्द्धमान, ४।१-४०, विक्रमादित्य, १४५-४६।
४. वर्द्धमान, १३।१-५ तथा ११।६-१३, विक्रमादित्य, १४५-४६।
५. अंगराज १४।१-१८, वर्द्धमान ३।१-१२ तथा ५।१६-२५।
६. देखिये—उर्वशी, अंक १, पृ० ८-१०।

प्रकृति के नाना रूप जहां संयोगावस्था में नायक-नायिका के पारस्परिक अनुराग को तीव्र कर उनके मिलन को अधिक आनन्दमय बनाते हैं, वहां वियोगावस्था में प्रकृति के वही रूप उन्हें उद्दीप्त कर अत्यन्त व्याकुल एवं दुःखी बनाते हैं। उद्दीपन रूप में प्रकृति जड़ भी हो सकती है और चेतन भी। आलोच्य काल के प्रायः सभी प्रबन्धकाव्यों में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन हुआ है। 'मीरां',[१] 'ऊर्मिला',[२] 'वर्द्धमान',[३] 'उर्वशी'[४] 'एकलव्य',[५] 'अनंग',[६] 'पार्वती',[७] 'तारकवध',[८] 'अंगराज',[९] 'रावण',[१०] 'दैत्यवंश',[११] 'रश्मिरथी'[१२] 'विक्रमादित्य',[१३] 'झांसी की

---

१. "उषा की अंगड़ाई से
अंबर-बाला मुस्काती
अलि-छेड़-छाड़ से पंकज
की कलिका मौन लजाती
जब थिरक-थिरक प्रिय-स्वर में
खग-बाला विहग जगाती
स्मृतियां विद्युत-रेखा सी
तब उर-पट पर खिंच जाती।"
—मीरां, सर्ग १०, पृ० १६०।

२. घन आए, छाई घटा, हहरि गिरी जल धार,
पहरि-पहरि गरजी व्यथा, हिय बिच बारंबार।—ऊर्मिला, पृ० ४०४।

३. वर्द्धमान, सर्ग ४, पृ० १२४–१२५।

४. उर्वशी, अंक ३, पृ० ६२–६३।

५. एकलव्य, पृ० १५६,५७,५८,५९।

६. अनंग, पृ० १०–११।

७. पार्वती, सर्ग ५, पृ० ११७–१२३ तथा सर्ग २, पृ० ५३–६०।

८. तारकवध, सर्ग १६, पृ० ४३५–३६।

९. अंगराज, सर्ग १४।२–६, पृ० १४३।

१०. रावण, सर्ग २।१।

११. दैत्यवंश, सर्ग ४।२।

१२. रश्मिरथी, सर्ग ५, पृ० ६३।

१३. विक्रमादित्य, भाग २, पृ० ८।

रानी',[१] 'देवार्चन',[२] 'सेनापति कर्ण,[३] 'युगस्रष्टा: प्रेमचन्द',[४] 'जननायक',[५] 'जगदालोक',[६] 'मानवेन्द्र',[७] 'पाषाणी',[८] 'कनुप्रिया',[९] 'संशय की एक रात',[१०] 'दमयन्ती',[११] 'ऋतंवरा,[१२] आदि प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति का उद्दीपन रूप विशेष रूप से चित्रित हुआ है। उक्त सभी स्वातंत्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में प्रकृत्ति का उद्दीपन रूप में चित्रण परम्परानुसार हुआ है। यद्यपि विस्तार भय से सभी ग्रन्थों से उदाहरण देना सम्भव नहीं है, फिर भी कुछ कृतियों के कुछ रोचक स्थल द्रष्टव्य हैं। 'उर्वशी' प्रबन्धकाव्य में पुरूखा पार्थिव शरीर के आलिंगन-परिरम्भण का मोह त्याग कर उर्ध्व-लोक में उठना चाहते हैं; किन्तु काम-पिपासु उर्वशी भला यह कैसे देख सकती थी ? अतः वह पुरूखा का ध्यान भंग कर पुनः आलिंगन-पाश में बद्ध करने के लिए प्रकृति का अत्यन्त उद्दीपन रूप में वर्णन करती है :—

"ना, यों नहीं, अरे देखो तो उधर, बड़ा कौतुक है,
नगपति के उतुंग, समुज्ज्वल, हिम-भूषित शृङ्गों पर
कौन नयी उज्ज्वलता की तुली-सी फेर रहा है ?
कुछ वृक्षों के हरित मौलि पर, कुछ पत्तों से छनकर
छांह देख नीचे मृगांक की किरणें लेट रही हैं
ओढ़े धूप-छांह की जाली अपनी ही निर्मित की।
लगता है, निष्कंप, मौन सारे वन-वृक्ष खड़े हों
पीताम्बर-उष्णीष बांध कर छायातप-कुट्टिम पर।
दमक रही कर्पूर-धूलि दिग्वधुओं के आनन पर,

१. झांसी की रानी, ७वीं हुंकार, पृ० ११३।
२. देवार्चन, सर्ग ८, पृ० १५०–१७१ तथा सर्ग ५, पृ० ११६–१२०।
३. सेनापति कर्ण, सृष्टि धर्म, पृ० ६८।
४. युगस्रष्टा:प्रेमचन्द, सर्ग ३, पृ० ३६ तथा सर्ग ६, पृ० ८५।
५. जननायक, सर्ग ३, पृ० ६४।
६. जगदालोक, सर्ग ६, पृ० ६७।
७. मानवेन्द्र, पृ० ४२६–२७।
८. पाषाणी, पृ० ५४–५५।
९. कनुप्रिया, पृ० ६९-७०।
१०. संशय की एक रात, पृ० ७।
११. दमयन्ती, पृ० ६–७।
१२. ऋतंवरा, पृ० १६२।

रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है।
यह अविच्छिन्न दिन में तो कुछ इतनी बड़ी नहीं थी ?
अब क्या हुआ कि यह अनन्त सागर समान लगती है ?
मग्न करती दुग्धा कौमुदी ने भू और गगन को ?
उठी हुई-सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।"[1]

यहाँ किरणों के धरती पर लेट जाने, रजनी रूपी नायिका के मुख पर चन्दन के लेप करने, धरती का कुछ ऊपर की ओर उठने तथा आकाश पर धरती के ऊपर झुकने आदि प्रकृति के उद्दीपन चित्रों द्वारा उर्वशी ने पुरूरवा के मानस में पुनः काम-व्यापारों को जाग्रत करने का सफल प्रयास किया है। इसीलिए तो पुनः पुरूरवा उल्लसित होकर कह उठते हैं—

"हाँ, समस्त आकाश दीखता भरा शान्त सुषमा से,
चमक रहा चन्द्रमा शुद्ध, शीतल, निष्पाप हृदय-सा।
विस्मृतियाँ निस्तल समाधि से बाहर निकल रही हैं,
लगता है, चन्द्रिका आज सपने में घूम रही है।
और गगन पर जो असंख्य आग्नेय जीव बैठे हैं,
लगते हैं धुंधले अरण्य में हीरों के कूपों-से।
चन्द्रभूति-निर्मित हिमकण ये चमक रहे शाद्वल में?
या नभ के रंध्रों में सित पारावत बैठ गये हैं ?
कल्पद्रुम के कुसुम, या कि ये परियों की आंखें हैं?"[2]

'ऋतंभरा' के विषाद सर्ग में वियोगी मनु प्रकृति को देख उद्दीप्त हो उठते हैं—

"झंझायें आक्रोश उगलतीं
अगम सिन्धु उफनाता
नभ दिगन्त का तूर्य फूंक कर
भैरव-राग सुनाता
चीर धरा का वक्ष फूटतीं
विध्वंसक ज्वालायें

---

१. उर्वशी, अंक ३, पृ० ६१-६२।
२ उर्वशी, अंक ३, पृ० ६२।

रानी',[1] 'देवार्चन',[2] 'सेनापति कर्ण,[3] 'युगस्रष्टा: प्रेमचन्द',[4] 'जननायक',[5] 'जगदालोक',[6] 'मानवेन्द्र',[7] 'पाषाणी',[8] 'कनुप्रिया',[9] 'संशय की एक रात',[10] 'दमयन्ती',[11] 'ऋतंवरा,[12] आदि प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति का उद्दीपन रूप विशेष रूप से चित्रित हुआ है। उक्त सभी स्वातंत्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण परम्परानुसार हुआ है। यद्यपि विस्तार भय से सभी ग्रन्थों से उदाहरण देना सम्भव नहीं है, फिर भी कुछ कृतियों के कुछ रोचक स्थल द्रष्टव्य हैं। 'उर्वशी' प्रबन्धकाव्य में पुरूरवा पार्थिव शरीर के आलिंगन-परिरम्भण का मोह त्याग कर उर्ध्व-लोक में उठना चाहते हैं; किन्तु काम-पिपासु उर्वशी भला यह कैसे देख सकती थी ? अतः वह पुरूरवा का ध्यान भंग कर पुनः आलिंगन-पाश में बद्ध करने के लिए प्रकृति का अत्यन्त उद्दीपन रूप में वर्णन करती है :—

> "ना, यों नहीं, अरे देखो तो उधर, बड़ा कौतुक है,
> नगपति के उत्तुंग, समुज्ज्वल, हिम-भूषित शृङ्गों पर
> कौन नयी उज्ज्वलता की तुली-सी फेर रहा है ?
> कुछ वृक्षों के हरित मौलि पर, कुछ पत्तों से छनकर
> छांह देख नीचे मृगांक की किरणें लेट रही हैं
> ओढ़े धूप-छांह की जाली अपनी ही निर्मित की।
> लगता है, निष्कंप, मौन सारे वन-वृक्ष खड़े हों
> पीताम्बर-उष्णीष बांध कर छायातप-कुट्टिम पर।
> दमक रही कर्पूर-धूलि दिग्वधुओं के आनन पर,

---

१. झांसी की रानी, ७वीं हुंकार, पृ० ११३।
२. देवार्चन, सर्ग ८, पृ० १५०-१७१ तथा सर्ग ५, पृ० ११६-१२०।
३. सेनापति कर्ण, सृष्टि धर्म, पृ० ६८।
४. युगस्रष्टा:प्रेमचन्द, सर्ग ३, पृ० ३६ तथा सर्ग ६, पृ० ८५।
५. जननायक, सर्ग ३, पृ० ६४।
६. जगदालोक, सर्ग ६, पृ० ६७।
७. मानवेन्द्र, पृ० ४२६-२७।
८. पाषाणी, पृ० ५४-५५।
९. कनुप्रिया, पृ० ६६-७०।
१०. संशय की एक रात, पृ० ७।
११. दमयन्ती, पृ० ६-७।
१२. ऋतंवरा, पृ० १६२।

रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है।
यह अधित्यका दिन में तो कुछ इतनी बड़ी नहीं थी ?
अब क्या हुआ कि यह अनन्त सागर समान लगती है ?
कम करदी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की ?
उठी हुई-सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।"[१]

यहां किरणों के धरती पर लेट जाने, रजनी रूपी नायिका के मुख पर चन्दन के लेप करने, धरती का कुछ ऊपर की ओर उठने तथा आकाश पर धरती के ऊपर झुकने आदि प्रकृति के उद्दीपन चित्रों द्वारा उर्वशी ने पुरूरवा के मानस में पुनः काम-व्यापारों को जाग्रत करने का सफल प्रयास किया है। इसीलिए तो पुनः पुरूरवा उल्लसित होकर कह उठते हैं—

"हां, समस्त आकाश दीखता भरा शान्त सुषमा से,
चमक रहा चन्द्रमा शुद्ध, शीतल, निष्पाप हृदय-सा।
विस्मृतियाँ निस्तल समाधि से बाहर निकल रही हैं,
लगता है, चन्द्रिका आज सपने में घूम रही है।
और गगन पर जो असंख्य आग्नेय जीव बैठे हैं,
लगते हैं धुंधले अरण्य में हीरों के कूपों-से।
चन्द्रभूति-निर्मित हिमकण ये चमक रहे शाद्वल में?
या नभ के रंध्रों में सित पारावत बैठ गये हैं ?
कल्पद्रुम के कुसुम, या कि ये परियों की आंखें हैं?"[२]

'ऋतंवरा' के विषाद सर्ग में वियोगी मनु प्रकृति को देख उद्दीप्त हो उठते हैं—

"झंझायें आक्रोश उगलतीं
अगम सिन्धु उफनाता
नभ दिगन्त का तूर्य फूंक कर
भैरव-राग सुनाता
चीर धरा का वक्ष फूटतीं
विध्वंसक ज्वालायें

---

१. उर्वशी, अंक ३, पृ० ६१-६२।
२ उर्वशी, अंक ३, पृ० ६२।

जिनके स्पर्श–मात्र से जलने
लगती गिरि–मालायें ।"[१]

प्रकृति मानवीय मनःस्थिति के अनुकूल कभी दुःख में दुःखी और कभी प्रसन्नता में आह्लादित दीख पड़ती है। मीरां के वैधव्य जन्य दुःख की पीड़ा से प्रकृति भी संतप्त है, यथा—

"पतझड़-विटपी–पीडा से
दुखिया बदली रो देती
तापित भू भी आंसू से
अपना अंचल भर लेती
अविरल चीत्कार मचाता
दुःख से बेसुध हो दादुर
नत मस्तक बैठे रहते
हो मौन विहग शोकातुर
सिसकी भर-भर विटपी से
लड़खड़ा पवन टकराता
चातक दारुण पीड़ा से
अविरल ही रुदन मचाता ।"[२]

यहां भू-प्रतप्त है, पवन सिसकी भर रहा है, दादुर और चातक भी शोक मग्न है। प्रकृति का यह कारुणिक दृश्य मीरां के संतप्त हृदय को और भी उद्दीप्त कर रहा है। 'वर्द्धमान' में वर्षा ऋतु आकर नृपाल और रानी के काम-भाव को उद्दीप्त करती है—

"अजस्र धारा गिरती पयोद से
कलापियों के गण नृत्य लीन थे,
अभी करेंगे सधवा-समूह के
यतान्त या कान्त समाप्ति दुःख को
+ + + +
+ + + +
पयोद गर्जे, जलधार भी गिरे,
तडिल्लता अम्बर में अशान्त हो;

१. ऋतंबरा, सर्ग १२, पृ० १६२ ।
२. मीरां, पृ० १७६ ।

महीप को क्या भय था, निकेत में
प्रिया महा औषधि सी विराजती।"[1]

'पार्वती' के कैलाश प्रमाण के समय की प्रकृति के उद्दीपन रूप को देखिये—

"तरु झूम रहे थे मन्थर मन्द पवन में,
लहराकर लिपट रही लतिकायें तन में,
पल्लव-दलकर-मुद्राओं से नर्तन को
कर रहे भंगिमायें व्यंजित कानन की।
नभ के कुसुमों से सुमन विकच कानन में
खिल-खिलकर फैला रहे सुगन्ध पवन में
मानस सागर में नव हंसों के जोड़े,
तिरते, लहरों पर अधर अंग को छोड़े।
उस स्निग्ध प्रकृति के स्वच्छ शिखर के ऊपर
हो रहे लास में लीन उमा औ शंकर।"[2]

'एकलव्य' के ममता सर्ग में इस प्रकार के अधिकांश प्रकृति-चित्रण भरे पड़े हैं। एकलव्य के वन में रहने से मां को ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुयें अच्छा नहीं लगती हैं; यथा—

ग्रीष्म :— कितना भीषण है ग्रीष्मकाल
जैसे मेरे सुत का वियोग
छाया है जग में बन कराल ॥
\+ \+ \+
ये लू के झोंके चले, उठाए
फण जैसे डस रहे व्याल ॥

वर्षा :— कर रही वर्षा क्यों उत्पात ?
टूट-टूट कर गिरे,
लता के कितने कोमल पात !
बड़े वेग से चला प्रभंजन,
होता वज्र-निपात।
घुमड़-घुमड़ घनघोर घटायें,

---

२. वर्द्धमान, सर्ग २।२२–३०, पृ० ७८–८०।
२. पार्वती, सर्ग १२, पृ० २६५।

घिरती हैं दिन-रात ।।

शरद :— आया शरद प्रकृति का मीत ।
वर्षा के मन्थन से निकला,
जैसे यह नवनीत ।।

हेमन्त :— हां ! हेमन्त न मैं कुछ लूंगी
प्यारा लाल तपस्या में है
मैं भी अग्नि तपूंगी ।।

शिशिर :— शिशिर ! तू मुझे न अब झकझोर ।
सुख के कितने पल्लव थे वे
बिखरे इस ओर ।।

+ + +

घिर घना नीहार भ्रान्ति का,
छिपी गगन की कोर ।
बनकर वाष्प उड़ जाती है,
मेरी प्रेम-हिलोर ।।

वसन्त :— दिन आये ऋतुराज के ।
समझ रही हूं, कल न रहेंगे,
फूल खिले जो आज के ।"[1]

षड्-ऋतुओं की प्रकृति के ये विभिन्न रंगीरूप एकलव्य की मां के हृदय में पुत्र वियोग की वलि धधका देते हैं। षड्ऋतु वर्णन की यह परम्परा बहुत प्राचीन है, किन्तु पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति वर्णन में नायक-नायिकाओं के माध्यम से ऋतु-वर्णन अधिक हुआ है, यहां पुत्र वियोग में मां के द्वारा, षड्ऋतु वर्णन अपने आप में एक प्रयोग है।

पुनश्च: 'एकलव्य' के संकल्प सर्ग में भी वात्सल्य को उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति का उपयोग किया गया है—

"छौने मृगों के जब तीव्र व्याघ्र गर्जना से,
अध चबी दूब छोड़ क्षण-क्षण चौंक के,
शंकित दृगों से निज जननी के पार्श्व में
जननी के पार्श्व में-हां ! उसके समीप हो,

1. 'एकलव्य', ममता सर्ग, पृ० १५६-१६० ।

इस उस देख तन में सिमिट के,
जननी की ओर मुख......................
मेरी जननी भी तो;
कितनी दुखित होंगी मेरे विना गृह में ।''[1]

उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण 'संशय की एक रात' में भी सुन्दर हुआ है—

यह बालु वाली जानकी
प्रति साझ
ज्वार जल में समर्पित होती रही।
वन अन्धेरा
फेन भीगे पदों से
ठुकराते रहे,
शंख शिशु
पैरों तले
फिर फिराते रहे।
सिन्धु सीने से सटी
उड़ती हुई टिटहरी
चीखा करी।
कितने पाखियों के वंश
विलों में लहर से
आकाश में।[2]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रवन्धकाव्यों में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं में सुन्दर बन पड़ा है। इस वर्णन में परम्परा पालन करते हुए भी षड्-ऋतु आदि के वर्णन में नवीनता दीखती है। साथ ही कहीं-कहीं प्रकृति के विराट वर्णन के साथ-साथ लघु चित्रण भी होने लगा है। 'संशय की एक रात', 'रत्नावली', 'आत्मजयी', 'कनुप्रिया' आदि रचनाओं में प्रकृति के विराट रूप चित्रण के साथ-साथ लघु रूप चित्रण ने भी उद्दीप्त किया है। प्रकृति के एक लघु चित्रण का उदाहरण देखिये—

---

१. एकलव्य, संकल्प सर्ग, पृ० १८१-१८२।
२. संशय की एक रात, पृ० ४।

"इस झुके मेरे माथ को
नीले फूलों को
शुभाशंसा प्रदत्तो
मेरी यात्रा
छोटे शंख सी
यहीं वालू में कहीं गिर
खो गई है।"[1]

यहां कवि ने 'नीले फूल' तथा 'छोटे शंख' के माध्यम से ही राम के मनोभावों को उद्दीप्त किया है। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण की परम्परा प्रबन्धकाव्यों में विशेष रूप से मिलती है, किन्तु आलोच्य काल से पूर्व हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण अति विरल हुआ है। अतः विवेच्ययुग के प्रबन्धकाव्यकारों ने सफलतापूर्वक प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित कर संस्कृत के वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियों की प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है। यदि हम यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि आलोच्यकाल के हिन्दी प्रबंधकाव्यों में आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण कर कवियों ने प्रयोग किए हैं, क्योंकि यह परम्परा संस्कृत के काव्यों में तो मिलती है, पर हिन्दी के पूर्ववर्ती प्रबंधकाव्यों में नगण्य है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबंधकाव्यों में प्रकृति के भाव क्षेत्रीय उपयोग में प्रकृति चित्रण परम्परित रूप में होते हुए भी नवीन है। आलोच्य प्रबंधकाव्यों में प्रकृति के भाव क्षेत्रीय उपयोग के साथ-साथ परम्परित रूप में प्रकृति का अलंकरण क्षेत्रीय उपयोग भी हुआ है।

प्रकृति और अलंकरण :—

काव्य में अलंकार रूप में प्रकृति का चित्रण दो कारणों से होता है। पहला काव्यार्थ में चमत्कार पैदा करने के लिए तथा दूसरा अर्थ की मुकरता के लिए। कवि काव्य-विषय को सहज रूप से पाठकों को बोध कराने के लिए कभी तो प्रकृति को नीति और उपदेश का माध्यम चुनता है और कभी उपमानादि एवं प्रतीकादि अलंकारों द्वारा प्रकृति का रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कभी कवि प्रकृति के नाना क्रिया-कलापों में किसी अज्ञात रहस्यात्मक सत्ता के संकेतों का अनुभव करता है और दार्शनिक तथ्यों

---

1. वही, पृ० ६।

को सुलझाने के लिए प्रकृति का आश्रय-ग्रहण करता है। अतः अलंकार रूप में प्रकृति का चित्रण प्रमुखतः नीति, उपदेश, प्रतीक, मानवीकरण तथा रहस्यात्मकता के रूप में पाया जाता है।

नीति एवं उपदेश :—

प्रकृति को प्राचीनकाल से ही कवियों ने एक उपदेशक और नीति-शिक्षक के रूप में देखा है। केवल शुष्क उपदेश मनुष्य के मन को इतना प्रभावित नहीं कर पाता। प्रकृति के क्रिया-व्यापारों के माध्यम से जब उपदेश को नये साँचे में ढाल कर व्यक्त किया जाता है तब वह अधिक प्रभावशील हो उठता है। इस प्रकार प्रकृति हमें सदाचार और नैतिकता के मार्ग पर ले सकती है। महाकवि बिहारी ने 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाले प्रसिद्ध दोहे में जयसिंह को प्रकृति के माध्यम से ही सचेत किया था। तुलसी ने भी 'रामचरित मानस' में प्रकृति के उपदेशात्मक रूप का बहुशः वर्णन किया है। रहीम, गिरधरदास, वृन्द आदि ने प्रकृति पर आधारित नीति-काव्य रचे हैं। आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति-चित्रण की नीति एवं उपदेश-परक इस प्रणाली को अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया है, क्योंकि वर्तमान-युगीन काव्य में संवेदनाओं के चित्रण को अधिक महत्व दिया गया है। अतः आलोच्यकाल के प्रबंधकाव्यों में प्रकृति चित्रण का यह रूप यत्र-तत्र ही मिलता है।

'दैत्यवंश' में सांसारिक वैभव की अस्थिरता को प्रातःकालीन कांतिहीन डूबते हुए चन्द्रमा के माध्यम से प्रकृति-चित्रण को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है—

"गिरता ह्वै छवि छीन विधु नभ सों कहत जनु जात।
अथिर है वैभव जगत को छिनक में बिनसात ।।"[1]

इसी प्रकार खिले हुए कुमुद समूह को देखकर सरोवर के कमल ऐसे मुरझा जाते हैं जैसे कि दूसरे की संपत्ति को देखकर दुर्जन अपने हृदय में संकुचित हो जाते हैं :—

'विकसित कुमुद-कलाप अनज-वन सरसि माँहि सकुचाने।
जिमि दुरजन पर सम्पत्ति को लखि निज हिय रहत लजाने ।।'[2]

'एकलव्य' में आचार्य द्रोण कहते हैं कि श्रद्धा और प्रेम से रहित दान शीघ्र ही निष्फल हो जाता है जैसे कि स्रोत मूल से रहिता सरिता वर्षा-काल के तुरन्त पश्चात् ही सूख जाती है :—

---

1. दैत्यवंश, सर्ग ११।८।
2. वही, १२।१।

'वारि–मूल से विहीन सरिता जो होती है,
सूखती है वर्षा–काल बीतने के बाद ही ॥'[1]

वर्द्धमान' में सांसारिक जीवों की गति की समता जलकि (जोंक) से करते हुए कहा गया है :—

'जिस प्रकार जलोक तड़ाग में
प्रथम छोड़ द्वितीय तृणाग्र को,
पकड़के चलता अतिशीघ्र है,
बस, यही गति है जग-जीव की ।'[2]

संसार में ऐसे महामानव भी मिलते हैं जो मौन भाव से संसार के समस्त उत्ताप को सहन कर लेते हैं और परहित के लिए अपना सर्वस्व निस्पृह भाव से त्याग देते हैं जैसे कि आकाश अपने मन की व्यथा को कभी व्यक्त नहीं करता एवं वृक्ष अपनी फल–सम्पदा का त्याग कर देते हैं :—

'मन की व्यथा न अम्बर कहता, पेड़ मौन फल देते ।
जग में ऐसे भी होते जो–चुप चुप सब सह लेते ।'[3]

ग्रीष्म के प्रखर ताप को अपने सिर पर सहन करने वाला वृक्ष सम्भवतः इसी कारण सुखी रहता है, क्योंकि उसकी छाया में दुखी प्राणी आ–आकर सुख से सोते है :—

'धूप सहन करने वाला तरु–शायद बहुत सुखी है ।
क्योंकि छांह में उसकी सुख से-सोता बहुत दुखी है ।'[4]

यहां ताप सहन करने वाले वृक्ष के द्वारा परोपकारी महापुरुष के स्वभाव का अंकन किया गया है ।

'उर्वशी' में भी ऐसी उपदेशात्मक सूक्तियां बहुत मिलती हैं :—

'जितना ही जो जलधि रत्न–पारित, विक्रान्त, अगम है,
उसकी बाड़वाग्नि उतनी ही अविश्रान्त, दुर्दम है ॥'[5]

---

१. एकलव्य, सर्ग २, पृ० ३७ ।
२. वर्द्धमान, सर्ग १५।२५, पृ० ४४५ ।
३. मानवेन्द्र, पृ० ६५६ ।
४. वही पृ० ६५६ ।
५. उर्वशी, अंक २, पृ० ३७ ।

प्रतीकत्व एवं अलंकार विधान :—

प्रतीकों के रूप में भी प्रकृति का उपयोग प्राचीन काल से काव्य में होता आया है। प्रतीक विधान में प्रकृति का रूप गौण और आरोपित भाव प्रमुख हो जाता है। हिन्दी-काव्य में प्रतीक विधान की परम्परा आदिकाल से ही चली आ रही है। नाथ सिद्धों की 'बानियों' से लेकर कबीर की 'उलट बासियों' जायसी के रहस्यवाद आदि में होती हुई प्रतीक विधान की परम्परा आधुनिक काल के छायावाद व रहस्यवादी काव्य तक में अनेक रूपाकार ग्रहण करती हुई चली आती है। साहित्य में हंस को ज्ञान का प्रतीक, चांदनी को पावनता का प्रतीक, अन्धकार को अज्ञान का प्रतीक, समुद्र को संसार का प्रतीक आदि अनेक प्राकृतिक उपादानों को विभिन्न प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया गया है।

प्रायः सभी छायावादी काव्यों में प्रकृति ने प्रतीक-विधान में अपना सुमधुर योग दिया है, किन्तु आलोच्य काव्यों में भी कवियों ने उससे यह काम लिया है। 'उर्वशी' में आकाश और भूमि को देवता और मनुष्य का प्रतीक मानकर इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

> 'पृथ्वी पर है चाह प्रेम को स्पर्श-मुक्त करने की,
> गगन रूप को बांहों में भरने को अकुलाता है।
> गगन, भूमि, दोनों अभाव से पूरित हैं, दोनों के
> अलग-अलग हैं प्रश्न और हैं अलग-अलग पीड़ाएं।[1]

इसी प्रकार गलती हुई हिमशिला को मातृत्वमयी नारी का प्रतीक मानकर कवि ने कितना सुन्दर कहा है :—

> 'गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर;
> पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।'[2]

ऐसा ही एक सुन्दर प्रतीक विधान 'दिनकर' ने 'रश्मिरथी' में किया है—

> 'नहीं फूलते कुसुम मात्र राजाओं के उपवन में,
> अमित बार खिलते वे पुर से दूर कुंज-कानन में।
> समझे कौन रहस्य ? प्रकृति का बड़ा अनोखा हाल,
> गुदड़ी में रखती चुन-चुन कर बड़े कीमती लाल।'[3]

---

१. उर्वशी, प्रथम अंक, पृ० ७।
२. वही, पृ० १६।
३. रश्मिरथी, सर्ग १, पृ० २।

'मीरां' में कवि ने प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा नर और नारी की अन्तः प्रकृति की भिन्नता को निम्न प्रकार से बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया है :—

'तुम नारी हो, हृदय तुम्हारा
तुहिन-कणों से बना हुआ है
मानस के निर्मल अम्बर में
इन्द्र-धनुष सा तना हुआ है
किन्तु पुरुष का अन्तर भी तो
घोर घटाच्छादित अंबर है
उसकी उमड़-घुमड़ का गर्जन
महा भयंकर, अजर, अमर है
मैं डंठल हूं मेरी कलियां
पीड़ा तप में सूख गई हैं
पर प्रसन्न मैं, कब निराश हूं
क्या मानव की भूख गई है ?'[1]

यों तो प्रकृति ने कवियों को अनेक उपमान प्रदान किये, समता और विरोध की अनेक अवस्थाएं प्रस्तुत कीं, किन्तु हमारे कवियों ने प्रकृति के अनेक दृश्यों और पदार्थों से नये उपमान ग्रहण किये। प्राकृतिक उपकरणों का उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लिए बहुशः प्रयोग किया गया है। 'उर्वशी' के प्रारम्भ में ही जब अप्सराएं आकाश से उतर रही हैं तो नटी को वे ज्योत्स्ना पर अपने ज्योत्स्ना के समान प्रतीत होती हैं, जिससे इन्दु किरणें भी लज्जित हो उठती हैं। पुनः उसे वे कुसुम-वल्लियां या वसन्त के स्वप्न चित्र सी मालूम पड़ती हैं :—

'उगी कौन-सी विभा ? इन्दु की किरणें लगी लजानें;
ज्योत्स्ना पर यह कौन अपर ज्योत्स्ना छायी जाती है ?
o o o o
o o o o
उड़ी आ रही छूट कुसुम-वल्लियां कल्प-कानन से ?
o o o o
या वसन्त के सपनों की तस्वीरें घूम रही हैं।'[2]

---

१. मीरां सर्ग २, पृ० २६।
२. उर्वशी, प्रथम अंक, पृ० ६।

यहां रूपक, व्यतिरेक एवं सन्देह अलंकारों के रूप में प्रकृति के उपादानों का सुन्दर व्यवहार किया गया है। 'उर्वशी' के सौन्दर्य चित्रण में भी प्रकृति के विभिन्न अंग अलंकारों के रूप में व्यवहृत हुए हैं :–

'तन-प्रकान्ति मुकुलित अनन्त उषाओं की लाली-सी,
नूतनता संपूर्ण जगत् की संचित हरियाली–सी।
पग पड़ते ही फूट पड़े विद्रुम–प्रवाल धूलों से,
जहां खड़ी हो, वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से।'[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'उर्वशी' के सौन्दर्य की प्राकृतिक उपकरणों के साथ उत्प्रेक्षाएं बड़ी प्रभावक बन पड़ी हैं एवं अन्तिम दो पंक्तियों में अतिशयोक्ति की छटा भी दर्शनीय है। चांदनी में वृक्ष की छाया से निकलती हुई उर्वशी की उपमा सर्प के मुख से निकली हुई मणि एवं उसके झिलमिलाते अंगों को हिमकण–सिक्त कुसुमों से उपमित करती हुई निपुणिका कहती है:—

'प्रकटी जब उर्वशी चांदनी में द्रुम की छाया से,
लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,
o o o
o o o
हिमकण–सिक्त–कुसुम–सम उज्ज्वल अंग-अंग झलमल था,
मानो, अभी–अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।'[2]

अंतिम पंक्ति में अभी–अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल के साथ की गई उत्प्रेक्षा भी अति सुन्दर है।

'अंगराज' में चन्द्रोदय का वर्णन करती हुई सुन्दरी के कथन में संदेह अलंकार की झांकी देखिए :—

'उदय है कमनीय मयंक या, गगन–मस्तक का शुभ स्वप्न है।
लग रहा यह विश्व–कवीन्द्र के, सरस मानस–मान–समान है।।
यह शशांक नहीं, द्विजराज है, कर रहा तप शून्य प्रदेश में।
हृदय में उसके यह व्याप्त है, विदित श्री वर श्रीवर–रूप को।।'[3]

---

१. उर्वशी, प्रथम अंक, पृ० २४।
२. उर्वशी, अंक २, पृ० २६।
३. अंगराज, सर्ग १४।१८, पृ० १४५।

'मीरां' में कवि ने प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा नर और नारी की अन्तः प्रकृति की भिन्नता को निम्न प्रकार से बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया है :—

'तुम नारी हो, हृदय तुम्हारा
तुहिन–कणों से बना हुआ है
मानस के निर्मल अम्बर में
इन्द्र–धनुष सा तना हुआ है
किन्तु पुरुष का अन्तर भी तो
घोर घटाच्छादित अंबर है
उसकी उमड़–घुमड़ का गर्जन
महा भयंकर, अजर, अमर है
मैं डंठल हूं मेरी कलियां
पीड़ा तप में सूख गई हैं
पर प्रसन्न मैं, कब निराश हूं
क्या मानव की भूल गई है ?'[1]

यों तो प्रकृति ने कवियों को अनेक उपमान प्रदान किये, समता और विरोध की अनेक अवस्थाएं प्रस्तुत कीं, किन्तु हमारे कवियों ने प्रकृति के अनेक दृश्यों और पदार्थों से नये उपमान ग्रहण किये। प्राकृतिक उपकरणों का उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लिए बहुशः प्रयोग किया गया है। 'उर्वशी' के प्रारम्भ में ही जब अप्सराएं आकाश से उतर रही हैं तो नटी को वे ज्योत्स्ना पर अपने ज्योत्स्ना के समान प्रतीत होती हैं, जिससे इन्दु किरणें भी लज्जित हो उठती हैं। पुनः उसे वे कुसुम–वल्लियों या वसन्त के स्वप्न चित्र सी मालूम पड़ती हैं :—

'उगी कौन–सी विभा ? इन्दु की किरणें लगी लजानें;
ज्योत्स्ना पर यह कौन अपर ज्योत्स्ना छायी जाती है ?
० ० ० ०
० ० ० ०
उड़ी आ रही छूट कुसुम–वल्लियां कल्प-कानन से ?
० ० ० ०
या वसन्त के सपनों की तस्वीरें घूम रही हैं।'[2]

---

१. मीरां सर्ग २, पृ० २६।
२. उर्वशी, प्रथम अंक, पृ० ६।

ऊपर चेतनता के आरोपण द्वारा इसे भी मनुष्य की तरह हर्ष, दुःख आदि भावनाओं से संवेदित दिखाया जाता है। प्रायः इसे अंग्रेजी के रोमेण्टिकसिज्म से प्रभावित माना जाता है, पर यह पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता। भारतीय वाङ्मय में वैदिक साहित्य में भी प्रकृति के अनेक अंगों का मानवीकृत रूप मिलता है।

आधुनिक युग में प्रकृति के मानवीकृत रूप में वैविध्य और विस्तार पाया जाता है। छायावादी काव्य में प्रकृति का जो मानवीकरण रूप में चित्रण मिलता है, उसका विकास आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में हुआ है।

'मीरां' में प्रकृति को मानवीय रूप प्रदान करता हुआ कवि निम्नलिखित पंक्तियों में अच्छे कौशल का प्रदर्शन करता है :—

'रजनी की झिलमिल झिलमिल
साड़ी के अवगुंठन को
रजनी-पति चुपके चुपके
खोले जब पुलकित-मन हो।
जब मुद्रित कुमुद-कलाएं
उठजाती अंगड़ाई ले
जब बार-बार मंडराते
मधुकर गुंजन-वीणा ले ॥'[1]

'एकलव्य' में प्रकृति को किसी अल्हड नवयौवना सुन्दरी के समान अंकित करके उपस्थित किया गया है :—

'एकलव्य देखता है, प्रकृति-किरीटनी,
पुष्प छींट वाली कसे हरे पत्र-कंचुकी
नीलांबर धार पर वायु का प्रतोद ले
सृष्टि-रथ आगे बढ़ा, आ रही है सुंदरी।'[2]

'दमयन्ती' काव्य में प्रातःकाल का वर्णन करते हुए कवि ने रात्रि को अभिसारिका के रूप में देखा है, जो कि प्रातःकाल होते ही अपने प्रणयी चन्द्र को छोड़कर चली जा रही है, यह देखकर चन्द्र मूर्च्छित-सा हो रहा है :—

---

१. मीरां, सर्ग १०, पृ० १६३-६४।
२. एकलव्य, सर्ग १०, पृ० २०१।

गंगा वर्णन प्रसंग में अपह्नुति अलंकार का सुन्दर प्रयोग भी द्रष्टव्य है :—

'अम्बु नहीं, वह उत्सुक होकर थी सुख के नयनाम्बु कहाती।
लोल तरंग नहीं, वह थी निज अंग-उमंग अभंग दिखाती।
था न प्रवाह-निनाद, स्वयं पद-नूपुर थी अति मंजु बजाती।
सिन्धु-समागम को वह थी सुखना सुखदा प्रमदा-सम जाती।।'[1]

'एकलव्य' में अलंकृत प्रकृति चित्रण में नवीनता मिलती है। कवि ने कुछ प्राचीन नियमों का पालन करते हुए भी नवीन चित्र प्रणाली और [illegible]-शिल्प का आश्रय अधिकता से ग्रहण किया है :—

..........देखते हैं प्रतिभा की दृष्टि से,
जैसे मेघ नेत्र-हीन, किन्तु सारे नभ में
विचरण करता है और कृपा-जल से
पुलकित करता है जीवन का दान दे।
शत पुत्र उनके ! जैसे एक अंकुर में,
' उठे शत पत्र हैं.......................

० ० ० ०

जैसे रवि बादलों की ओट में रहे न क्यों
किन्तु फैलता प्रकाश पृथ्वी पर वैसे ही
अन्ध दृष्टि देखती है सब कुछ सृष्टि में।'[2]

पुनः इसी धृतराष्ट्र गुण प्रसंग में कवि नवीन रूप में प्रकृति का आश्रय [illegible] हुआ आलंकारिक शैली में कहता है :—

'श्याम वर्ण किन्तु है प्रशान्त गुण उनका,
जैसे श्याम तारिका में कान्तिमयी दृष्टि है।'[3]

प्रकृति का मानवीकरण :—

प्रकृति की चेतन सत्ता मानकर उसे मनुष्य के समान आचरण करते [illegible] ही प्रकृति का मानवीकरण है। इसमें प्रकृति को जड़ न मानकर उसके

---

१. [illegible], पृ० १९८, सर्ग १४।६२।
२. एकलव्य, सर्ग ७, पृ० [illegible]।
३. [illegible], सर्ग ९, पृ० [illegible]

ऊपर चेतनता के आरोपण द्वारा इसे भी मनुष्य की तरह हर्ष, दुःख आदि भावनाओं से संवेदित दिखाया जाता है। प्रायः इसे अंग्रेजी के रोमेण्टिकसिज्म से प्रभावित माना जाता है, पर यह पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता। भारतीय वाङ्मय में वैदिक साहित्य में भी प्रकृति के अनेक अंगों का मानवीकृत रूप मिलता है।

आधुनिक युग में प्रकृति के मानवीकृत रूप में वैविध्य और विस्तार पाया जाता है। छायावादी काव्य में प्रकृति का जो मानवीकरण रूप में चित्रण मिलता है, उसका विकास आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में हुआ है।

'मीरां' में प्रकृति को मानवीय रूप प्रदान करता हुआ कवि निम्नलिखित पंक्तियों में अच्छे कौशल का प्रदर्शन करता है :—

'रजनी की झिलमिल झिलमिल
साड़ी के अवगुंठन को
रजनी–पति चुपके चुपके
खोले जब पुलकित–मन हो।
जब मुद्रित कुमुद–कलाएं
उठजाती अंगड़ाई ले
जब बार–बार मंडराते
मधुकर गुंजन-वीणा ले।।'[1]

'एकलव्य' में प्रकृति को किसी अल्हड नवयौवना सुन्दरी के समान अंकित करके उपस्थित किया गया है :—

'एकलव्य देखता है, प्रकृति–किरीटनी,
पुष्प छींट वाली कसे हरे पत्र–कंचुकी
नीलांबर धार पर वायु का प्रतोद ले
सृष्टि–रथ आगे बढ़ा, आ रही है सुंदरी।'[2]

'दमयन्ती' काव्य में प्रातःकाल का वर्णन करते हुए कवि ने रात्रि को अभिसारिका के रूप में देखा है, जो कि प्रातःकाल होते ही अपने प्रणयी चन्द्र को छोड़कर चली जा रही है, यह देखकर चन्द्र मूच्छित–सा हो रहा है :—

---

१. मीरां, सर्ग १०, पृ० १६३–६४।
२. एकलव्य, सर्ग १०, पृ० २०१।

गंगा वर्णन प्रसंग में अपह्नुति अलंकार का सुन्दर प्रयोग भी द्रष्टव्य है :—

'अम्बु नहीं, वह उत्सुक होकर थी सुख के नयनाम्बु कहाती।
लोल तरंग नहीं, वह थी निज अंग-उमंग अभंग दिखाती।
था न प्रवाह-निनाद, स्वयं पद-नुपुर थी अति मंजु बजाती।
सिन्धु-समागम को वह थी सुखदा सुखदा प्रमदा-सम जाती ॥'[1]

'एकलव्य' में अलंकृत प्रकृति चित्रण में नवीनता मिलती है। कवि ने कुछ प्राचीन नियमों का पालन करते हुए भी नवीन चित्र प्रणाली और चित्रण-शिल्प का आश्रय अधिकता से ग्रहण किया है :—

...........देखते हैं प्रतिभा की दृष्टि से,
जैसे मेघ नेत्र-हीन, किन्तु सारे नभ में
विचरण करता है और कृपा-जल से
पुलकित करता है जीवन का दान दे।
शत पुत्र उनके ! जैसे एक अंकर में,
'उठे शत पत्र हैं.......................

० ० ० ०

जैसे रवि बादलों की ओट में रहे न क्यों
किन्तु फैलता प्रकाश पृथ्वी पर वैसे ही
बन्ध दृष्टि देखती हैं सब कुछ सृष्टि में।'[2]

पुनः इसी धृतराष्ट्र गुण प्रसंग में कवि नवीन रूप में प्रकृति का आश्रय ग्रहण करता हुआ आलंकारिक शैली में कहता है :—

'श्याम वर्ण किन्तु है प्रदीप्त मुख उनका,
जैसे श्याम तारिका में कान्तिमयी दृष्टि है।'[3]

प्रकृति का मानवीकरण :—

प्रकृति को चेतन सत्ता मानकर उसे मनुष्य के समान आचरण करते देखना ही प्रकृति का मानवीकरण है। इसमें प्रकृति को जड़ न मानकर उसके

और चेतनता के आरोपण द्वारा इसे भी मनुष्य की तरह हर्ष, दुःख आदि भावनाओं से संवेदित दिखाया जाता है। प्रायः इसे अंग्रेजी के रोमैण्टिसिज्म से प्रभावित माना जाता है, पर यह पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता। भारतीय वाङ्मय में वैदिक साहित्य में भी प्रकृति के अनेक अंगों का मानवी-करण रूप मिलता है।

आधुनिक युग में प्रकृति के मानवीकृत रूप में वैविध्य और विस्तार पाया जाता है। छायावादी काव्य में प्रकृति का जो मानवीकरण रूप में चित्रण मिलता है, उसका विकास आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में हुआ है।

'मीरां' में प्रकृति को मानवीय रूप प्रदान करता हुआ कवि निम्न-लिखित पंक्तियों में अच्छे कौशल का प्रदर्शन करता है :—

'रजनी की झिलमिल झिलमिल
साड़ी के अवगुंठन को
रजनी-पति झुक के झुक के
खोले जब पुलकित-मन हो।
जब मुदित कुमुद-कलाएँ
उठजातीं अँगड़ाई ले
जब बार-बार मँडराते
मधुकर गुंजन-वीणा ले ॥'[1]

'एकलव्य' में प्रकृति को किसी अल्हड़ नवयौवना सुन्दरी के समान अंकित करके उपस्थित किया गया है :—

'एकलव्य देखता है, प्रकृति-किशोरी,
कुछ छोड़ चली कसे हुए पत्र-कंचुकी
नीलांबर धार कर वायु का प्रवाह से
लुंठित-रस भरे बहुत, अब नहीं है मुँदने।'[2]

'दमयन्ती' काव्य में प्रभातकाल का वर्णन करते हुए कवि ने रात्रि को अभिसारिका के रूप में देखा है, जो कि प्रभातकाल होने से अपने प्राण-चन्द्र को छोड़कर चली जा रही है तब देखकर चन्द्र दुःखित-सा हो रहा है :—

---

1. मीरां, सर्ग १०, पृ० १६३-६४।
2. एकलव्य, सर्ग १०, पृ० २०१।

'चल-पड़ी रात, नभ-वदन हुआ पीला-सा,
पृथ्वी-अंचल-पट-हरित, हुआ नीला-सा।
वह सुअभिसारिका गई, चिन्ह ये छोड़े,
हत-प्रभ से तारे, उसे-पकड़ने दौड़े।
मुच्छित-सा विधु हो-गया न यह सह पाया।'[१]

'अंगराज' के कवि ने भी यामिनी को अभिसारिका के रूप में चित्रित किया है, पर यह प्रातःकाल के समय जाती हुई अभिसारिका न होकर सन्ध्या अवसान के समय आती हुई सुवासिनी अनंगवती अभिसारिका है :—

'तारांकित नील पट, ओढ़े हुये अम्बर में,
मोदमयी मंजुमुखी मन्द मुसकाती है।
झिल्ली-झणकार-मिष किंकिणी को बारबार,
मुग्ध अभिसारिका-सी पंथ में बजाती है॥
इन्दुजा-विलोचना सुवासिनी अनंगवती,
प्रेमी-अंग-अंग में उमंग ही जगाती है।
ऐसी मोहनीय, कमनीय, रमणीय यह,
शमनी नहीं है, रमणी ही चली आती है।'[२]

'पार्वती' के वसन्त चित्रण में, वसन्तकालीन दक्षिण पवन को अपने प्रियतम रवि के वियोग में दुःखी होती हुई दक्षिण दिशा के विरहोच्छ्वास के रूप में चित्रित किया गया है :—

'समय अतिक्रम कर प्रिय रवि के दूर गमन से दीना,
भरती विरहोच्छ्वास अनिल में दिग् दक्षिणा मलीना।'[३]

प्रकृति द्वारा दार्शनिक-रहस्याभिव्यक्ति :—

प्रकृति रूपी दर्पण के अन्दर निराकार अपनी झांकी दिखलाता है। प्रकृति द्वारा ही अव्यक्त व्यक्त होता है। आत्मा-परमात्मा एवं जगत-ब्रह्म की एकता ने प्रकृति के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाने की प्रेरणा दी। मानवीकरण और दार्शनिक स्वरूप चित्रण में कुछ अन्तर है। मानवीकरण में प्रकृति पर मानव का आरोप किया जाता है और दार्शनिक स्वरूप चित्रण में

---

१. दमयन्ती, चतुर्थ सर्ग, पृ० ५८।
२. अंगराज, पृ० १४६।
३. पार्वती, पृ० ११७।

देवी गुणों, कार्यावलियों और सौन्दर्य का। जब कवि के चित में प्रकृति का रोम-रोम इस प्रकार रम जाये कि उसके अन्तस में उसे (कवि को) अदृश्य सत्ता के दर्शन अथवा उसका आभास होने लग जाय वहां रहस्याभिव्यक्ति या दार्शनिक रूप में प्रकृति का चित्रण होता है। ईश्वर सर्वाधिक रहस्य है और प्रकृति उसके अत्यन्त निकट है। अतः प्रकृति से हमें उसकी सत्ता के अनेक संकेत मिलते हैं।

'उर्वशी' में पुरूरवा, धरा, गगन और पाताल को ईश्वर की इच्छा का प्रसार मानता है। उस ईश्वर की लीला से ही अगणित सविता, सोम, ग्रह, नक्षत्र आदि कन्दुक के समान आकाश में दौड़ रहे हैं :—

'जिसकी इच्छा का प्रसार भूतल, पाताल, गगन है,
दौड़ रहे नभ में अनन्त कन्दुक जिसकी लीला के,
अगणित सविता-सोम, अपरिमित ग्रह, उडु-मंडल बनकर;'[1]

पुनः उर्वशी ईश्वर को इस प्रकृति का प्रतिपक्षी न कहकर इसी में रमा हुआ कहती है :—

'भ्रान्ति नहीं, अनुभूति, जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं,
शत्रु प्रकृति का नहीं, न उसका प्रति योगी, प्रति बल है।
० ० ० ०
ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से,
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।'[2]

पर्वत के शिखरों में मौन, झरनों में गर्जना, ऊपर की ज्योति, गर्त का अन्धकार वही ईश्वर है :—

'शिखरों में जो ... में गरज रहा है,
ऊपर जिसकी ... र्त के तप में।'[3]

'एकलव्य' में स... ाध्यम द्वारा आत्मा ब्रह्म का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

---

१. उर्वशी, अंक ३, पृ० ६७।
२. वही, पृ० ७३।
३. वही, पृ० ७४।

करने और उसे आलम्बन रूप से ग्रहण करने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी हुई परिलक्षित होती है।

आज का युग प्रकृति-काव्य के अनुकूल न होकर मानव-काव्य के अनुकूल है, परन्तु प्रकृति के आकर्षण से कवि कभी मुक्त नहीं हो सकता। प्रकृति मानव मन के भावों को व्यंजित करने का एक अमोघ शस्त्र रही है। आज के कवि ने प्रकृति के इस कार्य व साहाय्य को पूर्णतः अनुभव किया है।

'पद्मावत', 'रामचरित मानस' आदि प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति के उद्दीपन रूप पर ही अधिक दृष्टि डाली गई है। 'पद्मावत' में ऋतु वर्णन, बारहमासा आदि के वर्णनों में उद्दीपन रूप से ही प्रकृति का अंकन किया गया है। 'मानस' में वर्षा, शरद् आदि ऋतुओं के वर्णन में उपदेशात्मक दृष्टि से प्रकृति को चित्रित किया गया है। 'केशव' की 'रामचन्द्रिका' में भी उद्दीपन व अलंकार विधान के रूप में प्रकृति का उपयोग किया गया है। आधुनिक काल में प्रकृति को आलम्बन एवं मानवीकरण के रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति अधिक उत्पन्न हुई। 'कामायनी', 'नूरजहां', वैदेही वनवास', 'साकेत' आदि में प्रकृति का मानवीकृत रूप अधिक देखने को मिलता है। 'बुद्ध चरित', 'कामायनी', 'नूरजहां', 'सिद्धार्थ', 'वैदेही वनवास' आदि में प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण की योजना वाल्मीकि और कालिदास की परिपाटी को पुनर्जीवन प्रदान करती है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति के उपयोग की विविध शैलियों के दर्शन हम कर चुके हैं। प्रकृति के वर्णन की ये शैलियां पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों की परम्परा को लेकर भी चली हैं, साथ ही उनमें प्रयोग की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। जिस प्रकार नायक की कोटियां बदली, मानव चरित्र के मानदण्ड बदले, व कथानक की पार्श्वभूमि बदली इसी प्रकार प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। प्रकृति आलम्बन और उद्दीपन की सीमा से आगे बढ़ी और उसके माध्यम से मानव-मानस के भावों व राग-विरागों के चित्रांकन का कार्य भी सम्पादित होने लगा। आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में हम प्रकृति चित्रण का शिल्प उसके मानवीकरण संवेदनात्मक स्वरूप, प्रतीक विधान आदि से अधिक प्रभावित पाते हैं। बिम्ब ग्रहण द्वारा प्रकृति को अधिक आकर्षक रूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है। इस काल में प्रबन्ध काव्य-कारों को प्रकृति के स्थूल चित्रण की अपेक्षा उसके अन्तर्दर्शन पर अधिक आस्था रही है। उन्होंने उसका सम्बन्ध एक ओर मानव से व दूसरी ओर विराट अलौकिक शक्ति से जोड़ा। प्रबन्धकाव्यों की परम्परागत वस्तु परि-गणन प्रणाली के स्थान पर मानव भावों से परिपूरित प्रकृति के स्वरूप का चित्रण अधिक किया गया है। स्वतन्त्रता से पूर्व के प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति के आलम्बन गत रूप की अपेक्षा उद्दीपनवाले रूप का चित्रण अधिक मिलता है, जबकि आलोच्यकाल के प्रबन्धकाव्यों में प्रकृति को स्वतन्त्र रूप से अंकित

करने और उसे आलम्बन रूप से ग्रहण करने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी हुई परिलक्षित होती है ।

आज का युग प्रकृति-काव्य के अनुकूल न होकर मानव-काव्य के अनुकूल है, परन्तु प्रकृति के आकर्षण से कवि कभी मुक्त नहीं हो सकता। प्रकृति मानव मन के भावों को व्यंजित करने का एक अमोघ शस्त्र रही है। आज के कवि ने प्रकृति के इस कार्य व साहाय्य को पूर्णतः अनुभव किया है।



युग-दर्शन

८ | युग-दर्शन

काव्य की रचना समसामयिक युग-जीवन से निरपेक्ष रहकर नहीं की जा सकती। कवि को काव्य-रचना के लिए समाज से आधार ग्रहण करना पड़ता है। समाज के स्वरूप और अवस्था की छाप कवि की रचनाओं पर पड़े बिना नहीं रह सकती। समसामयिकयुग की राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के अनुसार समाज में कुछ निश्चित मान्यताओं, व्यवस्थाओं व मर्यादाओं का स्वीकरण कर लिया जाता है। कवि समाज से इन सबकी प्रेरणा लेकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। अतः कहना चाहिये कि कवि अपनी रचनाओं में अपने जो विचार व्यक्त करता है, वह तात्कालिक युग के परिवेश व परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब होता है। समाज और काव्य के इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के कारण ही प्रत्येक कवि को अपने समय की उपज कहा जाता है। देश और समाज की परिवर्तित होती हुई विचार धारा के साथ-साथ ही कवि अथवा साहित्यकार की धारणाओं और विश्वासों में परिवर्तन उपस्थित होता जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल की अलग-अलग प्रवृत्तियां तत्कालीन समाज की परिस्थितियों के प्रतिफल से ही निर्मित हुई हैं।

आलोच्य युग के प्रबन्धकाव्यों में समसामयिक युगजीवन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और दार्शनिक अवस्थाओं के रूप में व्यक्त हुआ है। अब हम आगे तात्कालिक परिस्थितियों पर विहंगम दृष्टि डालते हुए इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् कश्मीर की समस्या से भी भारत को सामना करना पड़ा। कश्मीर पर पाकिस्तान ने आक्रमण किया और उसे हड़प जाना चाहा, किन्तु भारत ने साहस और सतर्कता से काम लेकर कश्मीर को बचाया।

देश में जनतान्त्रिक शासन-व्यवस्था को प्रयोगिक रूप देने के लिये सम्पूर्ण देश में पंचायती राज की व्यवस्था की गई। ग्राम-पंचायतों के द्वारा जनता के हाथों में सच्चे रूप में शक्ति दे दी गई।

चीन ने १९६२ में विश्वासघात पूर्वक भारत की उत्तर सीमा पर आक्रमण किया। भारतीय जन-जीवन में इस आक्रमण का सामना करने के लिये एक नवीन और अभूतपूर्व एकता का उदय हुआ। कश्मीर से कन्या कुमारी तक सम्पूर्ण भारतीय जनता देश की रक्षा के लिए एक होकर उठ खड़ी हुई, उसके सब मतभेद पलभर में लुप्त हो गए।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत ने अहिंसा और सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों का पालन करते हुए विश्व के सामने पंचशील के रूप में पाँच मानव कल्याण-कारी नियमों को प्रस्तुत किया, जिनको मानकर विश्व के सम्पूर्ण राष्ट्र शान्तिपूर्वक विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। भारत ने शान्ति और अहिंसा के मार्ग को अपना कर विश्व में अपना आदरपूर्ण स्थान बनाया।

उक्त राजनीतिक स्थिति का अंकन हमें स्वातन्त्र्योत्तर प्रबंधकाव्यों में सर्वत्र मिलता है। प्रत्येक युग के आदर्शों एवं चिन्तन में परिवर्तन होता रहता है। कवि अपने समसामयिक युग के आदर्श और विचार धारा से निर-पेक्ष और तटस्थ नहीं रह सकता। प्रबन्धकाव्य का कथानक चाहे जिस युग से संबंधित क्यों न हो, किन्तु उस पर तत्कालीन समाज की परिस्थितियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्यमेव पड़ता है। आलोच्ययुगीन प्रबन्धकाव्यों के कथानक भी विभिन्न युगों से लिए गए हैं, किन्तु उन पर वर्तमान कालीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

आलोच्य प्रबंधकाव्यों में व्यक्त राजनीतिक स्थिति :—

ऋषि मुनियों पर शूर्पणखा के सैनिकों द्वारा किए गए अत्याचार को इस प्रकार वर्णित किया है :—

'तब बोल्यो सरभंग क्रोध करि दाहिनो बांह उठाई ।
रच्छा हेतु धर्म की मुनिगन का हैं अवसि लगाई ।।
खरदूसन, त्रिसरा, विराव नहिं कुछ हमरो करि पै हैं ।
धर्म-युद्ध में अवसि लंकपति हरि रावनहु जैहैं ।।'[1]

\+ \+ \+ \+
\+ \+ \+ \+

सुनि रव तुमुल कोपि त्रिसरा ने सैनिक दियो पठाई ।
अरु तिन जाय तहां तें बरबस दीन्हयो मुनिन भगाई ।।
करि सत्याग्रह डटे रहे से भये दंड के भागी ।
भाग-दौर में वृद्ध मुनिन के गई चोट कछु लागी ।।
करतहि रहे सत्याग्रह जे तिन्है सैनिक मारयो ।
कीन्हयो जिन विरोध चिमटन ले तिन कव को संघारयो ।।
ता दिन तें सुपनखहि वचन की मुनिन प्रतिज्ञा कीन्हीं ।
'रहियो सजग राज-मन्दिर में यही चुनौती दीन्ही ।।'[2]

स्वतन्त्रता के दीवाने सत्याग्रहियों पर अंग्रेज दमनकारियों द्वारा किये हुए अत्याचार की झांकी राम-वन-गमन का विरोध करने वाली अयोध्या की प्रजा के प्रति कैकेयी के क्रोध भरे निम्न आदेश में मिलती है :—

'डण्डे का प्रहार करवाना, या गोली चलवा देना
एकत्रित हो कहीं भीड़ तो, तितर बितर करवा देना ।'[3]

श्रीमती सरोजिनी नायडू को संयुक्त प्रान्त के गवर्नर पद पर समासीन देखकर कवि के द्वारा शूर्पणखा को पंचवटी जनस्थान का गवर्नर बनाने की कल्पना सूझी है :—

रहे त्रिसिरा के अधीन तहाँ ही ।।
विध्य लौ राज्य सिवान है वे,
फिरते रहे दन्डक-कानन मांही ।
त्यों मुनि लोगनिहू को विद्रोह,
ओ वलि की सवित-वढ़े कहूं नांही ।''[1]

स्वतन्त्रता की भावना का उद्भाव आधुनिक भारतीय जनता में किस प्रकार हो उठा था, इसकी व्यंजना (रावणसुत अरिमर्दन के आक्रमण की चर्चा सुनकर) लंका की स्वातन्त्र्योत्सुक जनता के निम्नांकित विचारों में दर्शनीय है :—

'जे है स्वतन्त्र-विचार के ते सव सुनत हर्षित भये ।
जनतन्त्र-थापन भाव वहुत तिन सघन के जागे नये ।।
लागे विचारन नव-विजेतहि पच्छ में निज लाइ है ।
अरु थापना जन तन्त्र-सासन की इते करवाइ है ।।[2]

० ० ० ०
० ० ० ०

गढ़-लंक की स्वातन्त्रय-सासन-घोषना वाने करी ।
अरु सत्रु मर्दन की जय-ध्वनि गुंजि नभ-मण्डल भरी ।।
'स्वाधीनता के समर में तुव साथ सव दे हैं सही ।
अरु कह्यो हम जमराजहू सों नेकु भय खैहे नहीं ।।'[3]

'ऊर्मिला' में भी जनतान्त्रिक विचारधारा का पोषण ऊर्मिला के इन शब्दों में मिलता है :—

'राज नहीं कैकेयी का यह,
दशरथ का न स्वराज्य यहां,
जन-गण-मन-रंजन कर्ता ही
होता है अधिराज यहां ।।'[4]

---

१. रावण, सर्ग १०।४० ।
२. वही, सर्ग १७।१० ।
३. वही, सर्ग १७।१५ ।
४. ऊर्मिला, सर्ग ३।१४६ ।

जनतन्त्र की स्थापना के साथ ही राजतन्त्र की समाप्ति पर कवि की प्रसन्नता निम्न उद्‌गारों में फूट पड़ती है :—

'कुछ उत्पात मचाने वाले आये सेना द्वारा
धीरे-धीरे मिटी देश से राजतन्त्र की धारा।'[1]

विश्व युद्ध की ज्वालाओं में फँसे राष्ट्रों के सामने मानवता की रक्षा के लिए व शान्ति स्थापनार्थ भारत के प्रधानमन्त्री पण्डित नेहरू ने पंचशील की जिस योजना को प्रस्तुत किया था, उसका प्रभाव 'तारकवध' में शृंगी कवि के निम्नलिखित वचनों में देखा जा सकता है :—

'किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता छीनों नहीं।
सत्य शक्ति का ही विकास करते रहो।
भू-मण्डल में अमर रहोगे सर्वदा।
हरण-भाव का ही विनाश करते रहो।'[2]

आधुनिक युग की राष्ट्रीय भावना व व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना आलोच्य कालीन प्रबन्धकाव्यों में अनेक स्थलों पर अभिव्यक्त हुई है। 'तारक-वध' में इन विचारों को देखिए :—

'व्यक्ति-व्यक्ति में स्वतन्त्रता का भाव हो।
व्यक्ति-व्यक्ति में सत्य शक्ति का चाव हो।
नीच स्वार्थ से विकृत-बुद्धि कोई न हो।
राष्ट्र-स्वार्थ से विलग न अन्य प्रभाव हो।'[3]

महात्मा गांधी के 'रामराज्य' की कल्पना का साकार चित्र शृंगी ऋषि द्वारा तारकासुर को दिए गए उपदेश में अंकित है :—

'अपना नेता आप व्यक्ति ही हो सके।
आलोचना प्रकाश आप अपनी करे।
ऐसा राष्ट्र स्वतन्त्र, न राजा चाहिए।
क्यों वह भी स्वाधीन प्रकृति उसकी हरे?
सेना का क्या काम सभी सैनिक जहां?
राजदण्डधर व्यर्थ, न तस्कर एक भी।

कर देंगे सब काम बिना वेतन अधिक—
कर पाये वैतनिक जिसे न अनेक भी।
ऐसा दिव्य समाज बना पाओ अगर।
तारकाक्ष! पुरुषार्थ तुम्हारा हो अमर।'[1]

इस राजाविहीन समाज की विचारणा में साम्यवादी समाज की कल्पना की अन्तिम स्थिति की ओर भी संकेत देखा जा सकता है।

पंचायत-शासन व्यवस्था के द्वारा सत्ता का जो विकेन्द्रीकरण किया गया उसका भी कवियों के मानस पटल पर गहरा प्रभाव पड़ा है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना में पंचायती राज्य, पंचशील आदि तत्वों ने जो स्थान बनाया उसका स्वरूप 'रामराज्य' प्रबंधकाव्य की इन पंक्तियों में देखिए :—

'पंचों में परमेश्वर बसते पंचायती राज्य सुख छाये।
पाये थे पंचों ने ऐसे पंचशील के तत्त्व सुहाये।[2]

आधुनिक जन-मानस में साम्राज्यवाद के प्रति घृणा का वपन हुआ। भारत ने अंग्रेजों की साम्राज्यवादी लिप्सा का शिकार बनकर घोर कष्ट उठाए; इसी कारण साम्राज्यवाद के प्रति उसने विद्रोह का उद्घोष किया। इसी भावना को 'ऊर्मिला' में इस प्रकार व्यक्त किया गया है :—

'है साम्राज्य-वाद का नाशक,
दशरथ-नंदन राम सदा,
है भौतिकता-वाद विनाशक,
जन-मन-रंजन राम सदा।'[3]

गत दो विश्व युद्धों की लपेट में आकर विश्व ने महाविनाश का ताण्डव देखा एवं मानवता की रक्षा करने के लिए युद्ध निवारणार्थ संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म हुआ। दैत्यों और देवताओं के पारस्परिक युद्धों से उत्पन्न अशांति को दूर करने के लिए इसी प्रकार के संगठन की कल्पना 'प्रह्लाद विजय' में की गई है :—

'निश्चय हुआ सभी देशों को आमंत्रण भिजवाना;
एक जगह सब राष्ट्र-समूहों के प्रतिनिधि बुलाना।

---

१. वही, पृ० ५०२।
२. रामराज्य, पृ० १८८।
३. ऊर्मिला, सर्ग ६।३५।

o o o

o o o

भिन्न-भिन्न भाषा, आकृति वाले, विभिन्न देशों के;
भिन्न-भिन्न व्यवहारों वाले, भिन्न-भिन्न देशों के;
राज्य, प्रजा सबके प्रतिनिधि, विद्वान, वीर, व्यवसायी;
सबने मिल कर विश्व-शान्ति की नूतन नीति बनाई।'[1]

देश विभाजन के फलस्वरूप सम्प्रदायकवाद की वीभत्स राजनीति ने निरीह जनता पर भयानक अत्याचार किए। विश्व के इतिहास में ऐसी अमानवीय घटना की मिसाल मिलना कठिन है। संवेदनशील कवि-हृदय मानवता पर हुए इन अत्याचारों से सिहर उठा। उसकी लेखनी शान्त न रह सकी और उसके हृदय की ज्वाला इस प्रकार उबल पड़ी :—

'ठहरा जा, रुकजा इधर आ।
और इतने में गंडासा—
काट गर्दन एक वृद्धा की हंसा, फिर और दौड़ा।
हाय। वह शिशु,
दांत तक जिसके अभी निकले नहीं हैं,
मां जिसे डर से लगा कर दूध मुंह में है चुवाती,
दैत्य-सा यह कौन शिशु को छीन कतले कर रहा है,
नग्न कर मासूम अबला को,
पोटरों से खेलता, धिक्कार इसको।

o o o o

o o o o

ये दया से हीन, हिंसक पशु बहुत इनसे भले हैं,
हाय। बेशर्मी ढके आंगे खड़ी हैं,
और ये निर्लज्जम अपनी बहिन-बेटी और मांओं को सताते,
हाय रे अज्ञान इनका, बुद्धि इनकी भ्रष्ट बिल्कुल,
ये हृदय से हीन पत्थर है।'[2]

इसी प्रकार 'जननायक' में इस भीषण हत्याकाण्ड पर कवि के संतप्त उद्गार निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुए हैं :—

---

१. प्रह्लादविजय, पृ० ११५-११६।
२. मानवेन्द्र, पृ० ४८०।

'इस सती साधना सुकुमारी, बंगालिन नारी को खींचा ।
फिर उसकी गोदी के शिशु को–दो सख्त मुट्ठियों ने भींचा ।।
घुट गया वहीं दम बच्चे का, फिर खींच बीच से चीर दिया ।
फिर मां की आंखों के आगे-उसके बच्चे का खून पिया ।
यह देख रो पड़ी वेशर्मी, धरती की देवी चीख पड़ी ।
क्या तुम मनुष्य हो ? डूब मरो । रो रही आज मैं खड़ी खड़ी ।।'[1]

पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थियों की दयनीय स्थिति पर भी कवि का ध्यान गया है ।[2]

पंचशील में आस्था की ओट लेकर विश्वासघाती चीन ने भारत के उत्तरी सीमांचल पर आक्रमण किया । कवि की आहत वाणी पड़ोसी के इस विश्वासघात पर क्षुब्ध हो उठी । 'लोकायतन' में उसका आक्रोश इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है :—

'लो, सुनो, बजी रण–भेरी
हिम शृंगों को नादित कर,
दिग् ध्वनित हुआ जगती में
आक्रमण चीन का बर्बर ।

° ° ° °
° ° ° °

इतिहास रहेगा साक्षी
प्राचीन पड़ोसी, सहचर
सांस्कृतिक शिष्य भारत का
जन–रक्त पात को तत्पर ।'[3]

इस बर्बरता पूर्ण आक्रमण से देश की रक्षा के लिए सम्पूर्ण जनता हुंकार कर उठी । उसने अपना तन, मन, धन देश रक्षार्थ अर्पित कर दिया । योग्य सैनिक तैयार करने के लिए विद्यालयों में अनिवार्य सैनिक शिक्षा प्रारम्भ की गई । 'दमयन्ती' के कवि ने इसी से प्रेरणा लेकर निषध–राज्य में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का कथन किया है :—

---

१. जननायक, पृ० ४८३ ।
२. देखिये—जननायक, पृ० ५५०–५५१ ।
३. लोकायतन, पृ० १७५ ।

'सैनिक शिक्षा भी है अनिवार्य;
सभी गुरुकुल करते यह कार्य।'[1]

'दैत्यवंश' के स्कन्द राज्य में भी इस प्रकार की सैनिक शिक्षा की व्यवस्था का कवि ने वर्णन किया है :—

'खोले गुरुकुल अमित सवनि विद्या पढ़वाई,
सैनिक सिच्छा काज व्यवस्था सकल कराई।'[2]

स्वातंत्र्योत्तर काल में नेताओं की पदलिप्सा में वृद्धि हुई और स्वतंत्रता पूर्व के त्याग, उत्सर्ग, राष्ट्र-प्रेम आदि भावनाओं का सर्वथा लोप हो गया। सत्ता-प्राप्ति के लिए नेतागण पतन के निम्नतर स्तर पर उतर आये। उनमें बाह्याडंबर, मिथ्याचार, पाखंड, धूर्तता आदि दुर्गुणों का समावेश हो गया। 'लोकायतन' में 'पन्त' ने उनकी इस स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है:—

'बस राजा बने रहे हम—
मन इस चिन्ता से कातर,
हम देश प्रगति के बाधक
समझौतों के हित तत्पर।

० ० ०
० ० ०

चारित्रिक पतन न ऐसा
देखा इस भू ने भीषण,
मुट्ठी भर की सुविधा हित
पिसते निरीह अगणित जन।'[3]

कथानक ग्रहण किए हैं, किन्तु 'दैत्यवंश', 'रावण', 'दमयन्ती', 'कैकेयी', 'ऊर्मिला', 'प्रह्लाद विजय', 'तारकवध' आदि पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों को लेकर रचे गये प्रबन्धकाव्यों में वर्तमान-कालीन राजनीतिक घटनाओं, परिस्थितियों व विचारधाराओं का समावेश प्रयोगों की ओर संकेत करता है। आधुनिक युग प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति और विद्रोह की धारा के प्रवाह से व्याप्त होकर नवीन परिवर्तनों का उन्मेष करता है। राजनीतिक क्षेत्र में भी इसने नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया है। इस काल में रचे गए प्रबन्धकाव्यों में राजनीतिक विचारधारा के इस विषय प्रवाह का गहरा प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव कहीं परम्परा और कहीं प्रयोगों के रूप में दृष्टि-गोचर होता है।

सामाजिक स्थिति :—

ब्रिटिश शासन काल में भारतीय जनता में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, व निम्न वर्ग के रूप में नवीन सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। स्वतन्त्रता संग्राम में इन तीनों ही वर्गों ने अपने वर्ग हित के आधार पर भाग लिया। निम्न और मध्यम वर्गीय जनता ने देशहित को अपने वर्गगत हितों से अधिक महत्त्वपूर्ण समझ कर स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लिया, जबकि उच्च वर्ग ने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेते हुए भी अपने वैयक्तिक स्वार्थ को विशेष ध्यान में रखा।

स्वतन्त्रता आन्दोलन की अवधि में देश में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में नवीन जागरूक दृष्टि का उदय हुआ। समाज की कुरीतियों, रूढ़ियों व अन्धविश्वासों पर कठोर प्रहार किये गये। परतन्त्रता काल में जिन सामाजिक सुधारों का सूत्रपात हुआ था, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उन्हें भारत के जनतान्त्रिक संविधान में कानून का रूप दिया गया।

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति उन्नत करने और उन्हें पुरुष के समान अधिकार प्रदान कराने के लिए जो आन्दोलन चले थे, स्वतन्त्र भारत में आकर उन्हें भी मूर्त रूप मिला। स्त्रियां गृहस्थ के प्राकार से बाहर निकलीं, वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगीं तथा परदा-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह आदि के बन्धनों से मुक्त हुईं। 'हिन्दू-कोड-बिल' बनाकर स्त्रियों को संपत्ति व तलाक के नये अधिकार दिये गये।[1] इस प्रकार स्त्रियों की दशा में आमूल परिवर्तन उपस्थित हुआ।

---

१. हमारी दृष्टि में 'हिन्दू कोड बिल' केवल हिन्दू जनता के लिए ही न होकर समस्त भारतीय जनता के हितार्थ होता और उसमें धार्मिक भेदभाव को स्थान न दिया जाता तो अधिक अच्छा होता। एतत् सम्बन्धी बुराइयां तो सभी धर्मावलम्बियों में पाई जाती हैं।

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता की जिस समस्या से जीवन भर संघर्ष किया उसे संविधान में कानून बनाकर दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। अछूतों के जीवन को उन्नत बनाने के लिए अनेक कल्याणकारी योजनाओं का सूत्रपात किया गया। वर्ण व्यवस्था को देश की उन्नति में बाधक मानकर दूर करने की दिशा में प्रयत्न किये गये। अन्तर्जातीय व अन्तर्प्रान्तीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार देश के एकता सूत्र को दृढ़ करने के लिए दृढ़ कदम उठाये गये।

साम्प्रदायिकता को पूर्णतया विनाश करने की दृष्टि से भारत को 'धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र' घोषित किया गया। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि धर्मावलम्बियों को संविधान में समान नागरिकता के अधिकार प्रदान किये गये। समाज के पिछड़े वर्ग को उठाने के लिए सरकार ने अनेक कल्याणकारी योजनाएं प्रारम्भ की।

देश की बढ़ती हुई आबादी की समस्या ने भी राजनेताओं को गहरी चिन्ता उत्पन्न करदी। आबादी की वृद्धि रोकने के लिए "परिवार नियोजन" को प्रश्रय दिया गया। एतदर्थ भावी नागरिक जीवन को सुखी बनाने के लिए परिवार को सीमित करने का आन्दोलन चलाया गया। इन सभी सामाजिक स्थितियों का चित्रण आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में प्रभूत मात्रा में मिलता है।

नारी की इस दशा को देखकर कवि मानस विक्षुब्ध हो उठा उसने विद्रोहपूर्ण शब्दों में नारी को उद्‌बोधन करते हुए कहा :—

'नारी अपने को पहिचानो,
तुम ही तो भाग्य–विधात्री हो ।
तुम ही जीवन आधार–मूल,
तुम ही तो जग निर्मात्री हो ।'[1]

'लोकायतन' में पंत ने भी स्त्री की सामाजिक दुरवस्था पर बहुत विचार किया है। स्त्री को समाज में अत्यन्त निम्न स्थान की अधिकारिणी बनाकर पुरुष वर्ग ने उस पर मनमाना अत्याचार किया है। वैधव्य जीवन तो नारी के लिए नरक है। नारी के लिए ही विधवापन जैसी अवस्था समाज ने क्यों निर्मित करदी :—

'नहीं जानती वह क्यों स्त्री के
सिर पर कालिख सा विधवा पन,
बद्धदेह अर्पित समाज को,
मुक्त हृदय मन प्रभु का भाजन ।'[2]

परिवार में कन्या का जन्म ही अशुभ माना जाता है। दहेज-प्रथा के कारण लड़की का विवाह परिवार के लिए एक समस्या बन जाता है। समाज की इस विषम–अवस्था का अंकन करता हुआ कवि कहता है :—

'इसका मुख्य हेतु है यह ही
है समाज की विषम व्यवस्था ।
जिसके घर में कन्या उसकी
नहीं सुधरती कभी अवस्था
कपड़े आभूषण दहेज में
जीवन व्यर्थ चला जाता है
कन्या वाले को पग-पग पर
बारंबार छला जाता है ।'[3]

---

१. वही, पृ० १२४ ।

२. लोकायतन, पृ० ६७ ।

३. मौनं, पृ० २६ ।

नित–नूतन उपचार कराती ही रहती थी
विधि को शत शत बार हराती ही रहती थी ।'[1]

अंग्रेजी सभ्यता से युक्त होटलों में होने वाले 'वाल डांस' जैसे उत्तेजक नृत्य जिनमें स्त्री-पुरुष सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं भारतीय समाज में प्रचलित हो गए हैं :—

'मैं होटल में देख रहा हूं
'बाल' हो रहा झूम झूम रे
नयन बचाकर वे नर-नारी
लेते आपस चूम–चूम रे
फिर मदिरा पीते हैं मिलकर
नारी सतियां बन जाती हैं
पुरुष धर्म के अवतारों से,
सबमें तृप्ति उभर आती हैं ।'[2]

आधुनिक युग में मानवतावादी भावनाओं का उदय हुआ और दलितों, शोषितों तथा अछूतों के उन्नयन के लिए अथक प्रयत्न किये गये । काव्य पर भी इसका प्रभूत प्रभाव पड़ा है । 'एकलव्य' 'रश्मिरथी', 'अंगराज', 'सेनापति कर्ण' आदि प्रबन्धकाव्यों का तो निर्माण ही समाज के द्वारा पद-दलित चरित्रों को ऊपर उठाने के लिये ही किया गया है । 'एकलव्य' में निषाद-पुत्र एकलव्य को नायक बनाकर के पुरानी परम्परा पर आघात किया है और गांधीजी द्वारा चालित अछूतोद्धार को सबल समर्थन दिया है । 'एकलव्य' के निम्नलिखित कथन के युगों-युगों से अत्याचार सहन करते आने वाले शूद्र वर्ण के हृदय में उत्पन्न आक्रोश की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है :—

'हमने सहन की है वर्ग की विगर्हणा,
शूद्र कहलाते रहे सेवा-भाव मान के ।
किन्तु जब मानव को विद्या का निषेध हो,
बात क्या नहीं है क्रान्तिकारी बनजाने की ।'[3]

---

१. वही, सर्ग ६, पृ० २६६ ।

२. मेधावी, सर्ग १४, पृ० २४१ ।

३. एकलव्य, सर्ग १० ।

रंग भेद को लेकर गोरों द्वारा कालों पर किए जाने वाले अत्याचार भी आज का कवि प्रभावित हुआ है। रंग भेद की इस समस्या का निदान भारत की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में खोजता हुआ कवि 'रामराज्य' में कहता है:—

'गोरे काले लाल कि पीले जग के वासी,
समझें जातुर्वण्यं और होलें सुख रासी।'[1]

'दमयन्ती',[2] 'दैत्यवंश',[3] 'अंगराज',[4] आदि में क्रमशः निषधेश, राजा बलि, तथा कर्ण के राज्य-शासन का वर्णन है। इन प्रसंगों में अनिवार्य शिक्षा एवं शिक्षा प्रसार, स्वास्थ्य-रक्षा-विभाग, औषधालय, सर्वोदय, अछूतोद्धार तथा ग्राम-सुधार के वर्णनों पर वर्तमान कालीन समाज कल्याणकारी योजनाओं व गांधी-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रकार के वर्णनों में प्राचीन परम्परा का युगानुकूल विकास दृष्टिगत होता है।

आज देश में भाषा-समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। भारतीय संविधान में हिन्दी-भाषा को राष्ट्र-भाषा घोषित किया जा चुका है; किन्तु अभी तक उसे उसका गौरवपूर्ण स्थान नहीं मिल पा रहा है। लोकायतनकार ने सिरी के द्वारा 'केन्द्र' के संचालन का समस्त कार्य हिन्दी में ही करवा करके भाषा-समस्या के समाधान की ओर संकेत किया है :—

'हिन्दी ही में सिरी केन्द्र का
भरसक नित्य करती संचालन।'[5]

जनसंख्या वृद्धि भी आज देश के सामने चिन्ताजनक समस्या बन चुकी है। 'परिवार नियोजन' के द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या को नियंत्रित करने के प्रयत्न प्रगतन किए जा रहे हैं। 'लोकायतन' में कवि ने सहज संयम द्वारा 'परिवार नियोजन' को श्रेयस्कर माना है :—

'मानव कुटुंब के अवयव सब
वे शुभ्र प्रेम की थे संतति,

परिवार–नियोजन स्वतः सिद्ध
संयम पावन थी जीवन गति ।'[1]

इस प्रकार आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में समसामयिक सामाजिक स्थिति परम्परा व प्रयोग दोनों ही पद्धतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं।

आर्थिक स्थिति :—

स्वतन्त्रता से पूर्व ही विदेशी शोषण के फलस्वरूप देश की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। भारतीय जनता तिहरे शोषण सामन्ती, पूंजीवादी और विदेशी का शिकार थी। आर्थिक विषमता दिन पर दिन बढ़ रही थी। पूंजीवादी सांचे में समाज ढ़लता जा रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में स्वतंत्रता के साथ-साथ देश के विभाजन ने हमारी आर्थिक स्थिति को और भी झकझोर दिया। देश के महत्त्वपूर्ण उपजाऊ प्रान्त पूर्वी-बंगाल, पंजाब, सिंध आदि प्रदेशों से भारत को हाथ धोने पड़े। शरणार्थियों के आवास व रोजगार की समस्या को हल करने में सरकारी आर्थिक शक्तियों का अनपेक्षित व्यय हुआ। देश की सुरक्षा के लिए तीन चार हुए अप्रत्याशित आक्रमणों का साहसपूर्वक सामना करने में पर्याप्त धनराशि व्यय करनी पड़ी। बढ़ती हुई जनसंख्या और खाद्यान्न की समस्या ने देश की आर्थिक स्थिति को और भी डांवाडोल कर दिया।

विदेशी पूंजी और माल का स्वच्छन्द स्वागत करने से इस देश की आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती थी। अतः आर्थिक असमानता को कम करने के लिये तथा उत्पादन की वृद्धि के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाई गई। समाजवादी आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'विनोबा' जी द्वारा भूदान और सर्वोदय आन्दोलन चलाये गये। सरकार ने अनेक प्रकार के नए–नए कर लगाकर पूंजीपतियों की सर्वग्रासिनी शक्ति को ध्वस्त करने का प्रयास किया। अनेक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया। बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए सरकार ने अनेक नई योजनाएं बनाई तथा नए-नए कारखाने खोलकर विविध प्रकार के उद्योगों का विस्तार किया। कृषि के क्षेत्र में भी उत्पादन की वृद्धि के लिए सहकारिता को प्रोत्साहन दिया गया, तथा अनेक बांध बांधे गए और वैज्ञानिक खाद, औजार आदि के साथ आर्थिक सहायता भी कृषकों तक पहुंचने की व्यवस्था की गई।

---

१. लोकायतन, पृ० ६५३।

भारतीय सरकार ने देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए बहु-विध उपाय किए—प्रत्येक वर्ष नए-नए कर लगाये, स्वदेश और विदेशों से कर्ज लिया तथा कम-वित्त नीति को अपनाकर अधिक से अधिक नोट छापकर प्रसारित किये, किन्तु इन सब उपायों के करने पर भी अभिलषित मात्रा में आर्थिक स्थिति का सुधार असंभव रहा। वर्तमान आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि राष्ट्रीय आय में कुछ वृद्धि हुई है, किन्तु वैयक्तिक अवस्था दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है। आज के मानव की भौतिक आवश्यकताएं 'सुरसा के वदन' की भांति निरन्तर बढ़ती ही जा रही है, और साथ ही उनकी प्राप्ति के साधनों के अभाव ने उसमें अनेक मानसिक कुंठाएं उत्पन्न करदी हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश की जनतांत्रिक शासन व्यवस्था को सफल और सुदृढ़ बनाने के लिए समाजवादी अर्थ-व्यवस्था स्थापित करने का लक्ष्य सामने रखा गया है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था (जिसमें धनी और अधिक धनी तथा गरीब और अधिक गरीब होते जाते हैं) का घोर विरोध किया गया और उसे अपदस्थ करने के लिए एवं देश में समता व स्वतन्त्रता के प्रसार हेतु लोकतांत्रिक समाजवाद का ही लक्ष्य सम्मुख रखा गया। श्रम के महत्त्व को समझकर मजदूर और किसान वर्ग के हितों पर अधिकाधिक ध्यान दिया गया, उन्हें विशेष सुविधाएं प्रदान की गई। इन सब आर्थिक समस्याओं का अंकन आलोच्य कालीन प्रबन्धकाव्यों में भी दृष्टिगत होता है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में व्यक्त आर्थिक स्थिति :—

वर्तमान काल में बढ़ते हुए पूंजीवाद ने विश्व की आर्थिक स्थिति बड़ी विषमतापूर्ण बनादी। बड़ी-बड़ी मशीनों व कारखानों की स्थापना से पूंजीवाद को बढ़ावा मिला और मजदूरों का शोषण प्रारम्भ हुआ। आलोच्य-कालीन प्रबन्धकाव्यों में समाज में व्याप्त इस विषय (आर्थिक स्थिति) का भी प्रभूत चित्रण हुआ है। 'तारकवध' में विशाल मशीन यन्त्रों की स्थापना और उनके द्वारा श्रमिकों के शोषण का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :—

'नगर मध्य विकराल यंत्र थे प्रबल प्रचालित।
अर्थ पिशाच-अनंत अवारित लिप्सा-पालित।
यंत्र-मूल्य से श्रमिक मूल्य घटकर पाता था।
मरने ही के हेतु विवश उनमें जाता था।'[1]

---

१. तारकवध, सर्ग ९, पृ० २६१।

यन्त्रों की स्थापना से धन का एक जगह एकत्रीकरण हुआ और पूंजीवाद बढ़ता गया। पूंजीवाद के द्वारा सामान्य जनता पर लाई हुई विपत्ति का अंकन 'तारकवध' में भलीभांति देखा जा सकता है।[1] पूंजीवाद आर्थिक व्यवस्था के विरोध में तारकासुर को कहे हुए शृंगी ऋषि के निम्न कथन में साम्यवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है :—

'पूंजीवाद महान विषैला विषधर राजन्।
घातक उसका दंश प्राण–जीवन--हर राजन्।
कुचलो उसका शीश प्रगति सब उसकी रोको।
अगति-गर्त्त में लोक वृंद को व्यर्थ न झोंको।'[2]

'युगस्रष्टा : प्रेमचन्द' में साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होकर कवि ने समाज में व्याप्त विषम आर्थिक व्यवस्था तथा पूंजीपतियों के विलास-पूर्ण और निर्धन श्रमिकों के दयनीय जीवन में वैषम्य का चित्र निम्न पंक्तियों में अंकित किया है :—

'एक ओर फूलों की शय्या,
चांदी का व्यापार मनोहर।
स्वर्णाभूषण में ललनाएं,
सुरा-पात्र देती हैं भर-भर।
और दूसरी ओर धरा है,
खाने को दो ग्रास नहीं हैं।
तन की लज्जा ढक रखने को,
फटे वसन भी पास नहीं हैं।'[3]

पूंजीवाद के इस अभिशाप से मानव-समाज को बचाने के लिए महात्मा गांधी ने गृह-उद्योगों पर विशेष बल दिया। बड़े-बड़े कारखानों के द्वारा नष्ट गृह-उद्योगों में लगे हुए कारीगरों में फैलायी गयी बेकारी का निराकरण करने के लिए पुनः गृह-उद्योगों की ओर लौट चलने का संदेश दिया और इन कार्य को मूर्त रूप देने के लिए जन-जन में खादी का प्रचार किया। परिणामतः तकली, चर्खा, करघा आदि का प्रचलन हुआ, घर-घर में अनेक लघु-

---

१. तारकवध, सर्ग १८, पृ० ५०३।
२. वही, पृ० ५०४।
३. युगस्रष्टा प्रेमचन्द, सर्ग ४, पृ० ६०।

उद्योगों का विकास हुआ। 'लोकायतन' में कवि ने गृह-उद्योगों के इस प्रचार-प्रसार का चित्र इन पंक्तियों द्वारा चित्रित किया है —

'हरि ने तकली, चरखे, करघे
जुटा, सिरी-कर से संचालित
खोला गृह उद्योग शिविर था,
स्त्री जनके जीवन विकास हित।'[1]

'दैत्यवंश' के स्कन्द के राज्य में आधुनिक युग की ग्राम सुधार योजना प्रतिफलित हुई दिखलाई पड़ती है। स्कन्द ने अपने राज्य में कृषि उन्नति के लिए नहरें बनवाई, सहकारी समितियां स्थापित कीं—

'कृषि विभाग को अमित सम्पन्न बनायो
अरु सहकारी कोष खोलि उन्नति करवायो।'[2]

अन्न के क्षेत्र में देश को आत्म-निर्भर बनाने के लिए सरकार ने कृषि की उन्नति पर बल दिया। कृषकों को कृषि की आवश्यकतानुसार ऋण प्रदान किये गये। सिंचाई की समस्या को दूर करने के लिए ग्राम-ग्राम में कुओं पर बिजली लगाने की व्यवस्था की गई। 'भूमिजा' में इन सबका अंकन इस प्रकार किया गया है :—

कृषि से मिली, समाई कृषि में
अब तुम कृषि को सींचो।
पानी में बिजली रहती है,
मन्थन करके खींचो॥
स्वर से पूजा बहुत हो चुकी
श्रम के महल उठाओ।
हर डाकू दाता बन जायें,
इतना अन्न लुटाओ।[3]

पौराणिक काल में पानी से बिजली उत्पन्न करने के कथन पर आधुनिक विज्ञान का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार 'अंगराज',[4] में

१. लोकायतन, पृ० ६७।
२. दैत्यवंश, सर्ग १८, पृ० २५५।
३. भूमिजा, पृ० १४१।
४ देखिए—अंगराज, सर्ग ३।

कर्ण के शासन में, 'दमयन्ती'[1] में निषधेश के शासन में तथा 'दैत्यवंश'[2] में राजा बलि के शासन में सहकारिता, कृषि पर बल, सिंचाई की सुचारु व्यवस्था, किसान एवं मजदूरों के प्रति सहानुभूति तथा ग्राम सुधार के वर्णनों पर आधुनिक युग के आर्थिक विचारों का प्रभाव है। लोकायतनकार ने आधुनिक सरकार की आर्थिक नीति की असफलता का अंकन अपने काव्य में इस प्रकार किया है :—

'ऋण पर्वत कंधों पर धर
कैसे उठता जीवन स्तर
तीसरी योजना चलती—
जन-भू हड्डी का पंजर।
संचित समस्त युग संपद्
धनपतियों में मुट्ठी भर,
अब मध्य निम्न वर्गों के
जन निर्धन से निर्धन तर
गत नाप तोल मुद्राएं
बदलीं, पुर पंथ पुरातन,
बदली न दृष्टि चेतनता,
बदले न मूल्य, मत, चिन्तन।'[3]

कवि ने देश की आर्थिक स्थिति का यथार्थ चित्र खींचा है। जब तक आर्थिक चिंतन पद्धति नहीं बदली जावेगी, तब तक पंचवर्षीय योजनाओं में सुधार होना कठिन है। इसलिये कवि कहता है :—

'जन श्रम ही सच्ची संपद्
वैज्ञानिक युग-का घोषण,
प्रेरणा शून्य यदि नू मन
निष्फल विकास आयोजन।'[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में समसामयिक युग की आर्थिक विचारधाराओं का स्पष्ट चित्रण है। गांधीवादी आर्थिक योजनाओं का बहुत अधिक प्रभाव इन काव्य ग्रन्थों में मिलता है।

---

१. दमयन्ती, सर्ग २।
२. दैत्यवंश, सर्ग २।
३. लोकायतन, पृ० १९७।
४. वही पृ० १९७।

चतुर वर्ण में धर्म राहित्य की स्थिति का चित्र देखिए —

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ने संयम नियम भुलाया ।
बढ़ती गयी उत्तरोत्तर ही उच्छृंखलता अविचल ।
मलिन हो चला जो उज्ज्वल था मलिन मलिनतर प्रतिपल ।
त्याग-त्याग ब्राह्मण ने छोड़ा क्षत्रि धर्म क्षत्रिय ने
दान वैश्य ने, भक्ति शूद्र ने तजा कर्म निज सबने ।
गौरव का आधार बनाया वर्ण-जन्म को केवल ।
नहीं संग ही उसके माना वर्ण-कर्म को सम्बल ।'[1]

समाज में घुसी हुई बुराइयों और अन्धविश्वास पर व्यंग भी यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं :—

'मृत शरीर के लिए दी गई,
बलि काले कौवे खाते हैं ?
मृतकार्पित मिष्ठान्न स्वर्ग तक
काले कुत्ते पहुंचाते हैं ।'[2]

तथा— ईश्वर के मन्दिर में वैश्या,
का नंगा नाच खराब नहीं,
क्या वे अछूत हैं पापी हैं
जिनके मुख पर कुछ आब नहीं ।'[3]

इसके अतिरिक्त वर्तमान युग के भ्रष्ट पाण्डे और पुरोहितों के पाखण्डपूर्ण चरित्र की भर्त्सना भी इन काव्यों में की गई है :—

'पुरोहित पंडे हो स्वार्थांध
अंध विश्वासों का बुन जाल
नरक में जन को गए ढकेल
देश को अंधकार में डाल ।
घृणित पाखंडों की कर सृष्टि
धर्म के ये लोभी वधकाल

---

२. वही, सर्ग १४, पृ० ४०२ ।
१. युगस्रष्टा:प्रेमचन्द, सर्ग २, पृ० २७ ।
३. वही, पृ० ६४ ।

वेच खा गए सत्य का दाय
खड़े कर कर्म कांड कंकाल ।'[1]

भारतीय चिन्तन में धर्म को कभी उस अर्थ में नहीं लिया गय अर्थ में उसका प्रयोग आज अधिकतर किया जाता है । तीय धर्म की कल्पना मानवीय कर्तव्यों की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित उसमें सम्प्रदायवाद की संकीर्णता के लिए स्थान नहीं था ।

आस्तिक व नास्तिक तथा वैदिक धर्मावलम्बी, जैन, बौद्ध आदि लिए हिन्दू धर्म में समान स्थान का अवकाश था । कालान्तर में भा विदेशियों के आक्रमण हुए । मुसलमानों के प्रवेश के साथ भारतीयों ने बार धर्म के उस कुत्सित रूप के दर्शन किए जो मानव-मानव को एक का शत्रु बना देता है । हिन्दू और मुसलमानों ने मजहबी मतभेदों को रखकर शताब्दियों तक जी-भर एक दूसरे का खून बहाया । अंग्रेजी शास स्थापना के पश्चात् दोनों का मतभेद कुछ क्षीण होने लगा क्योंकि दोन विदेशी दासता के पैरों के नीचे दबे मुक्ति पाने के लिए तड़प रहे थे । कूटनीतिज्ञों ने अपने शासन की जड़ों को मजबूत बनाने के लिए दो मतभेद की खाई को चौड़ा करना प्रारंभ किया । इसी के परिणामस्वरू १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ-साथ भारत को दो टुकड़ों में वि होना पड़ा । हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के निर्माण के साथ ही हिन्दू मुसलमानों में साम्प्रदायिक आग की आँधी उठ खड़ी हुई । दोनों एक के रक्त के प्यासे हो उठे । पूरे देश में भयानक रक्तपात मच गया । ध साम्प्रदायिकता के इस बर्बर हत्याकांड का चित्रण करते हुए 'मानवेन्द्र कवि ने लिखा है :—

'वह करुण इतिहास नोआखालियों का,
जुल्म कलियों पर यहाँ के मालियों का,
मन्दिरों को तोड़ना, मस्जिद गिराना,
धर्म कैसा धर्म, किसका धर्म है यह ।
राजनीतिक पापियों का कर्म है यह ।'[2]

इस सामूहिक नरमेध को देखकर राष्ट्रपिता महात्मागांधी की आ हाहाकार कर उठी । गांधी ने हिन्दू और मुसलमान दोनों से ही रक्तपा करने की प्रार्थना की :—

१. लोकायतन, पृ० ३१९ ।
२. मानवेन्द्र, पृ० ४८२ ।

'रक्तपात में क्या रक्खा है ? धर्म न कहते, कटो मरो तुम।
तुम मनुष्य हो, भूल सुधारो, सत्य प्रेम से सृजन करो तुम।।
मुझ बूढ़े की बात मान लो, मैं कहता हूं बात भले की।
पेड़ मधुर फल ही देते हैं, खा खा कर भी चोट ढले की।।'[1]

महात्मागांधी वस्तुतः धर्म के सच्चे उपदेष्टा थे। साम्प्रदायवाद से दूर उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान स्थान था। 'सब धर्मों का मूल एक है व सब धर्म सच्चे हैं'—उनका प्रिय सिद्धान्त था:—

'एक वाक्य में 'गीता' कहते, एक वाक्य में सब 'रामायण'
दुनियां बहती थी बहाव में, पर न बहे मेरे नारायण।।
मुसलमान से कहते थे वे—पहिले मैं, पीछे तुम मरना।
सब धर्मों का मूल एक है—ईश्वर की उपासना करना।।[2]

महात्मागांधी ने आधुनिक युग धर्म सम्बन्धी रूढ़िगत धारणाओं का परित्याग कर नवीन मानवतावादी धर्म की प्रतिष्ठा की है। सभी धर्मों के सत्तत्व ग्रहण कर अपनी धार्मिक दृष्टि को उदार और विस्तीर्ण बनने का संदेश गांधी की वाणी में मिलता है। आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। 'वर्द्धमान' में कवि ने दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नायों में ही नहीं, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म में भी सामन्जस्य बैठाने का प्रयत्न किया है।[3] आधुनिक युग में विज्ञान की उन्नति ने भी धर्म के अतिप्राकृतिक तत्वों को मानव के विश्वासपटल से हटाने का कार्य किया है। आज का मानव स्वर्ग और नरक की स्थिति पृथ्वी पर ही मानता है :—

'इसी जग में हो जाये स्वर्ग
इसी जग में मानव हो देव।'[4]

वस्तुतः आज का धर्म मानव में देवत्व की प्रतिष्ठा में ही अपनी सार्थकता मानता है। 'पांचाली',[5] 'जयभारत',[6] 'सेनापति कर्ण'[7] 'कौन्तेयकथा',[8]

---

१. जननायक, पृ० ५५१।
२. जननायक, पृ० ५५२।
३. वर्द्धमान, पृ० १७।
४. मेघाची, पृ० १२४७।
५. पांचाली, पृ० ४४-४६।
६. जयभारत, पृ० २३५।
७. सेनापति कर्ण, पृ० ३८।
८. कौन्तेयकथा, पृ० ३०।

भौतिकवादी दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक–दर्शन की मान्यताओं को आश्रय मिला है। वेद-विविहत कर्मकाण्ड हिंसा आदि का विरोध हुआ है। जैन और बौद्ध दर्शनों के अहिंसा जीव, दया, करुणा आदि सद्गुणों को ग्रहण किया गया है। आस्तिक दर्शनों में अद्वैतवादी विचारधारा के प्रति विशेष आकर्षण बढ़ा दृष्टिगत होता है। जीवन और ब्रह्म की एकता के रूप में मनुष्य के हृदय में ईश्वर की स्थिति के विचार को बल मिला है। अद्वैतवाद के 'जीवो-ब्रह्मैव नापरः 'अयमात्माब्रह्म', 'अहंब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि सिद्धान्तों में आधुनिक युग की मानवतावादी विचारधारा के समर्थन के संकेत प्राप्त किये गये हैं। मानव को परमात्मा के समकक्ष रखकर देखने की भावना को उपर्युक्त उक्तियों से बहुत सन्तोष मिला है। वैशेषिक एवं न्याय-दर्शनों का अणुसिद्धान्त भी आज के वैज्ञानिक युग में प्रवेश कर गया है। आधुनिक बौद्धिक विचार-धारा पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। भौतिकवादी दर्शन पद्धति के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ महात्मा गांधी के विचारों के माध्यम से टालसटाय का मानवतावादी दृष्टिकोण भी समादृत हुआ है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में व्यक्त दार्शनिक विचार :—

स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्धकाव्यों में उपर्युक्त दार्शनिक मान्यताओं की स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति हुई है। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि काव्य में दर्शन के शुष्क दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए स्थान नहीं होता। काव्य कवि की भावात्मक स्थिति को व्यक्त करता है, उसमें दार्शनिक चिन्तन की शुष्कता का समावेश उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए काव्य में दर्शन, दर्शन के रूप में प्रतिपादित न होकर भावों के आकार-निर्माण में अपना योग देता हुआ अवतरित होता है। आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में युगजीवन के अंतर्गत हम परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं एवं नवीन प्रयोगों की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं और न ही हम दार्शनिक सूत्रों की ऐतिहासिक पीठिका ही प्रस्तुत करना चाहते हैं; हमारा अभिप्रेत तो आलोच्य प्रबन्धों में उन दार्शनिक विचार सूत्रों का अन्वेषण है, जिन्होंने युग जीवन के निर्माण में अपना योग दिया है।

आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में कोई भी ऐसा प्रबन्धकाव्य नहीं है, जिसको दार्शनिक दृष्टि से किसी वर्ग विशेष में समाविष्ट किया जा सके। उनमें कहीं आस्तिक दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है तो कहीं नास्तिक की।

आस्तिक दर्शन :—

आस्तिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन सर्व प्रमुख माना जाता है। वेदांत दर्शन की अनेक शाखायें हैं जिनमें अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि प्रमुख हैं। अद्वैतवादी विचारधारा आज की बौद्धिकता के अधिक अनुकूल होने के कारण अधिक अभिव्यक्ति पा सकी है। 'लोकायतन' में अद्वैतवाद के 'ब्रह्म-सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' सिद्धान्त को इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है :—

'ब्रह्म ही जगत, प्रपंच निमित
ब्रह्म ही उपादान, आधार,
जागतिक जीवन ब्रह्म-विवर्त
ब्रह्म ही स्थूल सूक्ष्म का सार।
वस्तुमय रूप सगुण सोपाधि,
ब्रह्म आत्मा, पर, नित्य स्वरूप,
ज्ञेय ज्ञाता या ज्ञान अनन्य,—
सगुण निर्गुण, बहुरूप अरूप।'[१]

'वाणाम्बरी' में भी ऐसे ही भाव निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुए हैं :—

'परमात्म आत्म-अस्तित्व अमर।
दृश्यालिंगा सत्ता नश्वर॥'[२]

'जयभारत',[३] 'अंगराज',[४] 'रश्मिरथी',[५] 'आत्मजयी',[६] 'कौन्तेयकथा',[७] 'दमयन्ती',[८] 'सेनापति कर्ण',[९] आदि में अद्वैतवादी विचारधारा की यत्र-तत्र झलक देखी जा सकती है।

---

१. लोकायतन, पृ० ३२८।
२. वाणाम्बरी, पृ० ३७६।
३. जयभारत पृ० १४८,२६७.२६६,३०१,३६४,३६७।
४. अंगराज, पृ० ७,८,१०६,२६५।
५. रश्मिरथी, पृ० २६,२७,२८,३१,३२,४८।
६. आत्मजयी, पृ० ८३।
७. कौन्तेयकथा, पृ० ७२।
८. दमयन्ती, पृ० १६०।
९. सेनापति कर्ण, पृ० ३१,३२,४०,४१।

मीमांसा-दर्शन जो कि एक वस्तुवादी दर्शन है और वेदों के अपौरुषेयत्व में विश्वास करता है, कर्म को प्रमुख मानकर चलता है। ईश्वर की सत्ता को व्यर्थ मानते हुए इसमें कर्म को ही जीवन की गतिविधियों का नियन्ता माना गया है। 'लोकायतन' में मीमांसा के उक्त सिद्धान्तों का इस प्रकार प्रणयन किया है:—

'वेद भगवत् मुख के विश्वास
नित्य वे स्वतः प्रमाण अनादि।
० ० ० ०
कर्म बन्धन संचय कर क्षीण
मुक्त होती आत्मा अविकार।'[1]

न्याय और वैशेषिक भी समान तन्त्र माने जाते हैं। न्याय में प्रमाण मीमांसा और वैशेषिक में पदार्थ-मीमांसा को प्रमुखता दी गई है। निम्नलिखित पंक्तियों में इन दर्शनों के सिद्धान्तों की विवेचना की गई है:—

सूक्ष्मतम जड़ परमाणु स्वरूप
निखिल जड़ जग जिनका संयोग।
दुखमय नाम रूप का विश्व
न संभव यहां नित्य सुख भोग।।
मूल में सत्तृति के अज्ञान
मोक्ष कारक ध्रुव तात्विक ज्ञान
सहज पूरक वैशेषिक-न्याय-
तत्त्व दर्शन के दृढ़ सोपान।[2]

नास्तिक दर्शन :—

इन आस्तिक दर्शनों के साथ-साथ आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों का भी प्रभाव प्रभूत मात्रा में पाया जाता है। चार्वाक दर्शन भौतिक सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता है और आत्मा, पुनर्जन्म, ईश्वर आदि में विश्वास नहीं करता।[3] इसकी इन मान्यताओं की अभिव्यक्ति 'जयभारत' के निम्नांकित शब्दों में देखी जा सकती है:—

---

१. वही, पृ० ३२७।
२. वही, पृ० ३२५।
३. या वज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।
—माधवाचार्य : सर्वदर्शन संग्रह, चार्वाक, पृ० ३।

'रहने दो यह ज्ञान-ध्यान ग्रन्थों की बातें,
फिर-फिर आती नहीं सुयौवन की दिन रातें ।
करिये सुख से वही काम, जो हो मन माना,
क्या होगा मरणोपरान्त, किसने यह जाना ?'[१]

जैन-दर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष के सात तत्त्व माने गए हैं ।[२] जब तक जीवन की ओर कर्मास्रव होता रहता है, तब तक जीव मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता । 'वर्द्धमान' में जैन-दर्शन की इन मान्यताओं की अभिव्यक्ति हुई है ।[३] जैन दर्शन में सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र इन त्रिरत्नों को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है ।[४] 'वर्द्धमान' में इसी सिद्धान्त को इस प्रकार कहा गया है :—

'अमोघ रत्न-त्रय के प्रभाव से
अवाप्त होती वह मुक्ति जीव को
अनन्त-आनन्द-समुद्र-रूपिणी
प्रसिद्ध है जो जिन-धर्म-शास्त्र में ।'[५]

बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद, दुःखवाद और शून्यवाद की विचारधाराएं भी आलोच्य प्रबन्धकाव्यों में व्यक्त हुई हैं । 'मीरां' प्रबन्धकाव्य में दुःखवाद की भावना[६] इस प्रकार व्यंजित हुई है :—

'उसको कुछ ऐसा हुआ ज्ञात,
इस मर्त्य लोक में तो केवल दुःख ही दुःख है, आघात घात ।'[७]

---

१. जयभारत, पृ० २६५ ।

२. "जीवाजीवास्रवबन्ध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्वम् ।"
—तत्वार्थ सूत्र, १,४ ।

३. वर्द्धमान, सर्ग १३।६३–७१ ।

४. तत्वार्थ सूत्र, १।१ ।

५. वर्द्धमान, १३।३० ।

६. "दुःख समुदाय निरोध मार्गाश्चत्वार आर्य बुद्धस्याभिमता नितत्वानि तत्र दुःखं प्रसिद्धम् ।"—माधवाचार्य : सर्वदर्शन संग्रह, बौद्ध दर्शन अनु. २८ ।

७. मीरां,

सत्य होगा न कल्पना मूर्ख
न होगा माध्यम बना गुलाम ।।'

० ० ०

'इसी जग में हो जाये स्वर्ग
इसी जग में मानव हो देव ।[1]

इस प्रकार आलोच्यकाल के आस्तिक दर्शनों की विचारधाराओं के साथ-साथ नास्तिक दर्शनों की मान्यताओं की भी उपेक्षा नहीं की गई है। वस्तुतः आधुनिक युग किसी निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त को लेकर काव्य रचना में प्रवृत्त होने का नहीं है। पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव से आधुनिक भारतीय जीवन में चिन्तन के दृष्टिकोण को नई दिशाएं मिली हैं। टालसटाय की मानवतावादी विचारधारा एवं मार्क्स की भौतिकवादी विचार पद्धति का प्रभाव आधुनिक भारतीय चिंतन पर गहरा पड़ा है। आस्तिक और नास्तिक दोनों ही चिन्तन प्रणालियां इससे प्रभावित हुई हैं और दोनों एक दूसरे के अधिक निकट आ गई हैं। फ्रायड और मार्क्स की यौनवाद एवं भौतिक अर्थवाद जैसी विचारधाराओं ने भी भारतीय जनमानस में गम्भीर परिवर्तन उपस्थित कर दिए हैं। आलोच्य प्रबन्धकार उक्त सभी विचारधाराओं को समन्वित रूप से उपस्थित करने की ओर क उन्मुख रहे हैं।

आलोच्यकाल का कवि अध्यात्मवादी या दार्शनिक नहीं है। आज का कवि विचारक है, उसके विचार-चिन्तन की सीमा व्यक्त जीवन और प्रत्यक्ष जगत् है। यद्यपि आज के भौतिकवादी दृष्टिकोण ने ईश्वर के प्रति आस्था को झकझोर दिया है तथापि तद्विषयक जिज्ञासा किसी न किसी रूप में आलोच्य ग्रन्थों में अभिव्यक्त अवश्य हुई है। प्रत्यक्ष जगत् के परे जो कुछ अदृष्ट सत्ता है, उसके प्रति आज का कवि दार्शनिक तर्क-वितर्क में नहीं उलझता। भारतीय तत्त्व-चिन्तन जीवनानुभूति की नवीनता को सर्वदा धारण करता रहा है और मानव की चिर संघर्षशील परिस्थितियों में उसका विकास-

---

1. मेधावी, पृ० २४७।

क्रम घटित होता रहा है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन परोक्ष सत्ता में ही केन्द्रित नहीं हुआ, उसने सामाजिक जीवन–विकास की अनेक परिस्थितियों पर सम्यक् विचार भी किया है।

समग्र रूप से हम कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में समसामयिक युग की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा का परम्परागत व प्रयोगगत दोनों ही रूपों में अंकन हुआ है।

उपसंहार

'एकलव्य' अंगराज', 'वर्द्धमान', 'रावण','दैत्यवंश','प्रह्लाद-विजय', 'रश्मिरथी', 'कौन्तेयकथा', 'सेनापति कर्ण', 'उर्वशी' आदि अनेक रचनाओं में जहां एक ओर भारतीय दर्शन की प्राचीन परम्पराओं का आकलन मिलता है, वहां दूसरी ओर युगजीवन के विविध चित्र-आधुनिक युग की क्रान्ति, सत्याग्रह, दमन, सहकारिता, अनिवार्य शिक्षा, सैनिक शिक्षा, स्त्रियों का राजनीति में प्रवेश आदि का नवीन रूपों में सुन्दर अंकन मिलता है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आधुनिक युग के प्रारंभ के साथ ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे परिवर्तन उपस्थित हो जाने के कारण कवियों द्वारा जिन प्रयोगों और उद्भावनाओं का सूत्रपात किया गया था वे स्वातन्त्र्योत्तर काल तक आते-आते पूर्ण विकसित रूप प्राप्त कर गई थीं। अर्थात् स्वतन्त्रता से पूर्ववर्ती काल में जो परम्पराएं साध्यमान अवस्था में (प्रयोग रूप में) थीं वे यहाँ तक आते जाते सिद्धावस्था को प्राप्त हो गयीं। साथ ही नव्यता की भावना, युग के नवोन्मेष आदि के कारण प्रयोग भी कहीं सतर्कता से और कहीं सहजभाव से समाविष्ट कर लिये गये या हो गये। यही कारण है कि 'मेघावी', 'विक्रमादित्य', 'दैत्यवंश', 'रावण', 'तारकवध', 'पाषाणी', 'विष्णुप्रिया', 'कैकेयी', 'ऋतंवरा', 'तप्तगृह', 'अनंग', 'ज्योति-पुरुष', 'संशय की एक रात', 'लोकायतन' आदि प्रबन्धकाव्यों में परंपरा और प्रयोग सहज या व्यवस्थित रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

ग्रन्थ-सूची

१० | ग्रन्थ-सूची

आलोच्य प्रबन्धकाव्य

नाम	रचयिता
अंगराज	आनन्द कुमार
अन्धायुग	डा० धर्मवीर भारती
अनंग	पुत्तुलाल शुक्ल 'चन्द्राकार'
अमृत-पुत्र	सियारामशरण गुप्त
अग्निपथ	अनूप शर्मा
अग्नियान	शशिभूषण पाण्डेय
आत्मजयी	कुंवर नारायण
उर्वशी	रामधारीसिंह 'दिनकर'
ऊर्मिला	बालकृष्णशर्मा 'नवीन'
ऋतंवरा	केदारनाथमिश्र 'प्रभात'
एकलव्य	डा० रामकुमार वर्मा
कचदेवयानी	रामचन्द्र
कनुप्रिया	धर्मवीर 'भारती'
कर्ण	केदारनाथमिश्र 'प्रभात'
कामिनी	नरेन्द्र शर्मा
कूबरी	श्यामनारायण अग्रवाल
कैकेयी	केदारनाथमिश्र 'प्रभात'
कैकेयी	शेषमणि शर्मा
कौन्तेय-कथा	उदयशंकर भट्ट
[illegible]	गिरिजाशंकर शुक्ल 'गिरीश'
गुरुदक्षिणा	विनोदचन्द्र पाण्डेय
गोरा-वध	श्यामनारायण पाण्डेय
चन्देरी का जौहर	आनन्द मिश्र
जगदालोक	ठाकुर गोपालशरण सिंह
जननायक	रघुवीरशरण मिश्र

जयभारत	मैथिलीशरण गुप्त
ज्योति-पुरुष	रघुवीरशरण 'मित्र'
झांसी की रानी	श्यामनारायण प्रसाद
,, ,, ,,	आनन्द मिश्र
तप्तगृह	केदारनाथमिश्र 'प्रभात'
तारकवध	गिरिजादत्तशुक्ल 'गिरीश'
तात्याटोपे	लक्ष्मीनारायण कुशवाहा
तुमुल	श्यामनारायण पाण्डेय
दमयन्ती	ताराचन्द 'हारीत'
दशानन	कैलाश विद्रोही
दानवीर-कर्ण	गुरु पद्म मेमवाल
देवयानी	वासुदेव
देवार्चन	श्री करील
दैत्यवंश	हरदयालु सिंह
द्रोण	रामगोपाल रुद्र
द्रौपदी	नरेन्द्र शर्मा
नन्दीग्राम काव्य	गयाप्रसाद द्विवेदी
पार्वती	डा० रामानन्दतिवारी 'भारतीयनंदन'
पाषाणी	शरणबिहारी गोस्वामी
पांचाली	रांगेयराघव
प्रताप	रणवीरसिंह
प्रयाण	गिरिजाशंकर 'गिरीश'
प्रह्लादविजय	विजयसिंह 'पथिक'
प्रेम-विजय	सेठ गोविन्ददास
बाणाम्बरी	रामावतार 'अरुण'
भूमिजा	रघुवीरशरण 'मित्र'
भोजराज	रामाशंकर शुक्ल
मानवेन्द्र	रघुवीरशरण 'मित्र'
मीरा	परमेश्वर द्विरेफ
मेधावी	डा० रांगेयराघव
युगस्रष्टा प्रेमचन्द	परमेश्वर द्विरेफ
युद्ध	मैथिलीशरण गुप्त

ावली	हरिप्रसाद 'हरि'
्मिरथी	रामधारीसिंह 'दिनकर'
ावण	हरदयालुसिंह
ामकथा कल्पलता	नित्यानन्द शास्त्री
ामराज्य	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
ोकायतन	सुमित्रानन्दन पंत
्द्धमान	अनूप शर्मा
ानस्थली	नाथूलाल अग्निहोत्री
वेक्रमादित्य	गुरु भक्तसिंह
वेदुलोपाख्यान	श्री भगवतीशरण चतुर्वेदी
विष्णुप्रिया	मैथिलीशरण गुप्त
शकुन्तला	भगवानदास शास्त्री
शल्यवध	उग्रनारायण मिश्र
सती-सावित्री	गोपाल श्रोत्रिय
सदाशिव चरितामृत	विष्णुदत्त मिश्र
संशय की एक रात	नरेश मेहता
सन्धि-सन्देश	कवि किंकर
सरदार भगतसिंह	श्री कृष्ण 'सरल'
सावित्री	गौरीशंकर मिश्र
सारथी	रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
सेनापति कर्ण	लक्ष्मीनारायण मिश्र
हनुमत चरित	रणवीर सिंह
हिडिम्बा	मैथिलीशरण गुप्त

सहायक-ग्रन्थ

हिन्दी

अनुसन्धान और आलोचना	डा० नगेन्द्र
अरस्तू का काव्य-शास्त्र	डा० नगेन्द्र (सम्पादक)
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग	डा० गोपालदत्त सारस्वत
आधुनिक साहित्य	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आधुनिक काव्यधारा	डा० केसरीनारायण शुक्ल
आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत	डा० केसरीनारायण शुक्ल
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	,, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
आधुनिक हिन्दी साहित्य	,, रामगोपालसिंह चौहान
आलोचना इतिहास और सिद्धान्त	एस० पी० खत्री
आधुनिक समीक्षा	डा० देवराज
आलोचक की आस्था	,, नगेन्द्र
आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार	डा० रांगेयराघव
आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली	डा० रांगेयराघव
आधुनिक हिन्दी कविता	डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
आधुनिक महाकाव्य	डा० गोविन्दराम शर्मा
आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प विधान	डा० श्यामनन्दन किशोर
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	डा० रामविलास शर्मा
आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां	डा० नामवरसिंह
आधुनिक हिन्दी साहित्य पर एक दृष्टि	प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त
आधुनिक हिन्दी साहित्य, भा० २	डा० नगेन्द्र और अज्ञेय
,, ,, कवियों के काव्य सिद्धान्त	डा० सुरेशचन्द्र गुप्त
आत्मनेपद	अज्ञेय
आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां	डा० नगेन्द्र
,, ,, ,, में छन्द योजना	डा० पुत्तूलाल शुक्ल
,, ,, ,, में रूप विधायें	डा० निर्मला जैन
,, ,, ,, में अलंकार विधान	जगदीशनारायण त्रिपाठी
कबीर एक विवेचन	डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
कबीर दर्शन	,, ,, ,, ,,
कविप्रिया	केशव
कवि निराला और राम की शक्ति पूजा	डा० हरिचरणलाल शर्मा

[illegible]

काव्य दर्पण	रामदहिन मिश्र
काव्य के रूप	डा० [illegible]
काव्य [illegible]	डा० [illegible] मिश्र
काव्य कला के मूल स्रोत और [illegible]	
[illegible]	डा० [illegible]
काव्य विमर्श	रामदहिन मिश्र
काव्य [illegible]	[illegible]
काव्य बिम्ब	डा० नगेन्द्र
काव्य [illegible]	[illegible]
कामायनी	" "
कामायनी अनुशीलन	[illegible] सिंह
कामायनी दर्शन	डा० कन्हैयालाल सहल और विजेन्द्र स्नातक
कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन	डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना
काव्य चिन्तन	डा० नगेन्द्र
काव्य और कला	[illegible] शर्मा
कामायनी के अध्ययन की समस्याएं	डा० नगेन्द्र
कुरुक्षेत्र	रामधारीसिंह 'दिनकर'
कृति और कृतिकार	डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
कृष्णकाव्य में भ्रमर-गीत	केशवनारायण सिंह
कृष्णायन	द्वारिका प्रसाद मिश्र
केशव एक अध्ययन	डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थ	विश्वम्भर मानव
गद्य-पथ	सुमित्रानन्दन पन्त
छायावाद का पतन	डा० देवराज
छायावाद के गौरव चिन्ह	श्रीपालसिंह 'क्षेम'
जनजीवन और साहित्य	श्रीपाद अमृत डांगे
जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल
दृष्टिकोण	विनयमोहन शर्मा
नया हिन्दी काव्य	शिवकुमार मिश्र
नया साहित्य: नये प्रश्न	नन्ददुलारे वाजपेयी
नया हिन्दी साहित्य	प्रकाशचन्द्र गुप्त

नयी समीक्षा	अमृत राय
नयी कविता के प्रतिमान	लक्ष्मीकान्त वर्मा
नया हिन्दी काव्य और विवेचना	डा० शम्भुनाथ चतुर्वेदी
निराला	डा० रामविलास शर्मा
पल्लव	सुमित्रानन्दन पंत
प्रगतिशील साहित्य के मापदण्ड	डा० रांगेयराघव
प्रगति और परम्परा	डा० रामविलास शर्मा
प्रगतिशील साहित्य की समीक्षाएं	डा० रामविलास शर्मा
प्रगतिवाद	,, ,, ,,
प्रकृति और काव्य	डा० रघुवंश
पृथ्वीराज रासो	चन्दवरदाई
प्राचीन साहित्य	रविन्द्रनाथ ठाकुर
पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त	लीलाधर गुप्त
प्रियप्रवास	हरिऔध
बिखरे फूल	डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरु
बीसवीं शती के महाकाव्य	डा० प्रतिपाल सिंह
भक्ति दर्शन	डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरु
भारतीय प्रेमाख्यान काव्य	डा० हरिकान्त श्रीवास्तव
भारतीय साहित्य शास्त्र	डा० बलदेव उपाध्याय
भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा	डा० नगेन्द्र
भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका	डा० नगेन्द्र
भावकण	डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरु
भाषा साहित्य और संस्कृति	डा० रामविलास शर्मा
भाषा और संवेदना	डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी
महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबंध-काव्यों पर प्रभाव	डा० विनय
महादेवी वर्मा	श्रीमती शचीरानी गुर्टू
मानव मूल्य और साहित्य	डा० धर्मवीर 'भारती'
मिट्टी की ओर	रामधारीसिंह 'दिनकर'
मूल्य और मूल्यांकन	डा० रामरतन भटनागर
मेघनाद वध	रविन्द्रनाथ ठाकुर (अनुदित)

... कवि और

साहित्य सहचर	" "
सिद्धान्त और अध्ययन	डा० गुलाबराय
सिद्धान्त और समीक्षा	डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
सूरसागर सूरदास	सूरदास
हमारी साहित्यिक समस्याएं	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग	डा० शंकरदेव अवतरे
हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा	डा० रामाधार शर्मा
हिन्दी साहित्य की बीसवीं शताब्दी	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास	डा० शम्भूनाथ सिंह
हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव	डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
हिन्दी साहित्य कोश—भाग १	सम्पादक : डा० धीरेन्द्र वर्मा
" " " " २	" " "
हिन्दी कविता में युगान्तर	डा० सुधीन्द्र
हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा	राम अवध द्विवेदी
हिन्दी नवलेखन	रामस्वरूप चतुर्वेदी
हिन्दी साहित्य	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास प्रथम—भाग	सम्पादक : राजबलि पाण्डेय
हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास षष्ठ—भाग	सम्पादक : डा० नगेन्द्र
हिन्दी काव्यालंकार सूत्र	" " "
हिन्दी का उद्भव और विकास	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	किशोरीलाल गुप्त
हिन्दी वीर काव्य	डा० टीकमसिंह तोमर
हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां	प्रो० शिवकुमार शर्मा
हिन्दी साहित्य में हास्य-रस	डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी
हिन्दी अलंकार साहित्य	डा० ओमप्रकाश
हिन्दी छन्द प्रकाश	रघुनन्दन शास्त्री

नाट्य-शास्त्र	भरत मुनि
नैषध-चरित	श्रीहर्ष
महाभारत	वेदव्यास
रसगंगाधर	जगन्नाथ पण्डितराज
रघुवंश	कालिदास
वक्रोक्ति जीवितम्	कुन्तक
वाल्मीकि रामायण	वाल्मीकि
वृत्त रत्नाकर	केदार भट्ट
शिवपुराण	वेदव्यास
शिशुपालवध	माघ
सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य
साहित्य-दर्पण	आचार्य विश्वनाथ
सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित
श्रीमद्भागवतगीता	गीताप्रेस गोरखपुर
श्रीमद्भागवतपुराण	" "
हर्षचरित	बाणभट्ट

अंग्रेजी

इंग्लिश एपिक्स एण्ड हिरोइक पोइट्री	डब्लू० एम० डिक्सन
एनसाइक्लोपीडिया आफ सोसियल साइंस	
एपिक एण्ड रोमान्स	डब्लू० पी० केर
एप्रीसिएसनस	वाल्टर पेटर
ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर	दास गुप्ता
कन्वेन्सन एण्ड रिवोल्ट इन पोइट्री	जानलिविंग्स्टन
दी क्लैसीकल ट्रेडीशन इन पोयट्री	गिल्बर्ट मरे
दी एपिक : एन एसे	एल० एबरक्रोम्बी
दी इंग्लिश एपिक एण्ड इट्स बैकग्राउण्ड	ई० एम० डब्लू० टिलयार्ड
दी स्टाइल इज दी मैन	जी० के० चेस्टरस्टोन
प्रिन्सिपल्स आफ पोइट्री	सी० एम० गेले
[illegible] इमेज	सी० डी० लेविज
[illegible] वर्जिल टू मिल्टन	सी० एम० बावरा
[illegible]र्न पोयट्री	लुई मैकनीस
[illegible]लैक्टेड प्रोज : ड्रैडन	डी० एस० डनियट्स, एडिटेड बाई जान हैवार्ड

पत्र-पत्रिकायें

अजन्ता	आजकल	आलोचना
इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इंडिया		कल्याण
धर्मयुग	कल्पना	नागरी-प्रचारिणी पत्रिका
माध्यम	नवनीत	सरस्वती
साप्ताहिक हिन्दुस्तान	लहर	हिन्दी अनुशीलन
हंस	साहित्य-संदेश	ज्ञानोदय